ISSN 0373-1200

फरवरी-मार्च

1995 अंक

मूल्य : 6 रु०
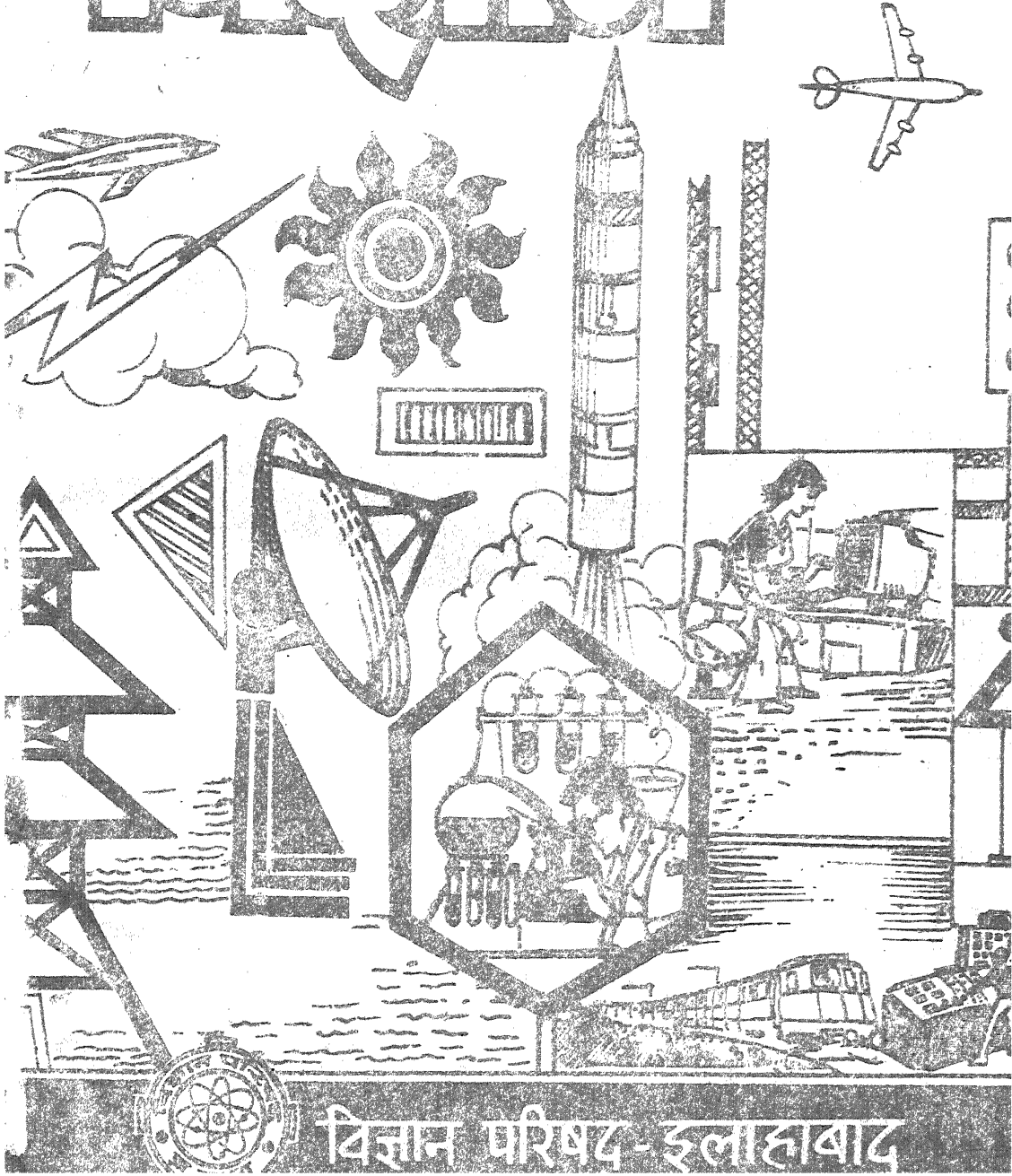
विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
फवररी-मार्च 1995; वर्ष 80 अंक 11-12

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०, वार्षिक : 25 रु

एक प्रति : 3 रु 50 पैसे
इस अंक का मूल्य : 6 रु०

विज्ञान विस्तार

कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली के आर्थिक अनुदान द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक	सम्पादक	मुद्रक	सम्पर्क
डॉ० डी डी नौटियाल	प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव	अरुण राय	विज्ञान परिषद्
प्रधानमंत्री	सहायक संपादक	प्रसाद मुद्रणालय	महर्षि दयानन्द मार्ग
विज्ञान परिषद् प्रयाग	डॉ० दिनेश मणि	7 बेली एवेन्यू, इलाहाबाद	इलाहाबाद-211002

मरुस्थलीय जीव-जन्तु

डॉ॰ सुशीला राय

मरुस्थल का नाम सुनते ही राजस्थान की एक अलग तसवीर उभर कर सामने आती है कि यहां का वातावरण शुष्क होगा। पानी खारा एवं कम मात्रा में उपलब्ध होगा तथा दूर-दूर तक हरियाली का नामोनिशान भी न होगा आदि आदि। लेकिम यहां के इस प्राकृत्कि वातावरणीय अभाव में भी पशु-पक्षियों, जीव-जन्तुओं और कीट-पतिंगों की एक ऐसी विचित्र दुनिया निवास करती है, जो हमें आश्चर्यचकित किए बगैर नहीं रहती।

यह राज्य विषम भौगोलिक एवं जलवायु परिस्थितियों और न्यूनतम वन क्षेत्र के होते हुए भी कुछ प्राकृतिक विशेषताएं एवं विविधताएं संजोए हुए है जैसा कि देश के अन्य राज्यों तथा विश्व के कई देशों में नहीं है। यही वजह है कि विश्व प्रर्यटन मानचित्र पर यहां के वन्य जीवों का पर्यटन के क्षेत्र में अलग पहचान है। भारतीय मरुस्थल देश के लगभग 12 फ़ीसदी भौगोलिक क्षेत्र में स्थित है, जिसका करीब 285, 680 वर्गकिलोमीटर भू-भाग गुजरात, राजस्थान, पंजाब एवं हरियाणा राज्यों में फैला है। राजस्थान हमारे देश का एक मात्र ऐसा राज्य है, जयां पानी व वनस्पतियों के अभाव के बावजूद भी यहां महत्वपूर्ण एवं दुर्लभ जीव-जन्तु एवं पक्षियों के लिए न केवल जलचरों, नभचरों और थलचरों के प्राकृतिक आवासों को अभयारण्य बनाया गया है बल्कि जैविक विविधता को बनाए रखने के लिए पारिस्थितिकीय परिक्षेत्र का संरक्षण भी किया जा रहा है। जहां नभचरों के लिए केवलादेव, जयसमंद, रामसागर आदि अभयारण्य हैं, वहीं जलचरों के लिए चम्बल नदी, राष्ट्रीय उद्यान और थलचरों के लिए वन्य जीव अभयारण्य हैं। मरुस्थलीय जीवों के लिए मरुराष्ट्रीय उद्यान हैं तो पर्वतीय प्रदेशों में विचरण करने वाले प्राणियों के लिए रणथम्भोर, सरिस्का, कुम्भलगढ़, माउंट-आबू आदि स्थान हैं। मैदानी क्षेत्रों में निवास करने वाले वन्यजीवों के लिए तालछप्पर, भरतपुर और 33 आखेट-निषिद्ध क्षेत्र भी बनाए गए हैं। इन अभयारण्यों एवं निषिद्ध क्षेत्रों के मध्यम से निरीह जानवरों के संरक्षण के प्रति जागरूकता पैदा कर प्राकृतिक संतुलन के लिए इनकी संख्या में वृद्धि द्वारा इनके अस्तित्व को निश्चित रूप से बनाए रख सकेंगे।

दुर्लभ पक्षी

मरुस्थल की शान, यहाँ पर पाए जाने वाले पक्षियों के कारण, काफी अनोखी है। तरह-तरह के सुन्दर व अद्भुत पक्षी यहाँ पर पाए जाते हैं। इनमें से मुख्य हैं—

1. गोडावण

देश का सबसे बड़ा यह सुन्दर पक्षी रेगिस्तान की शान है। इसे अंग्रेजी में ग्रेट इंडियन बस्टर्ड भी कहते हैं। एक समय था जब भारतवर्ष के कई भागों में गोडावण स्वच्छंद विचरण करता देखा जा सकता था। परन्तु अब

वैज्ञानिक ऑफीसर, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर-342011 (राजस्थान)

इसकी संख्या सीमित होने के साथ-साथ यह केवल पश्चिमी भाग, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक व मध्यप्रदेश के कुछ हिस्सों में ही रह गया है। इसकी संख्या को कम करने में शिकार के शौकीन अरब देशों के 'शेखों' का हाथ मुख्य रूप से रहा है। अब इस को पूर्णतया रक्षित पक्षी घोषित कर दिया है और राजस्थान सरकार ने तो इसे अपना 'राज्य पक्षी' बना लिया है।

वयस्क पक्षी की लंबाई 2 मीटर, ऊँचाई 1 मीटर तथा वजन लगभग 10 किलो तक होता है। इनका जीवनकाल 15 से 20 वर्ष तक होता है। इस पक्षी के शरीर का ऊपरी भाग कुछ भूरा तथा नीचे का सफेद होता है और सिर पर काले रंग की कलंगी तो इसकी सुन्दरता में चार चाँद लगा देती है। पंख चिकने होते हैं तथा चोंच कुछ पीलापन लिए मटमैली होती है। पैरों का रंग भी मटमैला होता है। पंजों में उंगलियां 'तीन' होती हैं, जिसके कारण पेड़ों पर नहीं बैठ सकता। ये स्वभावतया कांटे वाली झाड़ियों में 5 से 10 के झुंड में रहना पसंद करते हैं। इनका मुख्य भोजन रेगिस्तान में उगने वाले पौधों में केर, घास के बीज तथा छिपकली, सांप, टिड्डे आदि हैं। मादा पक्षी अपनी वंशवृद्धि के लिए अक्सर एक बार में एक ही अंडा देती है, परन्तु कभी-कभी दो अंडे भी देती देखी गई है। ये अधिक लंबी उड़ान नहीं भर सकते अत: आसमान में उड़ने की बजाय धरातल पर ही दौड़ना अधिक पसंद करते हैं। यह स्वाभाव से बड़ा शर्मिला पक्षी है और खतरे का जरा सा भी आभास होने पर तुरन्त अपना स्थान छोड़ देता है। इसकी वंशवृद्धि के लिए सतत् प्रयास किए जा रहे हैं।

2. तीतर या बटबड़

तीतर हल्के भूरे रंग का बहुत ही सुन्दर पक्षी होता है 133 से० मी० लम्बा मझोले आकार (कबूतर के बराबर) यह पक्षी खुले मैदान में रहना व विचरण करना पसंद करता है। घने जंगल या ऊँचे पहाड़ी इलाके इसे पसंद नहीं आते और संभवत: इसीलिए राजस्थान का रेगिस्तानी क्षेत्र इसका प्रमुख आवास स्थल है। इसके सारे शरीर पर लम्बाई में गहरी भूरी-सफेद बारीक धारियां होती हैं। चोंच छोटी तथा धूसर रंग की होती है। आँखें भूरी-लाल होती हैं और कण्ठ बादामी, जिसके तीन ओर 'यू' आकार की काली लाइन होती है। इसके ऊपरी हिस्सों का रंग गहरा भूरा लाली लिए हुए एवं पेट तथा सीना हल्के धूसर रंग के, पाँव गुलाबी, दुम छोटी तथा सिर पिन की भाँति पतला धूसर रंग का होता है। नर तथा मादा लगभग एक जैसे होते हैं। परन्तु नर मादा से थोड़ा बड़ा, अधिक मजबूत एवं लड़ाकू प्रकृति का होता हैं। इनके पंखों के नाखून मजबूत होते हैं तथा पंख छोटे एवं गोलाई लिए होते हैं, जिसके कारण ये अधिक लम्बी उडान नहीं भर पाते।

तीतर फेजिएनिडी कुल के पक्षी होते हैं, जिनमें फेजेन्ट्स, पार्टिज कवैल (बटेर) आदि सम्लिलित हैं। संसार मे इस कुल की लगभग 183 प्रजातियां हैं तथा भारत में लगभग 85 प्रजातियां पायी जाती हैं, जिनमें लगभग 12 प्रकार के तीतर सम्मिलित हैं। इसे अंग्रेजी में ग्रे पार्टिज, फ्रेकोलिनस पोन्डीसेरिएनस तथा हिन्दी में तीतर, वटबड़, भूरा तीतर, धूसर तीतर, राम तीतर आति नामों से पुकारते हैं। राजस्थान में काला तीतर या ब्लैक पार्टिज नामक तीतर भी पाया जाता है।

इसका मुख्य भोजन घास के बीज, बेर, पेड़ की नई कोंपलें, छोटे-छोटे कंकड़ हैं तथा दीमक, लार्वा, बीटल एवं फसलों के लिए हानिकारक अन्य कीड़े आदि उच्च प्राथमिकता पर होते हैं। इसीलिए इन्हें 'किसानों का मित्र' भी कहा जा सकता हैं। यह दिन में सिर्फ दो बार पानी पीता है—एक तो जल्दी सुबह अर्थात् सूर्योदय से पूर्व

तथा दूसरी बार सूरज छिपने के पहिले अर्थात् सूर्यास्त से पहिले। यह पानी पीने के लिए अपने मनपसन्द तालाबों व नदियों में दूर-दूर तक जाता है। यद्यपि दिन में ये भूमि पर विचरण करते हैं पर रात में आमतोर पर काँटेदार पेड़ों, झाड़ियों पर विश्राम करते हैं। इनका प्रजनन मुख्य रूप से मार्च एवं जुलाई माह के मध्य होता है। जमीन को मामूली कुरेद कर उसमें घास आदि जमाकर 4 से 8 अण्डे दिये जाते हैं जो कुछ लम्बे, नुकीले तथा क्रीम रंग के होते हैं। अंडों को लगभग 18-20 दिन तक केवल मादा तीतर ही सेती है तथा नर तीतर एक प्रकार से संतरी का कार्य कर अण्डा सेने में मदद पहुँचाता है। बच्चे निकलते ही चलने-फिरने लगते हैं, जिनको भोजन, सुरक्षा और भावी स्वतंत्र जीवन का प्रशिक्षण नर तथा मादा दोनों ही देते हैं। दुर्भाग्य है कि कुछ लोग इस सुन्दर पक्षी को दिल में स्थान देने के बजाय पेट में स्थान देना अधिक पसंद करते हैं। परन्तु राजस्थान सरकार द्वारा 1977 में इसके शिकार पर पूर्ण पाबन्दी लगाने के कारण इनकी संख्या में काफी वृद्धि हुई है।

जिस तरह मुर्गा अपनी प्रातः काल की 'बांग' के लिए प्रसिद्ध है, उसी तरह इसका रिश्तेदार होने के कारण तीतर भी प्रातः तथा संध्या में कई बार काफी तेज आवाज करता है। इसकी मुख्य आवाज 'पतीला-पतीला' होती है। जिके प्रारम्भ में यह धीरे-धीरे क्रे-क्रे-क्रे की आवाज करता है। मानों पहिले अपने आप को 'वार्म अप' कर रहा है। दूसरी मुख्य आवाज क्रे-क्रे-क्रे-क्रे, कुतरों-कुतरों की दूर से सुनाई देती है। आवाज देते समय यह अपना मुँह ऊपर की ओर रखता है। इसकी आवाज तेज होती है व आसानी से पहचानी जा सकती है, जो कई बार इसके खुद के लिए घातक सिद्ध होती है और शिकारी इसके पास तक आसानी से पहुँच जाता है। खतरे से बचने के लिए यह आमतौर पर दौड़कर एक झाड़ी से दूसरी झाड़ी में छुपता रहता है। बहुत आवश्यकता होने पर ही यह उड़ान भरता है, जो तेज तथा सीधी किन्तु छोटी होती है। यह कहा जाता है कि तीतर आमतौर पर तीन उड़ान में ही थक जाता हैं। शायद प्रकृति ने 200 ग्राम वजन वाले इस पक्षी की रचना में इसके परों को लम्बी उड़ान के लिए नहीं बनाया है।

कपासी

कपासी को कृष्ण पक्ष चील या मन्सुवा, अंग्रेजी में ब्लैकविन्ड काइट तथा वैज्ञानिक भाषा में **इलेनस सेरूलियस** कहते हैं। यह हमारे सबसे छोटे बाजों में से एक है। यह भी कबूतर के बराबर 35 सेंटीमीटर लम्बा, ऊपर से धूसर रंग तथा नीचे से कपास की तरह सफेद रंग का होता है। इसका सिर कुछ बड़ा होने के कारण 'उल्लू' सा लगता है। इसकी आँखें लाल रंग की होती हैं तथा आँखों के ऊपर काली लाइन होती हैं। चोंच आगे से काली तथा पीछे से पीली तीखी और एकदम नीचे की ओर मुड़ी होती है, जिससे यह आसानी से अपने शिकार की खाल उधेड़ सके और मांस को काट सके। इसकी पीठ और पंख राख के समान धूसर रंग के होते हैं। कंधों का रंग काला होता है। पंख तीखे तथा लम्बे होते हैं, जो छोटी पूँछ से भी कुछ पीछे तक एवं एक दूसरे के ऊपर निकले होते हैं। इसके सिरे काले होते हैं। सीना, पेट, एवं पूंछ सफेद होते हैं। पैर पीले, नाखून काले, लम्बे, तीखे एवं घुमावदार होते हैं, जो शिकार को पकड़ने तथा मारने के काम आते हैं। उड़ान भरते समय यह नीचे से सफेद तथा इसके पंखों के किनारे लगभग आधी लम्बाई तक काले दिखाई देते हैं। अवस्यक पक्षी नीचे से एकदम सफेद न होकर बहुत ही हल्के भूरे-धूसरपन लिए एवं आँखें भी लाल रंग की न होकर भूरी होती हैं।

यह एक्सीपिट्रिडी कुल का पक्षी है, जिसकी संसार में कुल 211, भारत में लगभग 80 तथा राजस्थान में 55 प्रजातियाँ पायी जाती हैं। इस कुल में व्हाइट ईगल, बजर्ड, हैरियर हॉक तथा वल्चर आदि होते हैं।

कपासी (ब्लैक विन्ड काइट) राजस्थान के लगभग सभी क्षेत्रों में पाया जाता है तथा आमतौर पर टेलीफोन, बिजली के खंभे, टी० वी० के एन्टिना या पेड़ की ऊंची टहनी पर अकेला बैठा देखा जा सकता है। वहाँ से दूर-दूर तक अपने शिकार को देख सकता है। कभी-कभी यह दोनों पंखों के बीच अपनी चोंच को दबाए बैठा रहता है तथा बीच-बीच में पूंछ को भी ऊपर उठाता रहता है। इसे झाड़ीदार मैदानी क्षेत्र, खेत-चरागाह या कम घने जंगलों में रहना अधिक पसंद है। शिकार की खोज में यह लगभग 10-20 मीटर तक की ऊँचाई पर उड़ता रहता है तथा कभी एक ही स्थान पर हवा में रुक भी जाता है। हमारे यहाँ पाए जाने वाले चीजों के अलावा इस प्रकार हवा में एक ही स्थान पर मंडराने (हावर) की क्षमता केवल दो अन्य पक्षियों-केस्ट्रल (कोरूटिया) जो कि लाल-भूरे रंग का होता है तथा शार्ट ईगल (साँप मार) में पाई जाती है। इसकी भोजन की सूची में चूहे, छिपकली, टिड्डी, विभिन्न प्रकार के कीट, छोटे सांप, मेढक तथा छोटे एवं बीमार अशक्त पक्षी होते हैं। आवाज हल्की तीखी किलकारी या सीटी की तरह होती है। इसका प्रजनन लगभग पूरे वर्ष ही होता है। यह अपना घोंसला नीम, खेजड़ी आदि के मध्य की शाखाओं में सूखी डंडियों आदि को एकत्रित कर कौए के घोंसले की तरह बनाता है, जिसमें अंदर की ओर घास, जड़ें आदि जमाई जाती हैं। 2 से 5 क्रीम रंग के अंडे दिए जाते हैं, जिन पर लाल-भूरी चित्तियां होती हैं। नर एवं मादा दोनों ही बच्चों के लालन-पालन की पूरी जिम्मेदारियाँ निभाते हैं।

4. हंजा या फ्लैमिंगो

हंजा को करंज के नाम से पुकारते हैं। कुछ प्रवासशील पक्षियों के लिए मरुस्थल का क्षेत्र स्वर्ग के समान है। गुजरात में कच्छ का रण करंज के लिए एक ऐसा ही स्थान है। यहाँ लाखों की तादाद में हंजे आते हैं। हंजों के प्रजनन का यह एशिया में सबसे बड़ा स्थल है। जब हजारों बच्चे अपने माता-पिता के साथ विचरण करते हैं तो मरुस्थल में यह रंगीन नजारा देखते ही बनता है। लम्बी टांगों वाले इस पक्षी की चोंच इस प्रकार मुड़ी होती है कि वह पैरों की सहायता से नीचे मुँह करके अपना भोजन ग्रहण करता हैं। इसका भोजन पौधों के बीज, कीड़े-मकोड़े आदि हैं। यह घोंसला कीचड़ की मिट्टी से बनाता है और ऐसा सुन्दर दिखता है मानो कुम्हार ने स्वयं गढ़ा हो। मादा करंज प्रजनन के दौरान वंश-वृद्धि के लिए एक या दो अंडे देती है। जब करंज आकाश में झुंड में उड़ते हैं तो अंग्रेजी के 'V' अक्षर के आकार बनाते हुए उड़ते हैं।

दुर्लभ जानवर

1. मोटर-गाड़ी की तेज रफ्तार में भी तेज दौड़ने वाला जंगली गधा

यह जंगली गधा मूलतः रेगिस्तानी क्षेत्र का निवासी माना जाता है। गुजरात राज्य के मरुस्थलीय क्षेत्र कच्छ के छोटा रण में मुख्यतया इनका डेरा होता है। यह अश्व समुदाय का सदस्य है। इस समुदाय के सदस्यों के पांवों में केवल एक खुर होता है।

यह पशु पालतू नहीं है। इसका कारण संभवतः इनका रेगिस्तान में पैदा होने वाली वनस्पति पर जीवित रहना और दूसरे इनके स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति का होना है।

यह रेगिस्तान प्रदेश का सर्वाधिक तेज धावक पशु है। इसकी रफ्तार 150 कि॰ मी॰ प्रति घंटे की है। किसी एम्बेस्डर या फियेट कार से भी अधिक तेज रफ्तार इस गधे की है। इसका मुख्य भोजन रेगिस्तान में पैदा होने वाली वनस्पति बीट्स है। यह एक ऐसी वनस्पति है जो भोजन के साथ-साथ कुछ हद तक पानी की पूर्ति भी कर देती है।

2. सान्डा (स्पाइनी टेल्ड लिजार्ड)

मरुस्थल में पाया जाने वाला यह एक मुख्य लिजार्ड (सरीसृप) है। यह मिट्टी में 4-5 फीट गहरा बिल बनाकर रहता है। इसका रंग हल्का भूरा होता है और इस कारण बालू के टीलों में आसानी से दिखाई नहीं देता। इसकी लम्बाई 1 फुट तक होती है। दुम छोटी परन्तु मोटी होती है, जिस पर काँटे (spines) होते हैं, जो बहुत ही खूबसूरत लगते हैं। यह अपनी रक्षा बड़ी चतुराई से दुम की सहायता से करता है। जब कोई दुश्मन इसके निकट आता है तो यह अपने बिल की ओर तुरन्त मुड़ जाता है और दुम से दुश्मन को पीछे हटा देता है। इसकी खाल एवं मांस की खातिर इसका अंधाधुंध शिकार किया गया है। अतएव इनके लुप्त होने का अंदेशा है। यह साधारणतया शाकाहारी होता है और छोटे-मोटे पौधों की पत्तियाँ आदि खाकर जीवित रहता है, परन्तु इसके बच्चे कीड़े-मकोड़े भी खाते हैं। इस दुर्लभ जानवर की दुम का मांस कई मांसाहारी व्यक्ति बहुत पसंद करते हैं।

चिंकारा (Black Buck)

विभिन्न प्रकार की जीव-जातियों में भारतीय हिरण सुन्दर एवं आकर्षक जानवर है। 'चिंकारा' की आँखें बहुत ही खूबसूरत होती हैं। इसी कारण जिस किसी स्त्री की आँखें बहुत सुन्दर होती हैं, उसे 'मृगनयनी' कहते हैं। अन्य हिरण प्रजातियों में 'चूहा हिरण' को छोड़ चिंकारा सबसे छोटा होता है एवं सुन्दरता में भी इसका स्थान 'कृष्णमृग' के बाद दूसरा है। इसके शरीर का बीच वाला भाग भूरा और कत्थई रंग का होता है और नीचे वाला भाग सफेद होता है। सिर में आँखों और नथुनों के बीच गहरी सफेद धारियाँ होती हैं। सघन बालों के गुच्छे के रूप में इसकी गहरे काले रंग की पूँछ घुटनों तक लटकी होती है। इनके सींग मजबूत और नुकीले होते हैं, जो मटमैले रंग के होते हैं। नर के सींग घुमावदार और मादा के सींग सीधे एवं छोटे होते हैं। शांति प्रिय जानवर होने के कारण चिंकारा अपना निवास कम घनत्व के खुले एवं पठारी क्षेत्रों में बनाता है। अपने निवास स्थान के चयन में चिंकारा घने जंगलों की समीपता को प्राथमिकता देता है ताकि दुश्मन के द्वारा हमला करने पर वह भागकर जंगली झाड़ियों या पेड़ों के झुरमुट में छिप सके।

चिंकारा हमेशा सावधान रहता है। थोड़ी सी आहट होने पर यह भागने लगता है। शाकाहारी होने के कारण इसका प्रमुख भोजन घास के अलावा गेहूँ, चने की फसल और झाड़ी के बेर जैसे जंगली फल भी इसका भोजन हैं। ये अक्सर 4-5 से लेकर 10-20 तक झुंड में रहते हैं। शिकारियों एवं शेरों के अलावा सर्वाधिक खतरा जंगली कुत्तों और जरख जैसे जानवरों से भी है। जंगली कुत्ता धोखे से इसका शिकार करता है। आसानी से पकड़ में आ जाने के कारण शिकारी तो अक्सर ही इसके पीछे पड़े रहते हैं, इस कारण चिंकारा धीरे-धीरे दुर्लभ प्रजातियों की श्रेणी में आता जा रहा है। पिछले कुछ अरसे से राष्ट्रीय उद्यानों एवं अभयारण्यों में सरकारी प्रयासों से इनके संरक्षण और विकास हेतु कठोर कदम उठाए जा रहे हैं। इससे उन्हें कुछ सुरक्षा मिली है। साथ ही भला हो यहाँ की

विश्नोई समुदाय की जिन्होंने इन्हें पूरा-पूरा संरक्षण प्रदान किया है। इसके कारण आज भी उस क्षेत्र में सैकड़ों की संख्या में चिंकारे स्वतंत्र रूप से विचरण करते देखे जा सकते हैं। फिर भी हिंसक मनोवृत्ति के मनुष्यों ने इसका पीछा नहीं छोड़ा। इनके अलावा जलवायु का बदलता परिवेश भी इनकी त्रासदी में सहायता हुआ है। मांसाहारी लोग इसका मांस बड़े चाव से खाते हैं। साथ ही कुछ लोग इसके भव्य सींगों से आकर्षित होकर भी इसका शिकार करते हैं।

यह मरुभूमि राजस्थान का 'राज्यपक्षी' घोषित किया जा चुका है। इसके शिकार पर पूर्णतः पाबन्दी लगा दी है तथा इसके विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है। रणथम्भौर, सरिका, राष्ट्रीय मरुउद्यान, तालाछापर, भालू अभयारण्य, वन-विहार दर्रा गौर जयसमन्द तथा कुछ अन्य स्थानों पर इसके संरक्षण की विशेष व्यवस्था की गई है।

4. काला हिरण (कृष्णासार)

विश्व में हिरण की अनेक प्रजातियाँ पायी जाती हैं जैसे-सांभर, कस्तूरी मृग, कृष्णमृग, चूहा हिरण, चिंकारा और हिमालयी हिरण। राजस्थान में चिंकारा एवं (काला हिरण या कृष्णासार) बहुतायत से मिलते हैं। ये सदैव 20-25 के झुंड में रहते हैं। किसी समय सैकड़ों के झुंड में स्वतंत्र विचरण करते थे, परन्तु इसके मांस एवं खाल के लिए निर्दयतापूर्ण शिकार के फलस्वरूप इनकी संख्या नगण्य रह गई है। यह 60 किलोमीटर प्रति घंटे की रफ्तार से दौड़ सकता है। इनका रंग काला व स[illegible] होता है। मादा हिरण के सींग होते तथा ये भूरे रंग के होते हैं।

यह पूर्णतः शाकाहारी प्राणी है और घास व अनाज की फसल इनका प्रमुख भोजन है। इनके प्रजनन का कोई विशेष समय नहीं एवं साधारणतया एक बार में एक ही बच्चा होता है।

5. रेगिस्तानी बिल्ली

इसके शरीर पर काले धब्बों की उपस्थिति के कारण इसे जंगली तथा घरेलू बिल्लियों से अलग पहचाना जा सकता है। इसकी दुम पर भी काली धारियाँ पड़ी होती हैं। इसकी खाल बहुत सुन्दर होती है, जिसके कारण इसका भी निर्दयतापूर्वक शिकार हो रहा है। अब तो यह बड़ी मुश्किल से दृष्टिगोचर होती है। इसका मुख्य भोजन जरबिल (चूहा) आदि रेगिस्तानी जीव हैं।

6. रेगिस्तानी चूहा

इसे अंग्रेजी में जारबोआ, जरबिल तथा हिन्दी में हरिण मूषक भी कहते हैं। यह विशेषतया रेगिस्तानी क्षेत्र में ही मिलता है। इसकी दुम पर काफी घने बाल होते हैं। इतने घने बाल अन्य चूहों की दुम पर नहीं होते। इसकी पिछली टांगें अन्य चूहों की तुलना में लम्बी होती हैं, जिस कारण यह हरिण की तरह छलांग भरता हुआ चलता है। इसका रंग पीलापन लिए होता है। यह लगभग 5 इंच लम्बा होता है। यह अपना बिल खुले मैदान में बनाता है, परन्तु कभी-कभी झाड़ियों में भी बना लेता है। नर व मादा चूहे अपने-अपने बिल अलग-अलग बनाते हैं,

और अलग-अलग बिलों में ही रहते हैं। इनका भोजन अनाज के दाने, पौधों की पत्तियाँ, जड़ें और खास किस्म की घासें आदि हैं। मादा चूहे साधारणतया एक साथ चार बच्चों को जन्म देती हैं, परन्तु कभी-कभी 8 बच्चे तक भी बिल में देखें गए हैं।

7. शियागोह या कराकल

यह बहुत ही सुन्दर मांसाहारी पशु है, जो किसी समय राजस्थान कच्छ, सिंध, बलूचिस्थान के रेगिस्तान क्षेत्रों में बहुतायत से मिलता था। आज तो इसके दर्शन भी दुर्लभ हैं। इसके कानों पर बालों का गुच्छा होता है। यह पेड़ पर चढ़कर पक्षियों के शिकार करने का बड़ा शौकीन है। यह हिरण के बच्चे, खरगोश तथा चूहे आदि का शिकार भी आसानी से करता है। इसकी प्रजनन क्रिया के बारे में कोई महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध नहीं है।

8 रेगिस्तानी पाटामोह

हल्के पीले व भूरे रंग का यह लिजार्ड केवल मरुस्थल क्षेत्र में ही मिलता है। इसकी लम्बाई 4 से 5 फुट तक होती है। यह अपना बिल मैदानी भाग में बनाता है। यह बंगाल मानीटर (गोह) की तरह चढ़ने में दक्ष नहीं होता है, परन्तु अपनी रक्षा अपनी दुम रूपी हथियार से करता है तथा अपने शिकार पर काबू कर लेता है। यह आसानी से जमीन पर तेजी से दौड़ सकता है तथा मिट्टी में गड्ढा बना सकता हैं। दीवार व पेड़ पर चढ़ सकता है और पानी में भी तैर सकता है। इसका मुख्य भोजन जरबिल, कीड़े-मकोड़े आदि हैं।

9. पीवणा या सिन्ध क्रेट

यह अत्यन्त जहरीले सर्पों में से एक है और अक्सर रेगिस्तानी क्षेत्रों में ही मिलता है। कहते हैं कि यह सोते हुए व्यक्ति के सीने पर बैठ जाता है और अपना मुँह आदमी की नाक के पास ले जाकर उसकी सांस खींचता है तथा अपनी जहरीली सांस आदमी की नाक में छोड़ता है। इस प्रकार सोते हुए व्यक्ति को काट पूंछ से फटकारता हुआ चला जाता है। इसीलिए इसे पीवणा साँप भी कहते हैं। वास्तव में यह जहरीले साँपों की तरह ही काटता है और अपना जहर मनुष्य के शरीर में पहुँचाता है। इसका मुख्य भोजन चूहे, जरबिल, अन्य जाति के छोटे साँप, छिपकली आदि हैं।

10. स्केल्ड वाइपर

यह मरुस्थल में सबसे अधिक संख्या में पाया जाता है। इसकी दिनचर्या रात्रि में शुरू होती है तथा दिन में बिल या झाड़ी में छुपा रहता है। यह 20 इंच लम्बा होता है तथा इसका सिर गर्दन व शरीर के अनुपात में काफी चौड़ा होता है। इसका मुख्य भोजन चूहे, जरबिल (जंगली चूहे), रेगिस्तानी मकड़ी, आदि हैं। इसका भी भविष्य खतरे में है, कारण इसकी चमड़ी भी सुन्दर पर्स, बेल्ट आदि बनाने में प्रयोग की जाती है।

11. ऊँट

धरती पर मौजूद तमाम स्तनपायी जानवरों में सबसे अनूठा है यह जानवर। देखने में भी अनूठा, प्रकृति में भी अनूठा और काम में भी अनूठा। वास्तव में बड़ा ही मासूम जानवर है। इसे रेगिस्तान का जहाज भी कहते

हैं। यह एक घंटे में 8 से 12 कि० मी० तक का फासला तय कर लेता है तथा एक दिन-रात में 100 से 150 कि० मी० तक का सफर आसानी से कर लेता है तथा 3 से 5 क्विंटल तक का वजन आराम से उठा रेतीलें टीलों पर चल लेता है। रेतीले टीलों पर ऊँटों का गढ़ है। यहाँ देश में उपलब्ध लगभग 12 लाख ऊँटों में से 9 लाख से भी अधिक ऊँट मिलते हैं। यह भारत की कुल आबादी का 70 फीसदी एवं संसार की ऊँट आबादी का कुल 17 फीसदी है।

ऊँटो की बंडोल सी कूबड़ ही इसे रेगिस्तान में लंबे समय तक बचाए रखती है, क्योंकि इसमें अतिरिक्त चर्बी भरी होती है। जब कुछ भी इसे खाने-पीने को नहीं मिलता तो यह चर्बी पिघल-पिघल कर भोजन एवं पानी की कमी को पूरा करती है और बेचारे ऊँट को जिंदा रखती है। यह मानना फिजूल है कि इसकी कूबड़ में पानी भरा होता है। परन्तु हाँ! जब भी पानी पीने के लिए सुलभ होता है उस समय इकट्ठा कई लीटर तक पी लेता है। यह लड़ाई के समय, रेगिस्तानी सफर में हर जगह साथ रहता है। ऊँट पूर्णतः शाकाहारी प्राणी है।

ऊँट को अच्छी तरह नहीं जानने वाले व्यक्ति चाहे इसे बेवकूफ बताएँ या कुरूप रेगिस्तान में जीने के सहारे का नाम है ऊँट। रेगिस्तान के बाशिंदे कहते भी हैं कि "ऊँट नीं व्है तो जीवणो बेकार" अर्थात् ऊँट के बगैर जिन्दगी बेकार है।

मनुष्य की लालची प्रवृत्ति से पशु-पक्षियों की संख्या में कमी आई है। लेकिन पिछले तीन दशकों से हमारे देश में पशु-पक्षियों के संरक्षण के प्रति थोड़ी जागरुकता बढ़ी है। प्राकृतिक संतुलन को बनाए रखने के लिए हम सभी का दायित्व है इनके अस्तित्व को प्राथमिकता देना।

जोंक एवं आधुनिक चिकित्सा

डॉ० राजीव रंजन उपाध्याय

जोंक का स्मरण मन में एक अजीब सा प्रभाव उत्पन्न करता है। यह प्रभाव घृणा के समीप अधिक, इस जीव के चिकित्सा में उपयोगी होन के गुण से कम संबद्ध होता हैं। परन्तु आज का आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान, प्राचीन भारत में दीर्घ काल तक व्यवहृत, इस जीव की चिकित्सा हेतु उपादेयता को, अब स्वीकार करने लगा है।

जोंक को संस्कृत में जलौका कहते हैं। यह नाम इसके वास-स्थान, जल से जुड़ा है। सामान्य भाषा में इसे जोंक तथा अंग्रेजी में 'लीच' अथवा 'हिरडूनेरिया' तथा जर्मन में 'ब्लूटेजेल' कहते हैं।

भारत के प्राचीन चिकित्सा-ग्रंथ-'सुश्रुत संहिता' में इस जीव के चिकित्सा विषयक विविध उपयोगों पर एक पूरा अध्याय है। महर्षि सुश्रुत के अनुसार, राजा, धनवान, बालक, वृद्ध, भीरू (डरपोक), दुर्बल, स्त्री, तथा कोमल देह वाले मनुष्यों के अनुग्रह हेतु दूषित रक्त को निकालने की परम सुकुमार विधि में इस जोंक का उपयोग करना बताया गया है ('सुश्रुत संहिता', सूत्र संस्थान, त्रयोदशोध्याय : 3)।

वैसे प्राचीन भारत में रक्त, जो कि दूषित और कष्ट कारक हो गया हो, को निकालने की विधियों में शस्त्र से शिरावेध, अथवा अलाबू या शृंग द्वारा (रक्त) निकालना, सामान्यतया, परन्तु सबसे सुकुमार एवं प्रभावी विधि जलोका द्वारा ही रक्त-निकालना माना गया है (परम सुकुमारो यं शोणिता. व सेवनो पायो मिहितो-जलौकसः सु० सं० 13,3)।

सर्वप्रथम जिस स्थान से रक्त निकालना होता था वहाँ प्रच्छित कर पतले वस्त्र से बाँध कर सींग अथवा शृंग को मुख में रख कर, चूषण कर रक्त निकालना चाहिए अथवा तुम्बी को दूषित स्थान पर रखकर गर्म कर के रक्त निकालने का विधान है। परन्तु जलोका (जोंक) का उपयोग सर्वोत्तम माना गया है।

रोगी के जिस स्थान पर जलौका लगाना होता था, सर्वप्रथम उस स्थान पर यदि अरुज (व्रण) न हो, तो मिट्टी और गोबर के चूर्ण को घिस कर, उसे रुक्ष कर, पकड़ी गयी जोंक के शरीर पर सरसों और हल्दी के कल्क को लगाकर उसे जलपात्र में एक मुहूर्त तक रखा जाता था। जब जोंक विगत-ग्लानि (भूखी) हो जाये तो उसे स्थान-विशेष पर रक्त-चूषण हेतु लगा दिया जाता था। उसको पतले गीले कपड़े से ढँक देने का भी निर्देश 'सुश्रुत-संहिता' में प्राप्त होता है। जब अशुद्ध रक्त चूषण समाप्त हो जाता है तो ("शोणित गन्धेन न मु चेन्मुखमस्याः सैन्धवचूर्णेनवाकिरेत।।) जोंक के मुख पर सैन्धव लवण छिड़क देने से, जोंक उस स्थान से रक्त चूषण बन्द कर देती है।

कैसर शोध संस्थान, परिसर कोठी काके बाबू, देवकाली मार्ग, फैजाबाद-224001 (उ० प्र०)

'सुश्रुत संहिता' में बारह प्रकार की जोंकों का वर्णन प्राप्य है। इनमें से 6 प्रकार-कृष्णा, कर्करा, अलगर्दा इन्द्रायुवा, और गोचन्दना, विषयुक्त होती हैं, तथा विषहीन जातियों में-कपिला, पिंगला, शंकुमुखी, मूषिका, पुण्डरीक-मुखी, और सावरिका हैं। विषयुक्त जातियों के लक्षण और उनके द्वारा काटने पर, मनुष्य को मूर्छा, जलन, दाह, ज्वर, वमन, और थकावट के उत्पन्न होने पर "महागद" नामक औषधि के प्रयोग से लाभ होने का वर्णन है।

संहिता में इन दोनों प्रकार की जातियों के वासस्थानों का भी विवरण है तथा जोंकों को किस प्रकार प्रवर्धित किया जाये इसका भी स्पष्ट निर्देश है।

जलौका द्वारा उत्पन्न व्रणों- घावों पर उपचार के महत्व को बताते हुये इनको शिरा, नेत्रपलक, स्तन शिश्न, वृषण आदि मृदु स्थानों पर न लगाने को कहा गया है। जलौका के उपयोग से दूषित ग्रन्थियाँ, अस्थिशोथ, कर्ण मस्तिष्क, मस्तिष्कावरण, यकृत और संधिशोथों पर लगाने से लाभ होता है। जलौका को कनपटी पर लगाने से शिरः शूल, गुदा के पास लगाने से अर्शजन्य वेदना बन्द हो जाती है।

जोंकों का उपयोग अब अधुनिक चिकित्सा-विज्ञान में पुनः प्रारम्भ हो गया है। इज़राइल के जेरूशलेम स्थिति हदासा मेडिकल केन्द्र के चिकित्सकों ने इन जलौकों अथवा जोंकों का कुछ अभिनव प्रयोग कान के पुनर्प्रत्या-रोपण में किया है।

एक 21 वर्षीय महिला का कान एक दुर्घटना में कट गया था। चिकित्सकों ने उसके कान को यद्यपि पुर्नस्थापित कर तो दिया, परन्तु कान की कुछ महीन शिराओं के न जुड़ पाने के कारण, महिला के कानों में सूजन बनी रही। ऐसी स्थिति में यह संभावना अधिक थी कि कान का बाह्य प्रभावित भाग ठीक से न जुड़ पाता। अतः जोंकों के प्रयोग का निश्चय हुआ।

उस महिला के कान के पृष्ठ भाग पर तीन जोंकें लगायी गयीं। रक्त चूषण के परिणामस्वरूप, जो कि बीस मिनट तक इन जोंकों द्वारा किया जाता था; उस महिला का कान और उसका शोथ सामान्य हो गया।

इजराइल के चिकित्सकों ने पैरों में ऑपरेशन के फलस्वरूप उत्पन्न शोथों को दूर करने में इन जलौकों का उपयोग कर आशातीत सफलता प्राप्त की है। उन लोगों ने यह भी दर्शाया कि इन जोंकों की लार में अनेक एन्टी-इनफ्लामेटोरी, वासोडायलेटर तथा कुछ एन्टीकागुलैन्ट्स एन्जाइम तथा एन्टी एन्जाइम पाये जाते हैं, जिनकी रसायनिक संरचना जानने के तथा उन्हें स्पष्ट करने के प्रयास चल रहे हैं।

ऐसी संभावना है कि उच्च रक्त चाप एवं ग्लूकोमा में भी जलौका (जोंकों) का उपयोग सहायक होगा। आज अनेक जैव-रसायनिक विधाओं और जैव-प्रौद्योगिकी के उपयोग से, निकट भविष्य, में ऐसी आशा है कि जलौका से नवीन और लाभकारी ओषधियाँ प्राप्त हो सकेंगी।

विज्ञान के लिए यह शोध, गौरव का विषय होगा तथा यही "विश्वामित्र सुतः श्रीमान सुश्रुतः परिपृच्छ-यति"। सु० सं० उ० तं० अ० 66) उक्ति को सार्थक करती भारतीय मनीषी, वैज्ञानिक, चिकित्सक महर्षि सुश्रुत के प्रति वास्तविक श्रद्धांजलि भी होगी।

■ ■

नम क्षेत्र संरक्षण

डॉ० सतीश कुमार शर्मा

प्रकृति में अनेक तरह के आवास विद्यमान हैं जैसे शुष्क क्षेत्र, कन्दरा क्षेत्र, पहाड़ी क्षेत्र, सागरीय आवास, नम क्षेत्र आवास आदि । प्रत्येक तरह के आवास में लाक्षणिक पेड़-पौधे तथा जीव-जन्तु जीवन यापन करते हैं। एक तरह के आवास में रहने वाले जीव-जन्तु व पेड़-पौधे दूसरे प्रकार के आवास में नहीं पनप सकते । अतः प्रत्येक आवास की प्रारूपिक वनस्पति तथा वन्य-जीव सम्पदा को तब तक नहीं बचाया जा सकता जब तक कि मूल आवास को सुरक्षित नहीं कर दिया जाये । आज समस्या सामान्य आवासों तथा उनमें पाये जाने वाले हजारों सूक्ष्म-आवासों को बचाने की है । मानव हस्तक्षेप के कारण मूल आवासों में तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं जिससे उन आवासों के निवासी पौधे और प्राणी भी विलुप्त हो रहे हैं।

यों तो अनेक प्रकार के आवासों में मानवीय हस्तक्षेप ही रहा है परन्तु नम (Wetlands) संभवतः सब से ज्यादा दुर्दिन देख रहे हैं । मीठे पानी एवं समुद्री जल के भराव वाले निचले भू-भाग नम क्षेत्रों का रूप धारण कर लेते हैं । इन नम क्षेत्रों में अनेक तरह की जलोदभिद् एवं उभयचारी वनस्पतियाँ हैं तथा अनेक तरह की मछलियाँ व अन्य जलीय जीव जातियाँ निवास करने लगती हैं । इन जीवों में जलीय-पक्षी महत्वपूर्ण हैं ।

नम क्षेत्रों का महत्व

नम क्षेत्र प्रकृति के खजाने हैं जिनसे मनुष्य बहुत कुछ प्राप्त करता है एवं कर सकता है । इनका न केवल आर्थिक, सांस्कृतिक व वैज्ञानिक क्षेत्रों में बल्कि मनोविनोद हेतु भी बड़ा उपयोग होता है । नम क्षेत्रों के जलाशयों से मछलियाँ व अन्य भोज्य जीव पकड़े जाते हैं, जिनसे न केवल रोजगार के साधन उपलब्ध होते हैं अपितु मनुष्य को प्रोटीनयुक्त सस्ता भोजन भी प्राप्त होता है । नम क्षेत्र न केवल बाढ़ तथा मृदा-क्षरण को नियन्त्रित करते हैं अपितु रिसाव द्वारा आस-पास के क्षेत्र की जल आपूर्ति कर भू-गर्भीय जलस्तर को ऊँचा रखते हैं । नम क्षेत्र जैविक फिल्टर की तरह कार्य करते हैं तथा पोषक खनिजों का पुनर्भरण संपादित करते हैं । समुद्री तटों पर स्थित नम क्षेत्र समुद्री तूफानों के सामने एक "बफर" की तरह विद्यमान रहते हैं तथा उनकी तीव्रता को कम कर उनकी विनाशक क्षमता को काफी कम कर देते हैं ।

नम क्षेत्रों से जलाऊ तथा इमारती लकड़ी से लेकर चारा आदि भी प्राप्त होते हैं । नम क्षेत्रों में रहने वाले जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, अनेक प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष लाभ मानवता को प्रदान करते हैं । अनेक जीव-जन्तु तो इन्हीं नम क्षेत्रों में प्रजनन कर अपनी संख्या बनाये रखते हैं ।

नम क्षेत्रों का ट्यूरिज्म, फोटोग्राफी, तथा फिल्म उद्योग की दृष्टि से भी कोई कम महत्व नहीं है ।

क्षेत्रीय वन अधिकारी, अरावली वृक्षारोपण परियोजना, झाडोल (फ०)-313702, उदयपुर (राजस्थान)

नम क्षेत्रों का विनाश

धीरे-धीरे, लेकिन लगातार, विश्व के नम क्षेत्रों के स्वरूप में परिवर्तन होता जा रहा है। मनुष्यों एवं पालतू पशुओं की बढती जनसंख्या, घरेलू तथा औद्योगिक अपशिष्टों से प्रदूषित पानी आज हमारे नम क्षेत्रों को निर्जीव बनाते जा रहे हैं। कृषि कार्यों में अतिशय मात्रा में पानी लिये जाने के कारण अनेक नम क्षेत्रों व उनके जलाशय सूखे का शिकार हो रहे हैं। कई बार तो इन नम क्षेत्रों का उपयोग किन्हीं अन्य कार्यों में भी किया जाने लगा है, जिससे इनके स्वरूप में परिवर्तन होने लगते हैं। साल-दर-साल पड़ने वाले सूखे भी हमारे नम क्षेत्रों के लिये एक खतरा बन कर आते हैं। मानव जनित हस्तक्षेप से नम क्षेत्रों का जल-विज्ञान एवं पारिस्थितिकि तंत्र ही गड़बड़ा जाता है। नये-नये बाँध बनाये जाने से तथा नदियों व प्राकृतिक जल-धाराओं के मार्ग बदलने से नम क्षेत्रों की मूल प्रकृति ही बदल जाती है।

नम क्षेत्रों का संरक्षण

भारत सहित विश्व के तमाम देशों के नम क्षेत्रों को संरक्षित किये जाने की तरफ गंभीर प्रयास शुरू किये जा चुके हैं। भारत में नम क्षेत्रों तथा उनके निवासी जलीय पक्षियों (Water fowl) को बचाने के लिये अनेक पक्षी अभयारण्यों तथा राष्ट्रीय उद्यानों की स्थापना की जा चुकी है। अभी तक स्थापित संरक्षित क्षेत्र सारणी-1 में प्रदर्शित किये गये हैं।

सारणी 1

जलीय पक्षियों के शरण स्थल : भारत के पक्षी अभयारण्य एवं राष्ट्रीय उद्यान

क्रमांक	नाम प्रान्त	पक्षी अभयारण्य/राष्ट्रीय उद्यान
1.	जम्मू एवं काश्मीर	1.1.1 शंकराचारी
2.	हिमाचल प्रदेश	2.2.1 गोविन्द सागर
3.	पंजाब	3.3.1 सूखना
4.	हरियाणा	4.4.1 हरिके हैडवर्क्स
		5.2 सुलतानपुर झील
5.	राजस्थान	5.6.1 केवलादेव राष्ट्रीय उद्यान
6.	उत्तर प्रदेश	6.7.1 नवाबगंज
7.	मध्यप्रदेश	7.8.1 सीरपुर
		7.2 गाँधीसागर

8.	गुजरात	8.10.1	नाल सरोवर
		11.2	खिजाड़िया
9.	बिहार	9.12.1	तोपचंची
10.	महाराष्ट्र	10.13.1	करनाल
		14.2	ग्रेट इंडियन बस्टर्ड अभयारण्य
11.	कर्नाटक	11.15.1	रंगनाथिट्टू
		16.2	घटप्रभा
12.	आन्ध्रप्रदेश	12.17.1	नीलामद्दू
		18.2	पुलिकट
13.	तमिलनाडु	13.19.1	वेदानथंगल
		20.2	वेंटगुडी
14.	उड़ीसा	14.21.1	चिल्का झील
15.	अण्डमान निकोबार द्वीप समूह	15.22.1	नारकोन्डम
		23.2	उत्तरी रीफ

आई० यू० सी० एन० (International union for conservation of nature and natural resources) के तत्वावधान में 1977 में रामसर कान्फ्रेन्स में संसार भर के जलीय पक्षियों के शरणस्थल, नम क्षेत्रों की सुरक्षा हेतु सदस्य देशों के मध्य समझौता हुआ। सन् 1980 तक 27 राष्ट्र समझौते पर हस्ताक्षर कर चुके थे। इनमें हमारा देश भी एक था।

हमारे देश के पक्षी अभयारण्य/राष्ट्रीय उद्यानों में से दो, केवलादेव राष्ट्रीय उद्यान, भरतपुर (राज०) तथा चिल्का झील अभयारण्य (उड़ीसा) अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के रूप में जाने जा चुके हैं। केवलादेव राष्ट्रीय उद्यान, भरतपुर संसार के सर्वाधिक खगधनी नम स्थलों में से एक है, जहाँ मात्र 29 वर्ग किलोमीटर में 353 प्रजातियों के पक्षी पाये जाते हैं, जिनमें 150 किस्मे देशान्तर गमन करने वाली हैं।

नम क्षेत्रों को बचाने के साथ-साथ नम क्षेत्रों के निवासी पक्षियों को भी बचाने के उपायों पर अमल जारी है। बैंडिग तथा ट्रांसमीटर तकनीकों द्वारा पक्षियों के देशान्तर गमन के रास्तों को ठीक से पता लगाया जा रहा है। इस कार्य में विशेष तरह के राडारों का भी उपयोग लिया जा रहा है। विभिन्न देशों द्वारा इन पक्षियों की सुरक्षा हेतु आपस में समझौते किये जा रहे हैं। महान पक्षीविद् स्वर्गीय डॉ० सलीम अली के प्रयासों से भारत तथा रूस के मध्य भी सुरक्षा सम्बन्धी समझौता किया जा चुका है।

जलीय पक्षियों की सुरक्षा हेतु "इन्टरनेशनल वाटर फाउल रिसर्च ब्यूरो" भी सक्रिय रूप से कार्य कर रहा है, जिसका मुख्यालय इंगलैण्ड में है। ब्यूरो के निर्देशन में प्रतिवर्ष सर्दियों में एशिया महाद्वीप के विभिन्न देशों में जलीय पक्षियों की गिनती की जाती है। भारत में उक्त कार्य ब्यूरो के सहयोग से "बम्बई नेचुरल हिस्ट्री सोसायटी" द्वारा किया जाता है। सोसायटी द्वारा जलीय पक्षियों व नम क्षेत्र सम्बन्धी आँकड़े "वैटलैण्ड्स एण्ड वाटर फाउल न्यूजलेटर" में प्रकाशित किये जाते हैं। इन्हीं आँकड़ों को ध्यान में रखकर भविष्य हेतु नम क्षेत्रों में संरक्षण सम्बन्धी योजनायें बनती हैं।

नम क्षेत्र संरक्षण के क्षेत्र में चालू दशक की सब से बुरी खबर साईबेरियन सारस का घना राष्ट्रीय उद्यान में आना बंद हो जाना है। यदि विश्व स्तर पर नम क्षेत्रों को वास्तविक स्वरूप में नहीं बचाया गया तो अनेक जलीय पक्षियों को इसी तरह नष्ट होना पड़ेगा।

नम क्षेत्रों की हमारे पर्यावरण में अहम् भूमिका है। हमारे पारिस्थितिकीय सन्तुलन को बरकरार रखने के लिये नम क्षेत्रों का संरक्षण करना ही होगा। यदि हम ऐसा करने में असफल रहेंगे तो गम्भीर पर्यावरणीय समस्यायें हमारे सामने होंगी। इससे मानव जाति के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो गया हैं। मानव को इस चुनौती को स्वीकार करनी ही पड़ेगी। मानवता के सुखमय भविष्य के लिये हमें नम क्षेत्रों को प्रदूषणमुक्त रखते हुये संरक्षण के ठोस उपाय करने का मार्ग अपनाना चाहिये।

■ ■ ■

नवजात शिशु में श्वसन रोग

प्रकाश कुम्भारे

चिकित्सा-जगत में चहुँ-मुखी प्रगति होते हुए भी, अभी भी कितने ही नवजात शिशु अपने जीवन का पहला प्रकाश देखते ही काल-कवलित हो जाते हैं। इसका मुख्य कारण है, इनमें पाया जाने वाला-श्वसन रोग।

प्राय: जैसे ही शिशु जन्म लेता है, उसे साँस लेने में कठिनाई होती है। इससे उसकी मृत्यु भी हो सकती है। सम्पूर्ण विश्व में इसी कारण से नवजात शिशुओं की मृत्यु दर अधिक है। इस तरह की पीड़ा का कारण शिशु के फेफड़ों में एक अनिवार्य पृष्ठ सक्रियक पदार्थ की कमी होना है। परिणामस्वरूप, फेफड़ों के पृष्ठों में तनाव उत्पन्न हो जाता है। ऐसे में जब शिशु साँस लेता है, तब फेफड़ों में जो छोटी वायुथैलियाँ होती हैं, जिन्हें 'एलबिओली' कहा जाता है, के फूलने में काफी कठिनाई आती है। इससे नवजात शिशु के शरीर में पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन नहीं पहुँच पाती। चूँकि खून को भी ऑक्सीजन की आवश्यकता होती है, इसलिए ऑक्सीजन की समुचित मात्रा न मिलने पर शरीर के अन्य अंग कार्य करना बंद कर देते हैं, जिससे शिशु की मृत्यु हो जाती है।

वैज्ञानिक, प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, निकट पूसा गेट, नयी दिल्ली-110012

ऐसी विकट स्थिति को ध्यान में रखते हुये, अमेरिका ने हाल ही में एक ऐसे द्रव्य का निर्माण किया है जो कि कृत्रिम पृष्ठ-सक्रियक पदार्थ का कार्य करता हैं। इसे परफ्लुरोकेमिकल के नाम से जाना जाता है। यह गन्धरहित, रंगहीन और हाइड्रोकार्बन से तैयार किया हुआ द्रव है। इस द्रव को बच्चे की श्वसन-नली द्वारा फेफड़ों में भर दिया जाता है। इससे तुरंत फेफड़ों में बना पृष्ठ-तनाव कम हो जाता है और फेफड़ों में निहित वायु-थैलियों को फूलने में सहायता मिलती है। तत्पश्चात् बाहरी हवा बच्चे के कक्ष में उचित मात्रा में आये, इसके लिए ठोस प्रयास किये जाते हैं ताकि बच्चे के शरीर में पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन जाए और कार्बन डाइऑक्साइड बाहर आए। इस सम्पूर्ण विधि से बच्चा धीरे-धीरे स्वस्थ होने लगता है।

कभी-कभी-शिशुओं की मृत्यु जन्म लेने से पूर्व माँ के पेट में ही हो जाती है। ऐसे में माँ को भी मौत की खाई में कूदना पड़ सकता है। इसका मुख्य कारण भी शिशु के साँस में रुकावट उत्पन्न होने से है। इस बीमारी को 'मीकोनीअम एसफायक्सीएशन सिन्ड्रोम' कहते हैं। इसके अंतर्गत् शिशु के नाल से एक हरा चिपचिपा पदार्थ, जिसे कि 'मीकोनीअम' कहते हैं, वह माँ की बच्चेदानी में ही गिर जाता है। परिणामस्वरूप, जब शिशु साँस लेता है, तब यह मीकोनीअम उसके फेफड़ों में प्रवेश करता है। इससे फेफड़ों में रुकावट उत्पन्न हो जाती है और शिशु की माँ के पेट में ही मृत्यु हो जाती है। कायदे से यह मीकोनीअम शिशु के जन्म लेते ही नाल द्वारा बाहर निकलना चाहिये। ऐसे संकट में माँ की बच्चेदानी को नमक के पानी से साफ कर दिया जाता है। इस विधि की सफलता काफी कम है क्योंकि मीकोनीअम कौन से समय निकलेगा ? निकला भी है या नहीं ? यह मालूम नहीं हो पाता।

इस संकटजनक स्थिति को देखते हुये, लंदन के वैज्ञानिकों ने एक सूक्ष्म-परीक्षक उपकरण (प्रोब) की खोज की है। यह स्त्री के भगद्वार से बड़े ही आसानी से बच्चेदानी में पहुँचकर ज्ञात करता है कि वहाँ पर मीकोनीअम है या नहीं। इस उपकरण का प्रयोग माँ को प्रसूति में तकलीफ हो या शिशु के जन्म होने से पूर्व सावधानी हेतु किया जाता है। अगर मीकोनीअम पाया जाता है, तो उपरोक्त विधि प्रयोग में लायी जाती है। ऐसी उम्मीद है कि इस तरह के साधन हमारे भारत में आने वाले दो सालों में उपलब्ध हो सकेंगे, जो नवजात शिशुओं में श्वसन रोग और जच्चाओं की मौत को रोकने में सहायक सिद्ध होंगे।

■ ■

मौत की हमजोली : जहरीली शराब

अनिल वशिष्ठ

मदिरा के नाम पर वर्ष इक्यानवे से अब तक जो कुछ दु:खद त्रासदी पूरे भारतवर्ष में घटित हुई, वह किसी से अछूती नहीं है। आश्चर्य तब होता है जब देश की राजधानी में सारे नियम और कानून को धता बताकर प्रशासन की नाक पर यह जघन्य असामाजिक कांड घटित हो जाता है।

यह सर्वविदित है कि मदिरापान का व्यसन एक सामाजिक बुराई है, किन्तु पेय मदिरा क्या है? मदिरा की कितनी मात्रा हानिकारक नहीं है? स्प्रिट, शराब और सुरा में क्या विभेद है? यह जान लेना अति आवश्यक है, क्योंकि भयानक मौत के हादसों ने "मदिरा" शब्द पर प्रश्नचिन्ह-सा लगा दिया है।

शराब या मदिरा

शराब या मदिरा वह पेय पदार्थ है जिसमें ईथायल एल्कोहॉल की मात्रा 35 से 40 प्रतिशत होती है। हल्की मदिरा में, बीयर, वाइन, सिडार व शेरी आदि हैं जिनमें ईथायल एल्कोहॉल का प्रतिशत क्रमश: 3-6 प्रतिशत, 2-6 प्रतिशत तथा 14-20 प्रतिशत है। शराब फल तथा अन्न के किण्वनीकरण (फरमेनटेशन) के बाद आसवन से प्राप्त की जाती है।

सभी शराब या मदिरा में ईथायल एल्कोहॉल के अतिरिक्त शुगर, ठोस पदार्थ, स्थाई अम्ल, वाष्पीकृत होने वाले अम्ल (एसिटिक अम्ल), फॉस्फोरिक-अम्ल व ग्लिसरीन की अति सूक्ष्म मात्रा विद्यमान है व शेष जल होता है।

आसव या सुरा

यह आयुर्वेदिक पद्धति द्वारा निर्मित वे दवायें हैं जिनमें बहुत सी जड़ी-बूटियों को मिलाकर, कूट-पीस कर "अर्क" निकाल कर कुछ दिन के लिये किण्वनीकरण हेतु रखकर, "भवका" या "आसवन" द्वारा दवायें प्राप्त की जाती हैं। सामान्यतया इसमें सूक्ष्म मात्रा में ईथायल एल्कोहॉल हो सकती है, किन्तु मिथायल एल्कोहॉल कदापि नहीं पायी जाती है।

"मृत संजीवनी सुरा" कर्पूरासव इसी प्रकार का आसव है। "भैषज्य रत्नावली" आयुर्वेद का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है, जिसमें विभिन्न प्रकार के आसव निर्माण का उल्लेख है। "मृत संजीवनी सुरा" का उपयोग देह सुदृढ़ बनाने, बलवर्ग के लिये, सन्निपात, हैजा, स्वप्न दोष, अग्निवर्धक, स्फूर्तिदायक, वायु शामक तथा प्रसूता की कमजोरी में किया जाता है। इसकी एक बार प्रयोग की जाने वाली मात्रा अधिकतम तीन या चार चम्मच है।

पोस्ट-घोड़ाखाल, जिला-नैनीताल, पिन-263156 (उ० प्र०)

'भैषज्य रत्नावली' के अनुसार लगभग 15 किलो गुड़ में एक किलो सौ ग्राम कीकर या बबूल की छाल के साथ अतीस, असगन्ध, देवदारू, बेल छाल, अरलू की छाल, पाढाल की छाल, शालि पर्णी, पृश्नि पर्णी, केसर, कपूर, कस्तूरी, इन्द्रायण की जड़, बेर कटेली, गोखरू, पुनर्नवा, सभी की चालीस तोला कूट कर गुड़ से आठ गुने पानी में 16 दिन रखकर उसमें 128 तोला सुपारी व यमकूट चूर्ण, धतूरे की जड़, लौंग, पद्माख, खस, चन्दन, सौंफ, अजवायन, काली मिर्च, जीरा, कचूर, जटामांसी, इलायची, जायफल, नागरमोथा, ग्रन्थिपर्णी, सोंठ, मेथी, मेढासिंगी, लाल चन्दन आदि 8 तोला प्रत्येक को लेकर 14 दिन रखकर "भवका" देते हैं अर्थात् आसवन करते हैं, तब कहीं मृत संजीवनी सुरा तैयार होती है। "कर्पूरासव" का उपयोग हैजा, अजीर्ण, बदहजमी, पेट दर्द, जी मिचलाने में किया जाता है तथा इसकी अधिकतम मात्रा 15 से 20 बूंद दवा के रूप में प्रयोग की जाती है। "भैषज्य रत्नावली" में इसके निर्माण की तीन विधियों का उल्लेख है। एक विधि में 6-7 किलो देशी मद्य में 32 तोला कपूर तथा इलायची, नागरमोथा, वायविडिंग तथा सौंठ प्रत्येक चार तोला लेकर एक महीने रखकर "भवका" या आसवन द्वारा प्राप्त किया जाता है। यहाँ देशी मद्य का अर्थ मात्र ईथायल एल्कोहॉल वाली शीरे से बनते वाली शराब से है। यह कहना इसलिये आवश्यक है ताकि मद्य के नाम पर मिथायल एल्कोहॉल का प्रयोग रोका जा सके।

आयुर्वेद का प्रयोग जनस्वास्थ्य रक्षा और रोग निवारण हेतु आयुर्वेद में विभिन्न प्रकार की सुरा या आसव को पथ्य के रूप में लेने का निर्देश है, जिसमें इसकी प्रयुक्त की जाने वाली मात्रा तथा किस रोग में उनका उपयोग किया जाय, यह निर्धारित है। मिथाइल एल्कोहॉल का आयुर्वेद में उपयोग शास्त्रयोग नहीं ऐसा वैद्यराज वेदव्रत शर्मा ने दिल्ली दूरदर्शन से एक साक्षात्कार में स्पष्ट कहा है।

मेथेलेटिड स्प्रिट

इसे औद्योगिक स्प्रिट के नाम से भी जाना जाता है। यह किसी भी हालत में पेय पदार्थ नहीं है। मेथेलेटिड स्प्रिट में लगभग 90 प्रतिशत ईथायल एल्कोहॉल होता है तथा इसे पीने योग्य रहने से वंचित करने के लिए इसमें हानिकारक मिथायल एल्कोहॉल, बदबूदार पदार्थ पिरिडीन या नैपथा तथा रंगीन पदार्थ कॉपर-सल्फेट या नीला थोथा डाले जाते हैं। ये सभी पदार्थ विष हैं और स्प्रिट के दुरुपयोग रोकने के लिए चुने गये हैं। मेथेलेटिड स्प्रिट को "डीनेचर्ड स्प्रिट" के नाम से भी जानते हैं, जिसमें इसकी प्रकृति को परिवर्तित किया जाता है। इसका उपयोग पेन्ट, वार्निश, शैलेक, प्लास्टिक, सैलूलाइड बनाने में किया जाता है।

रेक्टिफाइड स्प्रिट

यह ईथायल एल्कोहॉल की शुद्ध अवस्था है, जिसमें 95.6 प्रतिशत ईथायल एल्कोहॉल तथा शेष जल की मात्रा होती है। इस जल की मात्रा को बिना बुझे चूने में मिलाकर तथा भंजक आसवन द्वारा सर्वाधिक शुद्ध रूप में प्राप्त किया जाता है। रेक्टिफाइड स्प्रिट का उपयोग दवा, विलायक तथा शोध कार्य में किया जाता है।

एब्सोल्यूट एल्कोहॉल

रेक्टिफाइड स्प्रिट से जल को बिना बुझे चूने द्वारा अलग करके भंजक आसवन द्वारा या रेक्टिफाइड स्प्रिट में बेन्जीन की थोड़ी मात्रा डालकर 351 कैल्विन पर भंजक आसवन पर आसवित करने पर प्राप्त हो जाता है। यह सर्वाधिक शुद्ध अवस्था का ईथायल एल्कोहॉल है, जिसका उपयोग औद्योगिक विलायक तथा दवाओं में किया जाता है।

कच्ची शराब या खेंची हुई शराब

यह शराब भारी असुद्धि लिये होती है, जिसमें एल्कोहॉल की मात्रा 40 प्रतिशत तक होती है। इसे प्राप्त करने के लिये शीरे को देशी तरीकों से सड़ा कर टिन, लोहे या तांबे के भवके में आसवन द्वारा प्राप्त किया जाता है। इस शराब में फफूंद, जीवाणु व अम्लीयता की अशुद्धि भारी मात्रा में होती हैं। इसकी शुद्धता की कोई गारन्टी नहीं है।

देशी शराब

देशी शराब "मोलेसिस" या शीरे द्वारा सरकारी नियन्त्रण में आसवन की विधि से तैयार की जाती है। इस शराब में ईथायल एल्कोहॉल की मात्रा 35-40 प्रतिशत होती है। इस शराब में प्राकृतिक अशुद्धियों को दूर नहीं किया जाता है, किन्तु यह पीने योग्य होती है।

मिथायल एल्कोहॉल और इसकी उपयोगिता

मिथायल एल्कोहॉल, एल्कोहॉल श्रेणी का सदस्य है, जिसके अधिकतर रासायनिक गुण-धर्म ईथायल एल्कोहॉल से मिलते-जुलते हैं। उपयोगिता और औद्योगिक निर्माण की दृष्टि से इन दोनों में भारी भिन्नता है। जहाँ ईथायल एल्कोहॉल का निर्माण फल, शीरे तथा मक्का या जौ के किण्वनीकरण के पश्चात् निश्चित ताप पर आसवन द्वारा होता है, वहीं पर मिथायल एल्कोहॉल, लकड़ी को सड़ाकर बहुत अधिक ताप पर आसवित करने (डेट्रिक्टिव डिस्टिलेशन) या कार्बन मोनोऑक्साइड तथा हाइड्रोजन को 570 कैल्विन ताप पर क्रोमियम ऑक्साइड तथा जिंक ऑक्साइड उत्प्रेरक की उपस्थिति में क्रिया कराने पर प्राप्त किया जाता है। जहाँ ईथायल एल्कोहॉल दवा, उद्योग तथा शोध कार्य हेतु उपयोग में लायी जाती हैं वहीं मिथायल एल्कोहॉल एक विष है जिसके पीने से मृत्यु या अंधापन हो जाता है। यह पेन्ट, वार्निश, शैलेक, एन्टीफ्रिज मिश्रण दवा, रंग, सुगन्ध तथा स्प्रिट की प्रकृति परिवर्तित करने (डीनेचुरेशन) में प्रयुक्त होती है। मिथायल एल्कोहॉल को वुड-एल्कोहॉल भी कहते हैं। इसका शरीर में धीमें-धीमें ऑक्सीकरण होता है व जहरीले फारमेट उत्पाद शरीर में बनते हैं।

मिथायल एल्कोहॉल और धोखा-धड़ी : क्यों और कैसे ?

शराब में नशा करने वाली वस्तु ईथायल एल्कोहॉल होती है, जो शरीर में शीघ्र ही अधिशोषित होकर व ऑक्सी कृत होकर ऊर्जा प्रदान करती है। ठीक इसी प्रकार मिथायल एल्कोहॉल भी शरीर में शीघ्र अधिशोषित हो जाती है। किन्तु यह शरीर में ऑक्सीकृत होकर हानिकारक जहरीले फारमेट बनाती है। दोनों एल्कोहॉल रंगहीन तथा पानी में घुलवशील हैं। ईथायल एल्कोहॉल एक मंहगा रसायन है, जिसकी कम से कम कीमत लगभग 80 रूपये प्रति लीटर है। इस पर सरकार का क्रय-विक्रय हेतु कड़ा नियंत्रण है। इस पर सरकार का अधिभार लगता है, जबकि मिथायल एल्कोहॉल एक सस्ता रसायन है, जिसकी कीमत लगभग 17 रूपये प्रति लीटर है। सरकार का कड़ा नियंत्रण ना होने के कारण यह पेन्ट या वार्निश की दुकानों पर आसानी से उपलब्ध हो जाती है। "सस्ता नशा" चाहने वाले गरीब लोग इसे खरीद कर पी लेते हैं या व्यापारी देशी शराब में इसे आसानी से मिलाकर बेंच देते हैं।

मिथायल एल्कोहॉल को शराब में आसानी से मिलाया जा सकता है। रंग, गन्ध तथा एक सी प्रकृति के कारण मिलावट वाली शराब को पहचानना मुश्किल ही नहीं वरन् असंभव है। मिलावट वाली शराब की पुष्टि विशेष रासायनिक परीक्षण के द्वारा ही की जा सकती है, जो आम आदमी की पहुँच से दूर की बात है। इस मिलावट का दुःखद पहलू यही है कि इस मिलावट का पता तभी चलता है जब कोई व्यक्ति मिलावट वाली मदिरा पीकर खूनी पेचिस, उल्टी, सिर चकराना, सिर में भारी दर्द या आँख से कम दिखाई देने के लक्षण बतलाता है। अधिक मात्रा में मिथायल एल्कोहॉल युक्त शराब के सेवन से अन्धापन या मृत्यु हो जाती है। ऐसे रोगी को मौत से बचा भी लिया जाय तो भी अंधापन से बचा सकना संभव नहीं होता। इसके पीने पर ऑक्सीकृत होकर बनने वाले उत्पाद, आँख की रेटिनापरत के महत्वपूर्ण एन्जाइम "रेटिनल काइनेज" का बनना रोक देते हैं, जिससे अंधापन समाप्त नहीं किया जा सकता है।

कैसे हो मिथायल एल्कोहॉल की पुष्टि

मिथायल एल्कोहॉल की शराब या ईथायल एल्कोहॉल में मिलावट की पहचान "डेनिज परीक्षण" द्वारा की जा सकती। इस परीक्षण में सर्वप्रथम जल द्वारा 10 प्रतिशत शराब का विलयन तनु किया जाता है। इस विलयन का पाँच मिलीमीटर द्रव एक चौड़ी परखनली में लेकर 2·5 मिलीलीटर 2 प्रतिशत पोटेशियम परमैंगनेट का विलयन तथा 0·2 मिली लीटर गन्धक का अम्ल (सलफ्यूरिक अम्ल) डालकर व हिला कर तीन मिनट के लिये रखकर उसमें 0·5 मिलीलीटर आक्जैलिक अम्ल (9·6 प्रतिशत) डालते हैं। इस विलयन को हिलाने पर यह रंगहीन विलयन में बदल जाता। इस रंगहीन विलयन में एक मिलीलीटर सान्द्र सल्फूरिक अम्ल डालकर हिलाते हैं और शिरा अभिकर्मक "Schiffs Reagent" की 5 मिलीलीटर मात्रा डालने पर बैंगनी रंग का आना मिथायल एल्कोहॉल की मिलावट की पुष्टि करता है। यदि मिथायल एल्कोहॉल की मात्रा अधिक हो तो परिवर्तन कुछ मिनटों में ही हो जाता है। किन्तु मिथायल एल्कोहॉल की सूक्ष्म-मात्रा मिली होने पर इस रंग परिवर्तन में 20 से 30 मिनट का समय लग सकता है। इस परीक्षण में शिफ्स अभिकर्मक बनाने में 0·2 ग्राम फशिचन डाई को 20 मिलीलीटर गर्मजल में मिलाकर विलयन को रंगहीन बनाकर उसमें 2 ग्राम निर्जलीय सोडियम सल्फाइट, सूक्ष्म मात्रा में चारकोल तथा 2 मिलीलीटर हाइड्रोक्लोरिक अम्ल मिलाकर तैयार करके गहरे रंग की अभिकर्मक बोतल में रखा जाना नितान्त आवश्यक है, अन्यथा सही व उचित बैंगनी या वायलट रंग नहीं बनेगा।

मिथायल एल्कोहॉल की मिलावट का पता करने के दूसरे परीक्षण में शराब में एक ताँबे का गर्म दहकता हुआ तार डुबोते हैं। यदि तार के डुबोने पर मदिरा से फार्मलडीहाइड की तीक्ष्ण गंध आती है तो दिया हुआ द्रव मिथायल एल्कोहॉल ही है। यह परीक्षण मात्र उस परिस्थिति में उपयोगी है जब मिथायल एल्कोहॉल को पानी में मिलाकर शराब के नाम पर प्रयोग में लाया जा रहा हो।

मिथायल एल्कोहॉल युक्त मदिरापान पर उपचार

मिथायल एल्कोहॉल की एक से दो औंस मात्रा भी शरीर पर घातक प्रभाव डालती है। इससे पेट में तीव्र दर्द उठता है और पेचिस होने लगते हैं। आँखों का तन्त्रिका तन्त्र नष्ट हो जाता है। इस की चार औंस की मात्रा लेने पर मात्र तीन से चार घन्टे में ही रोगी की मृत्यु हो सकती है। ऐसी परिस्थिति में रोगी का सर्वप्रथम पेट खाली करने का उपाय (हीमोडायलेसिस) सोचना चाहिए। 240 क्यूबिक सेन्टीमीटर, एक प्रतिशत सोडियम

बाइ कार्बोनेट का घोल किसी उल्टी करने वाली दवा के साथ प्रयोग करना उत्तम रहता है। रोगी को जितना हो सके तेज प्रकाश या सामने के प्रकाश से दूर रखा जाय। रोगी को गर्म रखने का उपाय करना चाहिए। इन उपायों से रोगी की जान बचायी जा सकती है। प्राथमिक उपचार में जल्दी से जल्दी उल्टी कराकर मिथायल एल्कोहॉल अथवा मिलावट की शराब निकालने का प्रयास होना चाहिए, क्योंकि इसका शरीर में अधिशोषण तीव्र गति से होता है।

पेय मदिरा या शराब क्या है ?

जब तक मदिरा की अंग्रेजी तथा देशी दुकानें मौजूद हैं, मदिरा-पान बन्द होना असम्भव है। मदिरा के लिए गुणवत्ता नियमावली है जो यह घोषित करती है कि अमुक मदिरा पीने योग्य है। किसी भी मदिरा के लिए ईथायल एल्कोहॉल की 45 प्रतिशत अधिकतम मात्रा निर्धारित की गयी है। इससे अधिक ईथायल एल्कोहॉल की मात्रा वाली स्प्रिट या एल्कोहॉल स्वास्थ्य के लिए घातक है। अंग्रेजी शराब जैसे व्हिस्की, रम, ब्राण्डी, जिन आदि,अधिक ईथायल एल्कोहॉल वाली पीने योग्य मदिरा हैं तथा बीयर, वाइन पोर्टलेण्ड शेरी व शिडर आदि हल्की मदिरा हैं, जिनमें ईथायल एल्कोहॉल की मात्रा 20 प्रतिशत से कम है।

यदि मदिरा को भोजन के पहले एक या दो पैग लिया जाय अथवा ठण्डे मौसम की स्थिति में लिया जाय तो यह शरीर में पहुँच कर शीघ्र ऑक्सीकृत होकर शरीर को ऊर्जा प्रदान करती है! भोजन के पूर्व इसे लेने के पीछे यही उद्देश्य है कि यह कम मात्रा में ली जाय तो जठराग्नि को तीव्र करती है। वैसे मदिरा-पान की मात्रा का विश्व में कोई मापदण्ड नहीं है। इतना अवश्य है कि मदिरा की लत शरीर पर बुरा प्रभाव डालती है। देशी शराब की तुलना में अंग्रेजी शराब अच्छी है, क्योंकि इसमें गुणवत्ता के अन्तर्राष्ट्रीय मानक को आधार माना गया है।

यदि किसी भी शुद्ध शराब को व्यसन के रूप में लगातार व अधिक मात्रा में पिया जाय तो यह धीरे-धीरे पाचन प्रणाली को खराब कर देती है। इससे शरीर की कार्यप्रणाली में शिथिलता आ जाती है और मस्तिष्क पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

शराब मन, मस्तिष्क व शरीर को किसी भी हालत में बल प्रदान नहीं करती। यदि समय पर व संतुलित मात्रा में इसे दवा के रूप में लिया जाय तो उचित है। शराब की अति या इसका आदी बन जाना स्वास्थ्य के लिये घातक है। इसे भारतवर्ष में एक सामाजिक बुराई के रूप में माना गया है। मदिरा की बिक्री से सरकार को करोड़ों रूपये प्रति माह की आय होती है। क्या सरकार मदिरा-पान पर अंकुश लगायेगी, इसके बारे में कहा जाना मुश्किल है क्योंकि एक ओर मदिरा देश की भारी आय का स्रोत है व दूसरी ओर मद्यनिषेध विभाग मदिरा-पान को रोकने का प्रचार करता है। बात चाहे कुछ भी हो, किन्तु विषाक्त मदिरा बनाने और बेचने पर कड़ा अंकुश रखा जाना चाहिए ताकि अमानवीय मौतों और अंधापन से देश को बचाया जा सके।

■ ■

भोजन में छिपा जहर—मुक्ति कैसे पायें ?

हेमन्त कुमार पाण्डेय एवं डॉ० नरेन्द्र कुमार

आजकल-खाद्य-विषाक्तता (Fool poisoning) साधारण बोलचाल में अक्सर प्रयुक्त होता है। समाचारों एवं समाचार. पत्रों के माध्यम से हमें प्राय: खाद्य-विषाक्तता सम्बन्धित समाचार पढ़ने को मिलते हैं, कि खाद्य विषाक्तता से कई लोग बीमार अथवा कालग्रसित हो गये। वास्तव में खाद्य विषाक्तता क्या है? इसके उत्पन्न होने के क्या कारण हैं? और इससे कैसे बचाव किया जा सकता है? प्रस्तुत लेख में इससे सम्बन्धित पहलुओं को उजागर किया गया है।

खाद्य विषाक्तता

खाद्य पदार्थों के साथ अनजाने में या असावधानीवश ग्रहण किये गये रासायनिक अथवा जैविक विष (Biotoxins) विभिन्न शारीरिक विकारों को जन्म देते हैं। यदि इनकी मात्रा शारीरिक सहनशीलता से अधिक हो जाय, तो मृत्यु की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

मुख्यत: खाद्य-विषाक्तता दो कारणों से उत्पन्न होती है—

(1) खाद्य-पदार्थों में उपस्थित सूक्ष्मजीवों जैसे जीवाणुओं, कवकों एवं एककोशिकीय जीवों अथवा उनके द्वारा उत्पन्न जैव विषों द्वारा।

(2) हानिकारक विषैले रसायनों द्वारा।

बहुधा खाद्य-विषाक्तता के लिये प्रथम कारण ही अधिक उत्तरदायी होता है। विषाक्तता के लक्षणों का अचानक प्रकट होना भी इसी कारण होता है जबकि रसायनों द्वारा जनित खाद्य विषाक्तता का प्रभाव (यदि वह अधिक मात्रा मे नहीं है) दीर्घस्थायी एवं अधिक घातक होता है।

खाद्य-विषाक्तता, प्रभावों के आधार पर, दो भागों में वर्गीकृत की जा सकती है—

(1) तीव्र प्रभावी खाद्य-विषाक्तता (Acute food poisoning)

(2) दीर्घ स्थाई खाद्य-विषाक्तता (Chrome food poisoning)

इस प्रकार की खाद्य-विषाक्तता, हानिकारक विषैले रसायनों की अधिक मात्रा, भोज्य पदार्थों के साथ शरीर में समाविष्ठ हो जाने के कारण होती है। उदाहरणार्थ पारे, आर्सेनिक या अन्य विषैले रसायनों या इनके यौगिकों की अधिक मात्रा का खाद्य-पदार्थों के साथ शरीर में प्रवेश कर जाने से होने वाले पाचन सम्बन्धी विकार से

रक्षा कृषि अनुसंधान प्रयोगशाला, रक्षा अनुसंधान एवं विकास संगठन, पिथौरागढ़-262 501 (उ० प्र०)

तो कभी-कभी मृत्यु हो जाती है। दूसरे प्रकार की खाद्य-विषाक्तता विषैले पदार्थों की बहुत कम किन्तु लगातार मात्र के शरीर में प्रवष्टि होने के कारण होती है। जैसे कि पानी या अन्य भोज्य पदार्थों का सीसे या अन्य हानिकारक रसायनों की बहुत कम किन्तु नियमित रूप से प्रदूषित होने के कारण या क्षारीय विषाक्त पौधों के लगातार उपभोग के कारण। दीर्घ स्थाई विषाक्तता का प्रभाव अत्यधिक हानिकारक होता है तथा आरोग्य लाभ की संभावना भी बहुत कम रहती है। जबकि प्रथम प्रकार में यदि मृत्यु नहीं हुई है तो सही उपचार मिलने पर विषाक्तता तुरन्त दूर हो जाती है।

किसी रसायन या जैव विष की शरीर में विषाक्तता उत्पन्न करने की क्षमता कई बातों पर निर्भर करती है। उदाहरणार्थ विष की शारीरिक द्रव्यों (Body fluids) में घुलनशीलता, सम्पर्क की अवधि, किसी निश्चित समय में रक्त-प्रवाह में उसकी मात्रा तथा किसी व्यक्ति विशेष की उस रसायन के प्रति संवेदनशीलता। रासायनिक तत्वों की अपेक्षा उनके यौगिक अधिक हानिकारक होते हैं। उदाहरण के लिए जस्ते (Zinc) से अधिक घातक उसका यौगिक जिकक्लोराइड होता है। सीसे का ऑक्साइड (Lithartz) सीसे की अपेक्षा अधिक हानिकारक होता है, क्योंकि रक्तोद (Serum) में इसकी घुलनशीलता पानी की अपेक्षा सत्तर गुनी अधिक होती है।

वैज्ञानिक परीक्षण से यह पता चला है, कि मनुष्य की अपेक्षा जानवरों में विषैले पदार्थों को रहने की क्षमता अधिक होती है।

खाद्य-विषाक्तता को कारकों के आधार पर पुनः वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. सूक्ष्म जीवों द्वारा जनित या जैविक खाद्य विषाक्तता।
2. रसायनिक खाद्य-विषाक्तता।

जैविक खाद्य-विषाक्तता

जीवाणु, कवक, यीस्ट एवं एक कोशिकीय जीव इस प्रकार की विषाक्तता के लिए उत्तरदायी होते हैं। अधिकतर खाद्य पदार्थ इन सूक्ष्मजीवों के संवर्धन का उपयुक्त माध्यम होते हैं। अतः थोड़ी सी असावधानी इन्हें बढ़ोत्तरी एवं शरीर में दुष्प्रभाव उत्पन्न करने का अवसर प्रदान कर सकती है। इन दुष्प्रभावों को खाद्यजनित बीमारियाँ भी कहते हैं। सैलमोनेला स्टेफेलोकोकल, क्लोस्ट्रिडियल, बैसिलस सीरम तथा अमीबीय कुछ प्रमुख खाद्य विषाक्तताएँ हैं। ये बहुधा उन स्थानों में दृष्टिगोचर होती हैं जहाँ मलमूत्र युक्त पानी खाद्य पदार्थों में प्रयुक्त किया जाता है। कच्ची खाई जाने वाली सब्जियाँ जैसे सलाद, गाजर, मूली आदि से उनके संक्रमण का अत्यधिक खतरा रहता है।

कुछ प्रमुख खाद्य-विषाक्तताओं के लक्षण निम्नवत हैं—

(1) सैलमोनेला जनित विषाक्तता

इस प्रकार की विषाक्तता साधारणतया कम पके माँस, अण्डे व अन्य भोज्य पदार्थों द्वारा होती है। प्रदूषित भोजन अधिक मात्रा में खा लेने पर आंत्रशोथ की भी संभावना रहती है। इसके लक्षण सिर दर्द, बुखार, पेट

दर्द एवं दस्त के रूप में परिलक्षित होते हैं। उल्टियाँ भी हो सकती हैं। प्राय. स्वास्थ्य लाभ होने में एक से दो हफ्ते का समय लग जाता है।

(2) क्लोस्ट्रिडियम वोलेची जनित विषाक्तता

यह जीवाणुजनित विषाक्तता है। जीवाणु बहुधा माँस द्वारा शरीर में प्रवेश करते हैं। इसके बहुत अधिक मात्रा में रहने से दस्त, पेट दर्द इसके प्रमुख लक्षण हैं, जो सामान्यतया आठ से चौबीस घन्टे की अवधि में प्रकट होते हैं। परन्तु बुखार एवं उल्टियाँ इसमें नहीं होती हैं। स्वास्थ्य लाभ एक दिन के भीतर हो जाता है। बच्चों एवं वृद्धों के लिए यह विषाक्तता मृत्यु का कारण भी बन सकती है। यह जीवाणु वाह्य विष (Exotoxin) पैदा करता हैं। यदि भोजन को एक सौ डिग्री सेंटीग्रेट पर दस मिनट तक उबाल दिया जाए, तो विष का प्रभाव नष्ट हो जाता है।

(3) वैसलिस सीरम जनित विषाक्तता

यह विषाक्तता मृदा में रहने वाले परजीवी से उत्पन्न होती है। यह मनुष्य के शरीर में मुख्यत: सब्जियों के माध्यम से पहुँचती है तथा इसका उत्पाद अन्त: विष है, जो गर्म करने पर भी नष्ट नहीं होता है। इसके लक्षण खाद्य पदार्थ सेवन के एक से पाँच घन्टे के भीतर उल्टी तथा नॉसिया के रूप में प्रकट होते हैं।

(4) कवकों द्वारा जनित विषाक्तता

कवक (Fungi) भी खाद्य-विषाक्तता के लिए कम उत्तरदायी नहीं हैं। ये खाद्य पदार्थों जैसे अनाज, सब्जियों तथा बेकरी की वस्तुओं को नष्ट करते एवं उनके माध्यम से विषाक्तता उत्पन्न करते हैं। ये मुख्यत: एफ्लाटॉक्सिन नामक जैव विष उत्पन्न करते हैं, जो कि कैन्सर जैसी भयावह बीमारी पैदा करते हैं। कवक द्वारा उत्पन्न अर्गट बीमारी के कारण अनाजों एवं दालों की बालियों या फलियों में दानों के स्थान पर भूरा काला पाउडर भर जाता है, जो दानों के साथ मनुष्य के शरीर में पहुँचकर विषैले प्रभाव उत्पन्न करता है। कवकों द्वारा उत्पन्न विष माइकोटॉक्सिन (Mycotoxin) कहलाते हैं। एफ्लाटॉक्सिन, अर्गट एल्केलाइड, स्ट्रेग्मेटोमाइस्टीन, पैन्सीलिक एसिड, सीट्रीओनिन, जीरा-लेनिनोन, ट्राईकोथिसीन, रुबाटॉक्सिन आदि कुछ प्रमुख जैव विष हैं। अनुकूल परिस्थितियाँ पाते ही ये तीव्रता से वृद्धि कर भोज्य पदार्थों को प्रदूषित करते हैं।

रासायनिक खाद्य विषाक्तता

इस प्रकार की खाद्य विषाक्तता में विषाक्तता के प्रभाव दीर्घस्थायी (Chronic) एवं घातक होते हैं, खाद्य पदार्थों में उपस्थित विषैली धातुओं, अधात्विक तत्वों, कार्बनिक तथा अकार्बनिक रसायनों के द्वारा इस प्रकार की विषाक्तता उत्पन्न होती है जोकि निम्नलिखित प्रकारों से खाद्य पदार्थों को प्रदूषित कर सकते हैं—

1. हानिकारक रसायनों का प्राकृतिक रूप में खाद्य पदार्थों में उपस्थित रहने के कारण।
2. कीट-नाशकों, फफूंदी-नाशकों, कीटाणु-नाशकों एवं एण्टीसेप्टीक आदि के प्रयोग के कारण।
3. खाद्य पदार्थ बनाने अथवा उसके परिष्करण (Processing) के दौरान बर्तन की धातु का भोज्य पदार्थों के घुलने या किसी धातु के परिष्करण के दौरान अधिकाधिक प्रयोग होने के कारण।

4. भोज्य पदार्थों में व्यापारिक लाभ हेतु की गयी मिलावट के कारण।

5. किसी दुर्घटना या अपराधिक उद्देश्य के लिए विषैले पदार्थों को भोजन में मिलाने के कारण।

कुछ खाद्य-पदार्थों में हानिकारक तत्व प्राकृतिक रूप में ही विद्यमान रहते हैं, उदाहरणार्थ जंगली कुकुरमुत्ते तथा अन्य जंगली पादपों, जिनको मुख्यत: सब्जियों के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। कुछ पौधों में रासायनिक यौगिकों की मात्रा हानिकारक सीमा तक होती है और इनके लगातार उपभोग से होने वाली बीमारियों को क्षारीय रोग कहते हैं। यदि पालक की पत्तियों में ऑक्जेलिक अम्ल अधिक मात्रा में उपस्थित होगा, तो उनमें पाया जाने वाला कैल्शियम पौष्टिक रूप से महत्वहीन हो जायेगा। इसी तरह सड़े हुए बादाम एवं मूँगफलियों में ग्लूकोसाइड अधिक मात्रा में उपस्थित रहते हैं, जो जल अपघटन द्वारा अतिविशैले सायनाइड बनाते हैं। असावधानीवश इनका अधिक उपयोग मृत्युकारक भी हो सकता है।

खाद्य पदार्थों जैसे अनाज, सब्जियों तथा फलों को हानि पहुँचाने वाले जीव-जन्तुओं या फफूँदी आदि से बचाने के लिए आजकल कीटनाशकों तथा फफूँदीनाशक रसायनों का अत्यधिक प्रयोग किया जा रहा है। ये जहरीले रसायन मनुष्य के लिए अत्यधिक हानिकारक होते हैं। सूक्ष्ममात्रा में ये भोज्य पदार्थों के साथ शरीर में प्रवेश करते हैं तथा शरीर में एकत्र होकर कैंसर व अन्य जानलेवा बीमारियों का कारण बनते हैं।

खाद्य-पदार्थों को पकाये जाने, परिष्करण या संग्रहीत किये जाने के दौरान, उपयोग में आने वाले बर्तनों की धातुओं के सम्पर्क में आकर कभी-कभी प्रदूषित हो जाते हैं। उदाहरणार्थ पीतल के बर्तन में खट्टे खाद्य पदार्थ को रखने या कैडमियम की प्लेट में जमी बर्फ या आइस्क्रीम के सेवन से उत्पन्न होने वाली विषाक्तता के लक्षण। लोहे, कैडमियम, जस्ते आदि धातुओं के बर्तनों में अम्लीय प्रकृति के खाद्य पदार्थ रखने पर ये धातुएँ आसानी से खाद्य पदार्थों में घुल जाती हैं।

कुछ हानिकारक रसायनों की मिलावट खाद्य पदार्थों में व्यापारिक लाभ हेतु की जाती है। उपभोक्ता अज्ञानवश नहीं जान पाता कि वह शनैः शनैः विष (Slow poison) का प्रयोग कर रहा है। खाद्य पदार्थों को आकर्षक बनाने के लिये कृत्रिम रंगों का प्रयोग किया जाता है, जैसे—अमीनोएजोटालिवन तथा डाइमिथाइल-अमीनों-एजोबैंजीन का प्रयोग मक्खन को पीला करने के लिए किया जाता है जो कि वस्तुतः कार्सिनोजैनिक (कैंसर उत्पन्न करने वाला) है। इसी प्रकार हल्दी, मिर्च व अन्य मसालों में मिलाये जाने वाले रंगों का दुष्प्रभाव दीर्घकालीन होता है। धात्विक रंगों जैसे क्रीम येलो, प्रूसीयन ब्लू, गेरूमिट्टी आदि का मसालों में प्रयोग। पोटेशियम एल्यूमिनियम सल्फेट आदि रसायनों का अचारों में तीव्र स्वाद/झनझनाहट उत्पन्न करने हेतु प्रयोग। हरी सब्जियों, मटर तथा फलियों के हरे रंग को निखारने के लिए ताँबे व जस्ते के लवणों का प्रयोग दीर्घस्थाई खाद्य विषाक्तता को जन्म देते हैं।

किसी दुर्घटनावश, असावधानीवश या गलती से विषैले पदार्थों का प्रयोग या अपराधिक उद्देश्य की पूर्ति हेतु विवाह एवं अन्य शुभ अवसरों पर खाद्य पदार्थों में मिलाया गया जहर तीव्र सामुदायिक विषाक्तता के लिए उत्तरदायी होता है।

यद्यपि खाद्य पदार्थों की विशिष्ट गन्ध, दिखावट, स्वाद आसानी से पहचानने में आ जाते हैं, संदेहित पदार्थों को विशलेषण द्वारा पृथक कर पता लगाया जा सकता है। घटना का इतिहास विश्लेषक को बहुमूल्य आधार प्रदान करता है।

खाद्य-विषाक्तता से बचाव हेतु सावधानियाँ

खाद्य-विषाक्तता सम्बन्धी मुख्य जिम्मेदारी स्वास्थ्य विभाग, खाद्य आपूर्ति विभाग, थोक एवं फुटकर विक्रेताओं तथा गृहणियों की है, तथापि निम्नांकित बातों को ध्यान में रखकर इससे काफी हद तक बचाव किया जा सकता है।

1. खाद्य-पदार्थों की गुणवत्ता का सख्ती से पालन किया जाय तथा खाद्य-पदार्थों का उचित प्रबन्धन किया जाय, जिससे कि सूक्ष्मजीवों का संवर्धन रोका जा सके।

2. खाद्यान्नों, फलों, सब्जियों एवं अन्य खाद्य-पदार्थों को खुले एवं नमी वाले स्थानों में संग्रहीत नहीं किया जाये, जिससे फफूंदी एवं अन्य जीवाणु न पनप सकें। मक्खी, चूहों तथा अन्य रोगाणुवाहकों से खाद्य-पदार्थों को बचाया जाये।

3. खाद्य-परिष्करण एवं भंडारण के दौरान भारतीय मानक संस्थान द्वारा निर्धारित मानदण्डों का कड़ाई से पालन किया जाये।

4. पीने के पानी एवं दुग्ध आदि तरल पदार्थों का नियमित रूप से रासायनिक तथा जीवाणु सम्बन्धित परीक्षण हो, जिससे उन्हें प्रदूषित होने से बचाया जा सके।

5. मनुष्य के उपयोग में आने वाले समस्त जानवरों के वध से पूर्व उनका उचित निरीक्षण हो।

6. खाद्य-पदार्थों की रक्षा एवं संग्रहण हेतु उनमें प्रयुक्त कीटाणुनाशकों, फफूंदी नाशकों आदि का प्रयोग अत्यधिक सावधानी से किया जाये।

7. वे खाद्य-पदार्थ जो कि जीवाणुओं एवं फफूंदी के संवर्धन के लिए उचित माध्यम का कार्य करते हैं, उन्हें प्रशीतकों में रखा जाये।

8. खाद्य-पदार्थों विशेषतया मांस को अच्छी तरह पकाया जाय तथा वह खाद्य, जिसे तुरंत उपयोग में न लाना हो, उसे तुरंत ठंडा रख देना चाहिए। यदि पुनः गरम करना हो तो तापमान 60 डिग्री सेन्टीग्रेट से कम नहीं होना चाहिए।

9. जो लोग रसोई से या किसी भोजनालय की रसोई से सम्बन्धित हैं उनका भी आंत्र रोगाणु सम्बन्धी उचित प्रयोगशाला परीक्षण होना चाहिए।

10. उपरोक्तलिखित बातों के अतिरिक्त सबसे महत्वपूर्ण है व्यक्तिगत सफाई, जिसमें खाने से पूर्व अच्छी तरह हाथों की सफाई, खाद्य-पदार्थों की उचित सफाई तथा खाने के बर्तनों की उचित सफाई अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

यद्यपि मानव शरीर में स्वयं का एक विष निवारक तंत्र (Detoxification system) होता है अतः शरीर द्वारा बाहर से ग्रहण किये गये अथवा शरीर के अन्दर बने विषैले हानिकारक पदार्थ विषनिवारक तंत्र द्वारा हानिरहित या कम हानिकारक पदार्थों में बदल दिये जाते हैं, तथा शरीर में मौजूद तंत्रों द्वारा तुरन्ह ही शरीर से उत्सर्जित कर दिये जाते हैं। वे पदार्थ जिनका शरीर द्वारा तुरंत विषनिवारण नहीं हो जाता है अपना दुष्प्रभाव पैदा करते हैं। शरीर में विषैले पदार्थों का ऑक्सीकरण, अपचयन, संयोगिक अभिक्रियाओं द्वारा विष निवारण होता है, जो कि मुख्यतया यकृत एवं गुर्दे में सम्पादित होती हैं। जब विशैले पदार्थों का स्तर शरीर के विषनिवारक तंत्र की क्षमता से बाहर हो जाता है, तभी शरीर में विषाक्तता के लक्षण उत्पन्न होते हैं। अतः ऊपर वर्णित सावधानियों को अपनाकर खाद्य-विषाक्तता से काफी हद तक बचा जा सकता है।

■ ■

आभूषणों में वन्य प्राणी एवं वनस्पतियाँ

डॉ॰ सतीश कुमार शर्मा

मनुष्य सदियों से आभूषण-प्रेमी रहा है। अपने शरीर को और अधिक आकर्षक एवं सुन्दर बनाने के लिए आभूषण धारण किये जाते हैं। स्त्रियाँ तो आभूषणों की बहुत शौकीन होती हैं। स्त्री, पुरुष, बच्चे सभी के अलग-अलग आभूषण होते हैं। कुछ आभूषण हमेशा पहने जाते हैं तो कुछ विशेष अवसरों पर। बेशकीमती से ले कर सस्ते, मानव निर्मित से लेकर प्राकृतिक-अनेकानेक प्रकार होते हैं आभूषणों के।

आभूषण कई तरह के पदार्थों से बनाये जाते हैं। धातु निर्मित, अधात्विक, प्लास्टिक निर्मित, वनस्पति जन्य, प्राणी जन्य, मिश्रित आदि। प्रस्तुत लेख में वन्य प्राणियों एवं वनस्पतियों से प्राप्त आभूषणों पर प्रकाश डाला गया है।

अनेक प्रकार के वन्य प्राणी, जिसमें जलीय और थलीय दोनों शामिल हैं, मनुष्य की आभूषण-पिपासा शान्त करते हैं। थलीय प्राणियों को देखें तो हाथी से प्राप्त हाथीदाँत बहुत महत्वपूर्ण उत्पाद है। भारतीय हाथी में नर द्वारा ही हाथीदाँत पैदा किया जाता है, मादा द्वारा नहीं, जबकि अफ्रीकी हाथी में नर एवं मादा दोनों टस्क पैदा करते हैं। नरों के ऊपरी जबड़े में दोनों तरफ निकले सफेद गोल दाँत 'टस्क' कहलाते हैं और ऐसे हाथी को 'टस्कर, कहा जाता है।

टस्क प्राप्त करने के लिये हाथियों का अवैध शिकार होता रहता है। हाथीदाँत ने अनेक तरह के आभूषण जैसे कंगन, चूड़ियाँ गले के ताबीज व अन्य उपयोगी वस्तुएँ आदि बनती हैं जो बहुत मंहगी होती है। भारत द्वारा

क्षेत्रीय वन अधिकारी, अरावली वृक्षारोपण परियोजना, झाडोल (फ॰)-313 703 उदयपुर (राज॰)

1979 में लगभग 13000 किग्रा० हाथीदाँत केनिया, हांगकांग, जर्मनी, तंजानिया, यूगांडा, यू० के० तथा सूडान से मंगाया गया।

एक तरफ हाथी आभूषणों में उपयोगी है तो दूसरी तरफ लेंसीफेरा लक्का जैसे छोटे-छोटे कीट भी आभूषण सामाग्री प्रदान करते हैं। इस जाति के कीट, बेर, पीपल, कुसुम, पलाश आदि वृक्षों पर लाख का निक्षेप करते हैं। यही लाख खुरच कर पौधों से अलग कर ली जाती है, जिससे चूड़ियाँ, कंगन, हार आदि बनाये जाते है।

बाघ व सिंह जैसी बड़ी बिल्लियों के नाखून सौभाग्य-प्राप्ति के लिये गले में पहने जाते है। प्रायः नाखूनों को ताबीज में रख कर ताबीज गले में लटकाया जाता है।

पक्षियों के पंख भी अपने सुन्दर रंगों के कारण आभूषणों में प्रयुक्त होते हैं। प्राय: सिर पर ढकने वाले वस्त्रों में, स्त्रियों के फैशन आदि में पंखों का उपयोग होता है। अनेक आदिवासी जातियाँ पंखों के गहने पहनती है। विदेशों में कुछ आदिवासी जातियों के मुखिया अपने नाक के आर-पार एक लम्बा पंख पिरो कर रखते हैं। मोर पंख तो भगवान कृष्ण अपने मुकुट में लगाते थे। भारत के गाँवों में कई जगह दीपावली पर्व पर मोर पंख के बने आभूषण पशुओं के गले में भी बाँधे जाते हैं भारतीय थल सेना में सैनिकों की टोपी पर रंगीन पंखों का गुच्छ चारचाँद लगा देता है।

पंखों के लिये जलीय पक्षी प्रसिद्ध हैं। तरह-तरह के बगूले; इग्रेटस, क्रेन, डार्टर, बतखें, हंस, स्टार्क फ्लेमिंगो आदि से पंख मिलते हैं। थलीय पक्षियों में मोर, जंगली मुर्गे, नीलकंठ आदि सुन्दर पंख प्रदान करते हैं। आर्थिक महत्व के पंखों को एईग्रेट्स (Aigrettes) कहते हैं। एडजुटेन्ट स्टार्क के पंख मारावाऊ या माराबाऊट (Marabaou) or Marabout) नाम से जाने जाते हैं। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स, डेनमार्क जर्मनी, बेल्जियम, इटली, हांगकांग, जापान, नीदरलैण्ड, स्वीडेन आदि देशों को भारत से पंख निर्यात किये जाते हैं।

जलीय प्राणी भी आभूषण प्रदान करने में पीछे नहीं हैं। समुद्र में मिलने वाले 'पर्ल-ओस्टर' नामक सीप से मोती प्राप्त किये जाते हैं जो हार बनाने के काम आते हैं। समुद्री पानी में ही ईगिना जीया नामक कवचदार प्राणी मिलता है, जिसका शंकु रूप कवच सफेद रंग का गोलाकार होता है तथा जिसकी लम्बाई 13 मिमी० तक होती है। इस प्राणी का खाली कवच नेकलेस बनाने के काम आता है।

कौड़ी भी आभूषणों के लिये प्रसिद्ध है। यह भी कवचदार समुद्री प्राणी है। सायप्रिया वोल्वा कौड़ी अपने अधिक उपयोग के लिये प्रसिद्ध है। आभूषणों के अलावा कौड़ी प्राचीनकाल में मुद्रा एवं धार्मिक चिन्ह् के रूप में भी काम में आती थी।

आभूषण मनुष्य स्वयं ही नहीं पहनता बल्कि अपने मवेशियों, घरों एवं वाहनों तक को पहनाता है। रंगीन वस्त्र, ऊन, पंखा, कौड़ी आदि से बने आभूषण घोड़ा हाथी, ऊँट आदि प्राणियों को पहनाये जाते हैं। शुभ चिन्हों के रूप में घरों के दरवाजे, चौखट, नींव आदि पर आभूषण लटकाये, बाँधे या रखे जाते हैं। अशोक व आम के पत्तों की बंदनवार विभिन्न अवसरों पर घरों के दरवाजों पर बाँधी जाती हैं। कौड़ी, नीम्बू, मिर्च की माला बना कर घरों की चौखटों पर बाँधी जाती हैं। जैनस पायरम (Xanous pyrum) नामक जाति के शंख घरों की नींवों में रखे जाते हैं

इस जाति के बाँयी तरफ घुमाव वाले खोल (Sinistral shell) किसी जमाने में सोने के बराबर वजन में तुलते थे। जैसा पूर्व में कहा गया, मनुष्य अपने वाहनों तक को आभूषण पहनाने से नहीं चूकता। लोमड़ी तथा गीदड़ की पूँछ ट्रक के इंजन के बोनट पर बँधी हुई देखी जा सकती हैं। चलते वाहन में फरफराती पूँछ की अपनी ही शान होती है।

प्राणियों की तरह ही वनस्पतियाँ भी आभूषणों में उपयोग में लाई जाती हैं। संसार का वनस्पतिजन्य, सब से सुन्दर और कोमल आभूषण फूल होते हैं। अनेक पौधों के फूल जैसे गेंदा, हारसिंगार, चमेली, मोगरा, गुलाब आदि स्त्रियाँ बालों में टांगती हैं व नाना तरह से धारण करती हैं। राजस्थान व गुजरात के आदिवासी क्षेत्रों में जंगली जीनिया के लाल रंग के फूलों को स्त्रियाँ कानों में बालियों की तरह पहनती हैं। इसी तरह सन (क्रोटेलेरिया जंसिया) नाम के पौधे के बजने वाले फलों से एवं बबूल की फलियों से पायजेब बना कर पहनती हैं।

अनेक वानस्पतिक उत्पाद माला बनाने के काम आते हैं। फूल, रुद्राक्ष, खिरनी की लकड़ी के मणिये, खजूर के फल की गुठली आदि अनेकानेक चीजें तरह-तरह की माला बनाने में प्रयुक्त होती हैं। मालायें पूजा-पाठ के कार्यों से लेकर वैवाहिक कार्यों तक समान रूप से पहनी जाती हैं।

विवाह-शादी में पीपल के पत्ते, दूब घास का गुच्छा, अशोक की पत्तियाँ आदि भी दूल्हा-दुल्हन के सिर पर बाँधी जाती हैं। ये मांगलिग आभूषण विवाह, पुत्र-जन्म व धार्मिक उत्सवों में खूब देखने को मिल जाते हैं। कई चीजें हालाँकि वास्तविक आभूषणों की श्रेणी में भले ही न आती हों, परन्तु उनका भी गहनों की तरह शोभाकारी महत्व है। उदाहरणार्थ मेंहदी, तिलक आदि। भारत में मेंहदी का श्रृंगार में खूब उपयोग होता है। राजस्थान एवं गुजरात क्षेत्र में आदिवासी बालायें मेंहदी की जगह पर जंगल में उगने वाले टीमडिया नामक पौधे के डंठल तथा फूलों को पीस कर हाथ पर उसी तरह रचाती हैं जैसे अन्य वर्गों में मेंहदी रचाई जाती है। तिलक तो गोरोचन, हल्दी, चंदन आदि के लगाये जाते हैं। गोरोचन प्राणिजन्य तथा हल्दी व चंदन वानस्पतिक उत्पाद है।

धात्विक आभूषणों के चलन से पूर्व वनस्पतिजन्य एवं प्राणिजन्य आभूषण ही चलन में आये। समय के साथ मनुष्य ने काफी प्रगति की है लेकिन वानस्पतिक एवं प्राणिजन्य आभूषणों का साथ मनुष्य आज तक नहीं छोड़ पाया है।

■ ■

जीवन और मृत्यु की शारीरिकी

डॉ० केशव कुमार

जीव विज्ञान तथा चिकित्सा विज्ञान के ग्रन्थों में जीवद्रव्य की उत्पत्ति, संरचना तथा उसके गुणों का वर्णन तो मिलता है, परन्तु जीवन और मृत्यु के विषय में कोई भी साहित्य उपलब्ध नहीं है। 'ब्रह्मसूत्र' और 'उपनिषदों' से प्राप्त ज्ञान के प्रकाश में प्रस्तुत शोधकार्य जीवन और मृत्यु की शारीरिकी के अध्ययन करने के दृष्टिकोण से संचालित किया गया।

एक हजार गर्भवती महिलाओं में उनके गर्भ धारण करने के आरम्भ से लेकर अन्त तक यह अध्ययन किया गया कि उनके गर्भस्थ अथवा नवजात शिशुओं में हृदय की धड़कन, श्वसन तथा मस्तिष्क का कार्य कब प्रारम्भ होता है। यह भी निरीक्षण किया गया कि उपरोक्त महिलाओं के गर्भस्थ/नवजात शिशुओं के हृदय, फेफड़ों तथा मस्तिष्क के सक्रिय होने का क्रम क्या था।

अपनी स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त हो रहे एक हजार व्क्तियों में यह अध्ययन किया गया कि उनके हृदय की धड़कन, श्वसन तथा मस्तिष्क का कार्य कब बन्द हो जाता है। इसका भी निरीक्षण किया गया कि उपरोक्त मृत्यु को प्राप्त हो रहे व्यक्तियों के हृदय, फेफड़ों तथा मस्तिष्क के निष्क्रिय होने का क्रम क्या था।

अध्ययन के दौरान यह पाया गया कि सभी गर्भस्थ शिशुओं में सर्वप्रथम हृदय ने धड़कना आरम्भ किया था, परन्तु न तो श्वसन आरम्भ हुआ था और न ही मस्तिष्क सक्रिय था। गर्भ से बाहर आते ही सभी नवजात शिशुओं में पहले श्वसन आरम्भ हुआ था और उसके बाद मस्तिष्क ने कार्य करना प्रारम्भ किया था। नवजात शिशुओं ने रोना आरम्भ करने के पूर्व श्वास अपने फेफड़ों के अन्दर खींची थी और नवजात शिशुओं का रुदन उनके मस्तिष्क के सक्रिय होने का लक्षण था।

अपनी स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त हो रहे सभी व्यक्तियों में अध्ययन के दौरान यह पाया गया कि सर्वप्रथम उनकी वाणी अवरुद्ध हो गई, जो उनके मस्तिष्क के निष्क्रिय होने का लक्ष्य था। तत्पश्चात श्वसन अवरुद्ध हो गया और सबसे अन्त में हृदय की धड़कन बन्द हुई।

'ब्रह्मसूत्र' और 'उपनिषदों' में जीवात्मा को हृदय में निवास करने वाला, प्राण को मन तथा ज्ञानेन्द्रियों को जीवन प्रदान करने वाला, और मन को ज्ञानेन्द्रियों को नियंत्रित करने वाला बतलाया गया है। लेखक ने हृदय की धड़कन को 'जीवात्मा' इस आधार पर प्रतिपादित किया है क्योंकि जीवात्मा द्वारा पार्थिव शरीर छोड़ने पर हृदय की धड़कन बन्द हो जाती है अतः जीवात्मा यदि हृदय में किसी रूप में विद्यमान हो सकती है तो वह धड़कन के रूप में ही विद्यमान हो सकती है। लेखक ने श्वसन को 'प्राण' इस आधार पर प्रतिपादित किया है क्योंकि श्वसन द्वारा

एनाटामी विभाग, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-5

प्राण-वायु (ऑक्सीजन) फेफड़ों में प्रवेश करती है जहाँ से रक्त में मिलकर ऑक्सीहीमोग्लोबिन बनाती है, जो मस्तिष्क और ज्ञानेन्द्रियों में पहुँचकर उनकी कोशिकाओं को जीवित रखती है। ऑक्सीजन के बिना मस्किष्क की कोशिकायें तीन मिनट से ज्यादा जीवत नहीं रह सकती हैं। मस्तिष्क के मृत होते ही ज्ञानेन्द्रियां भी निष्क्रिय हो जाती हैं। लेखक ने 'मन' को मस्तिष्क का कार्य इस आधार पर प्रतिपादित किया है क्योंकि मन ही ज्ञानेन्द्रियों का अधिपति है तथा मस्तिष्क अपने कार्य द्वारा समस्त ज्ञानेन्द्रियों पर नियंत्रण बनाये रखता है।

जीवित पार्थिक शरीर के तीन जैविक अंगों (हृदय, फेफड़ा तथा मस्तिष्क) में विद्यामान होने के कारण क्रमशः जीवात्मा, प्राण और मन को लेखक द्वारा जीवन के तीन अवयवों के रूप में प्रतिपादित किया गया है। गर्भ में स्थित भ्रूण से लेकर गर्भ से बाहर आये नवजात शिशु में जीवन के तीनों अवयव (जीवात्मा, प्राण तथा मन) जिस क्रम में प्रवेश करते हैं, उसी के ठीक उल्टे क्रम में पार्थिव शरीर की मृत्यु के समय जीवन के उपरोक्त तीनों अवयव उसे छोड़कर सूक्ष्म शरीर में चले जाते हैं। यह तथ्य एक ऐसा वैज्ञानिक साक्ष्य है जो लेखक द्वारा वर्णित जीवन और मृत्यु की शारीरिकी की सत्यता की स्वयमेव अभिपुष्टि करता है।

संदर्भ

1. ब्रह्मसूत्र, 4/2/1-11
2. ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय और श्वेताश्वतर-उपनिषद्।

सर्दियों में कारगर, गर्मियों में बेहतर : मिट्टी का सौर-सुखावक

इस तकनीक से सुखाई गई चीजों की गुणवत्ता, स्वाद और गंध में अनोखा परिवर्तन आ जाता है

प्रकाश मधुकर

हमारे दैनिक भोजन पदार्थों में अनेक ऐसी चीजें भी शामिल हैं जिन्हें हम धूप में सूखाकर रख लेते हैं और बाद में आवश्यकतानुसार उनका उपयोग करते हैं। अचार, अनाज, पोदीना, धनिया, मसाले मौसमी सब्जियां, चिप्स आदि अनेक ऐसी चीजें हैं जिन्हें धूप में सुखाया जाता है और बाद में जरूरत पड़ने पर उनका उपयोग किया जा सकता है।

अक्सर महिलाएँ घरेलू कामकाज से निपटने के बाद ही चीजें सुखाने के काम में लगती हैं। इसका कारण यह है कि अक्सर धूप में रखी चीजें चिड़ियाँ आदि आकर या तो चुग लेती हैं या इधर-उधर बिखेर देती हैं। धूल-मिट्टी भी उड़कर इन सुखाने रखी चीजों पर आकर गिरती रहती हैं, जिसे महिलायें रोक नहीं पातीं। हाँ, अगर तेज हवा चले अथवा बारिश का अंदेशा हो तो चीजें उठाकर भीतर रख लेती हैं। इन सबके अलावा खुली धूप में चीजें सूखने में समय भी अधिक लेती हैं।

इन सब परेशानियों को देखते हुए धूप में चीजें सुरक्षित रूप से सुखाने के लिए 'सोलर ड्रायर' नाम से एक साधारण सी तकनीक ढूंढ ली गई हैं। मिट्टी के धूप चूल्हे की ही तरह मिट्टी का 'सोलर ड्रायर' भी बनाया जा सकता है। मिट्टी का धूप सुखावक (ड्रायर) भी घर के आस-पास असानी से उपलब्ध चीजों जैसे मिट्टी, ईंट, पत्थर, या ऐसे ही सस्ते साधनों से बनाया जा सकता है। इसमें खरीदकर लगाई जाने वाली वस्तु है पारदर्शी एक्रीलीन शीट।

इसे बनाने के लिए 2.4 मीटर लम्बा और 1.2 मीटर चौड़ा स्थान चाहिए। चित्र में स्पष्ट किया गया है कि इसकी एक ओर की दीवार मात्र 22 से० मी० ऊँची रखी जाती है जबकि दूसरी ओर की दीवार 1 मीटर ऊँची रखी जाती है। छोटी दीवार की निचली तरफ और बड़ी दीवार की ऊपरी तरफ 5×5 सेमी० के छेद छोड़े जाते हैं ताकि हवा का प्रवाह बना रहे।

बीच में बांस की बल्लियों से एक मचान तैयार किया जाता है। इस पर तार की जाली या टाट पल्ली भी बिछाई जा सकती है। इसी पर सुखाने वाला अनाज अथवा मसाले आदि रखे जाते हैं। ऊपर से इस सुखावक को पारदर्शी एक्रीलीन शीट की दोहरी परत से ढँक देते हैं। परतों के बीच 2 सेमी० का अन्तर रखा जाता है, जिसके कारण हवा का ताप बाहर नहीं निकल पाता।

मिट्टी का सौर सुखावक
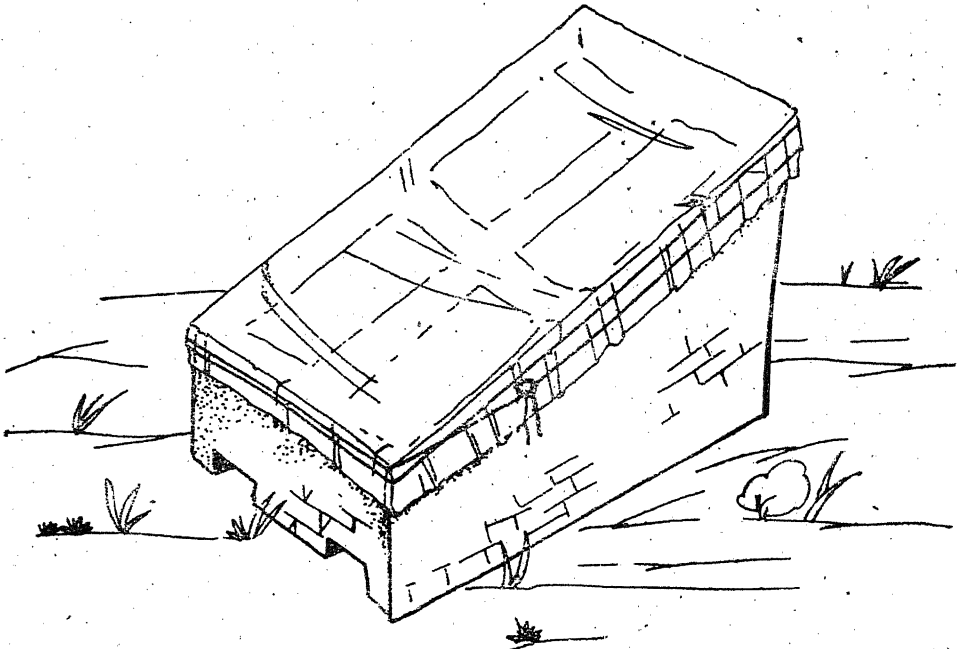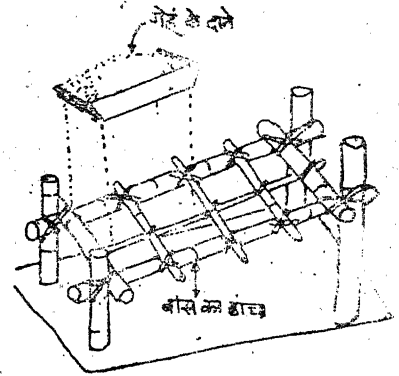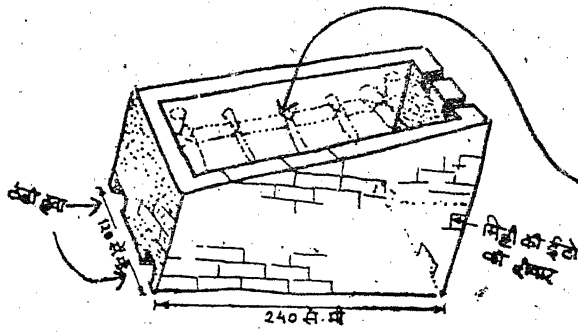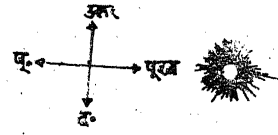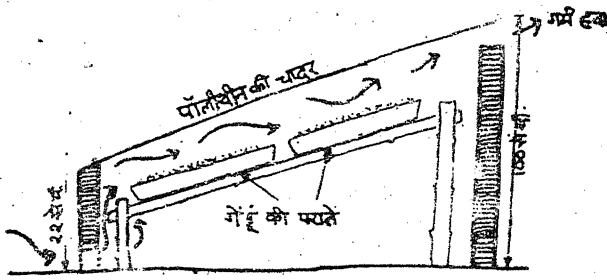
सुखावक की भीतरी दीवारों को कोलतार से पोत लिया जाता है। जब धूप की किरणें पारदर्शी शीट से होकर इस पर पड़ती हैं तो भीतर कोलतार पुती दीवारें ऊष्मा का अवशोषण करती हैं और भीतर की हवा गर्म हो जाती हैं। यह गर्म हवा ऊपर उठती है और सूखने रखी चीजों की नमी खींच ले जाती है। ऊपर बने छेदों से यह हवा बाहर निकल जाती है और इसका स्थान ले लेती है नीचे के छेदों से आने वाली ठंडी हवा। वह पुनः गर्म होकर ऊपर उठती है और इसी क्रम में भीतर रखी चीजें आराम से और तेजी से सूख जाती है।

इस सुखावक को बनाने में चार दिन लग जाते हैं। यदि गृहस्वामी इसे बनाने में मिस्त्री को सभी सामग्री के साथ घर का एक आदमी सहयोग के लिए दे तो 300 रुपये में वह यह सुखावक तैयार कर सकता है। इसमें प्रयुक्त होने वाली एक्रीलीन शीट की एकहरी परत भी लगाई जा सकती है पर दोहरी परत सुखावक की कार्यक्षमता बढ़ा देती है। इस तरह के सुखावक में सूखने वाली चीजों की गुणवत्ता और स्वाद बढ़ जाता है।

यूँ तो एक्रीलीन की यह परत खराब होने पर बदलनी पड़ती है पर यदि सावधानी बरती जाए तो दो साल तक भी काम दे जाती है। जब सुखावक का उपयोग न हो रहा हो तो इसे चारों ओर से ढँक कर करके रखना चाहिए। बरसात में इसके ऊपर पानी जमा नहीं होने देना चाहिए। (ईईजी फीचर्स) ■ ■

(पृष्ठ 38 का शेषांश)

अध्ययनों से पता चला कि मिर्च को ओषधि के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है। कटिवात (लंबागो) और गठिया में मिर्च से बनी दवाएँ फायदा करती है जहाँ मिर्च एक टॉनिक की तरह काम करती है।

पोषण की दृष्टि से भी मिर्च का खासा महत्व है। मिर्च में खासतौर से विटामिन-सी की मात्रा पाई जाती है। विटामिन-सी के लिए मशहूर संतरा, नींबू वगैरह से भी ज्यादा। इस खोज के लिए हंगरी के वैज्ञानिक सेंट ज्योजी को सन् 1937 में 'नोबेल पुरस्कार' भी मिला था। [ईईजी फीचर्स]

अजूबा मशीन : साइकिल दौड़े मोपेड की चाल

साइकिल की चेन से जुड़ने वाली इस मशीन से साईकिल की गति तो बढ़ती ही है, श्रम भी कम करना पड़ता है

सुधीर पाण्डेय

जहाँ एक ओर भारत में 'स्टेटस' के नाम पर दिन-ब-दिन चारपहिया और दुपहिया यांत्रिक वाहनों की खपत बढ़ती जा रही है, वहीं विकसित देशों में कई कारणों से लोग साइकिल की ओर लौट रहे हैं। यहाँ साइकिल प्रतीक है निम्नस्तरीय, गरीब तबके की, जबकि विकसित देशों में यह पर्यावरण के अनुकूल, स्वास्थ्यवर्धक, सस्ता, सुंदर और टिकाऊ साधन मानकर अपनाया जा रहा है।

एक सर्वेक्षण के अनुसार एक ओर जहाँ 46 करोड़ लोगों के पास अपने वाहन हैं, वहीं दूसरी ओर 80 करोड़ लोग साइकिल धारक हैं। कार जैसे-जैसे आधुनिक होती जा रही है, उसकी कीमतें भी उसी अनुपात में दुगनी रफ्तार से बढ़ रही हैं। जाहिर है, अब हर आदमी कार नहीं खरीद सकता। पर साइकिल अभी भी आम आदमी की पहुँच में है। इसीलिए साइकिल की गति व टिकाऊपन बढ़ाने पर निरंतर प्रयास जारी है।

बार्सिलोना में हुए ओलंपिक में 4000 मीटर की दौड़ में प्रथम स्थान पर रही साइकिल इतनी आधुनिक थी कि वह कार की गति से दौड़ सकती है। पर इस तकनीक के कारण उसकी कीमत बढ़कर 30 हजार डॉलर हो गई। अगर यह व्यावसायिक रूप से भी प्रचलित हुई तो भी 2000 डॉलर से कम कीमत की नहीं होगी। एक ओर जहाँ कीमत की बात है वहीं दूसरी ओर ऊर्जा के दृष्टिकोण से देखा जाए तो कार 1, 860 कैलोरी प्रति किलोमीटर ऊर्जा खर्च करती है, जबकि साइकिल मात्र 35 कैलोरी।

भारत में भी साइकिल की उत्कृष्टता बढ़ाने के लिए प्रयास होते रहे हैं। यह प्रयास जहाँ एक ओर साइकिल निर्माताओं की ओर से होते रहे हैं वहीं स्थानीय स्तर पर भी उसे अधिक कारगर बनाने के प्रयास होते रहते हैं।छपरा, बिहार के एक साइकिल मिस्त्री मो० नईम खान ने आम साईकिलों में लगाने के लिए एक नये किस्म के मशीन के आविष्कार का दावा किया है।

मो० नईम की इस नई मशीन का नाम है 'अजूबा मशीन'। मो० नईम का दावा है कि इस मशीन के कारण साइकिल कि गति लगभग डेढ़गुना बढ़ जाती है। यही नहीं, इसमें प्रयास भी आधा ही लगता है और साथ ही साइकिल एकदम खुली चाल से चलती हैं।

ऊर्जा पर्यावरण समूह, एच-12, ओल्ड डबल स्टोरी, लाजपत नगर-4 नई दिल्ली-110 024
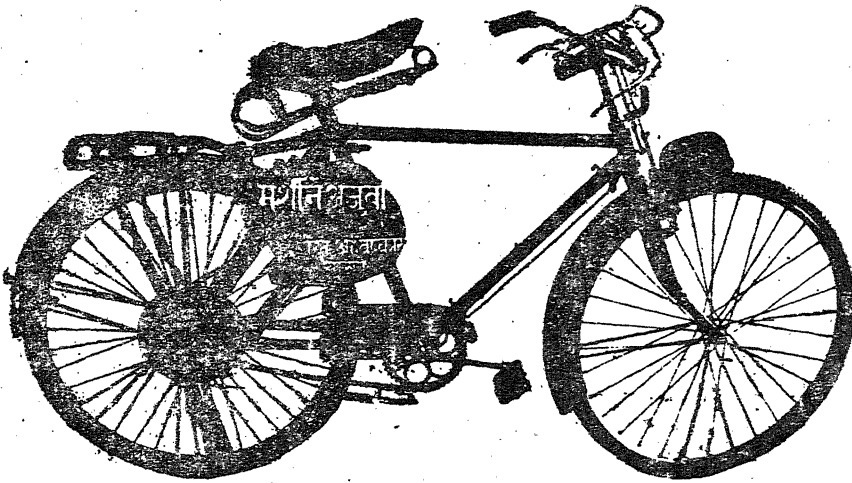
अजूबा मशीन बनाने के लिए लोहे की एक भारी प्लेट (जिसमें दांत बने रहते हैं, एवं जो लगभग आठ किलो का होता हैं), एक चेन एवं एक गियर की जरूरत होती है। यानि आम साइकिल में सवा सौ रुपये की अतिरिक्त लागत। मो० नईम कहते है कि दरअसल साइकिल को तेज गति लोहे का भारी प्लेट ही देता है। अपने भार के कारण यह साइकिल को अत्याधिक तीव्रता से आगे बढ़ाता है। साइकिल के पिछले पहिये में लगे गियर से एक चेन की सहायता से लोहे के भारी प्लेट को जोड़ा जाता है। जब हम पैंडल का उपयोग करते हैं तो यह प्लेट पिछले पहिये के चलने के साथ ही घूमने लगता है, जो फिर धीरे-धीरे तेज होता जाता है।

आम साइकिलों में तेज चलने वाली सवारियों में 'शॉक आब्जर्वर' का उपयोग किया जाता है। तो क्या इस 'अजूबा साइकिल' में भी 'शॉक आब्जर्वर' है। मो० नईम कहते हैं कि इसमें 'शॉक आब्जर्वर' सीट के नीचे लगाया गया है।

मो० नईम को इस बात का दुःख है कि अभी तक इनके इस मशीन के व्यवसायिक स्तर पर उत्पादन के लिए किसी कंपनी ने दिलचस्पी नहीं दिखाई है। हॉलाकि मो० नईम सभी नामी-गिरामी साइकिल कंपनियों से पत्र-व्यवहार कर चुकें है। मो० नईम को इल बात का भी डर है कि कहीं कोई बड़ी कंपनी इनके आविष्कार को चुरा न ले। इस आविष्कार को वे अपने चालीस साल के साइकिल मरम्मत के कैरियर की सबसे बड़ी उपलब्धि मानते हैं। इनका मानना है कि जल्द ही इनके इस आविष्कार को कामयाबी मिलेगी। इस संबंध में अधिक जानकारी के लिए मो० नईम से नीचे लिखे पते पर सम्पर्क किया जा सकता है : मो० नईम खान, मोहल्ला गढ़हीतीर, पो० भगवान बाजार, छपरा (बिहार)-831 301

(ईईजी फीचर्स)

■ ■

साइकिल जो कभी बन जाये ठेला तो कभी एंबुलेंस

राजीव गुप्ता

भारतवर्ष एक ऐसा देश है जहाँ 90 करोड़ की कुल आबादी में करीब 3 करोड़ लोग व्यक्तिगत आवाजाही के लिए साइकिल का प्रयोग करते हैं। इस सस्ते, सुन्दर और टिकाऊ वाहन का इस्तेमाल हमारे देश के लगभग 70 फीसदी ग्रामवासी करते हैं। इस द्विचक्रवाहिनी रथ की एक खूबी यह है कि आम आदमी इसे खरीद सकता है और थोड़े-बहुत रखरखाव के जरिए सालों-साल इसे बरत सकता है।

इस वाहन की दूसरी खूबी यह है कि यह केवल पक्की तारकोली सड़कों पर ही नहीं बल्कि गांव-देहात की कच्ची, पथरीली राहों पर भी बखूबी चल सकता है। वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है विश्व भर में साइकिल ही एक ऐसा वाहन है जिसमें चंद किलोमीटरों की कम दूरी (जैसे 4-5 किलोमीटर) तय करने में कम से कम ऊर्जा व्यय होती है। यहाँ तक कि 4-5 किलोमीटर पैदल चलने में भी साइकिल से ज्यादा ताकत लगती है।

खैर, इस सर्वगुणसंपन्न वाहन के एक अन्य उपयोग से हम आपका परिचय कराना चाहते हैं जिसका नाम है—साइकिल ठेला। इस साइकिल ठेले (या साइकिल ट्रेलर) का सीधा सा मतलब है साइकिल के साथ जुड़ कर चलने वाला पहियेदार ठेला जिसके कई रूप हैं। यह एक, दो या चार पहिये वाला ठेला भी हो सकता है। खुले ठेले का इस्तेमाल अनाज अथवा ताजी सब्जियां ढोने के लिये किया जा सकता है जबकि ऐसा ही बन्द डिब्बानुमा ट्रेलर छोटे बच्चों को स्कूल लाने-ले-जाने के काम आ सकता है। एक मॉडल यह भी है जिसमें साइकिल के पीछे 'चैसिस' यानी कि एक ऐसा जालीदार कैरियर जिसका उपयोग किसी बीमार आदमी को एक गद्दा बिछाकर लेटे-लेटे हस्पताल पहुँचाने हेतु किया जा सकता है। अक्सर यह देखा गया है कि गांव-देहात में रोगियों को अस्पताल पहुँचाने के लिए कोई वाहन होता नहीं है इसलिए साइकिल का यह सुधरा रूप गांव में काफी उपयोगी सिद्ध होता है।

चैसिस-ट्रेलर के अलावा साइकिल-ट्रेलर का एक और मॉडल है जिसका नाम है टैंकर ट्रेलर। यह चैसिस ट्रेलर का ही एक उन्नत स्वरूप है, जिसमें एक टंकी का प्रावधान है जिसमें आप चाहे तो पानी ले जावें या घासलेट, या फिर दूध।

हालाँकि यहाँ मात्र तीन मॉडलों का जिक्र किया गया है, परन्तु थोड़े-बहुत परिवर्तन से साइकिल-ट्रेलर को अनेक क्रियाकलापों के लिए उपयोगी बनाया जा सकता है। दरअसल इसकी विशेषता यह है कि आप जब चाहें ट्रेलर

ऊर्जा पर्यावरण समूह, एच-12, ओल्ड डबल स्टोरी, लाजपत नगर-4, नई दिल्ली-110024
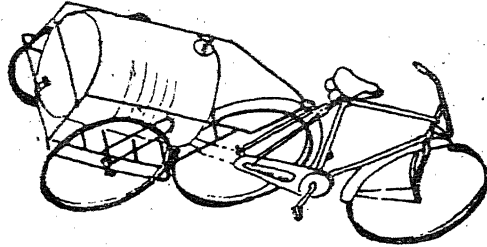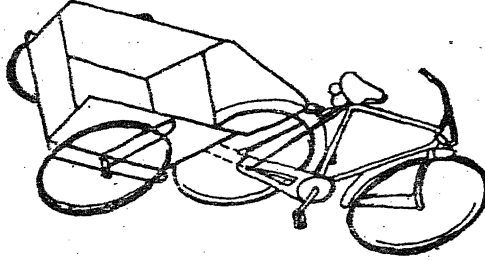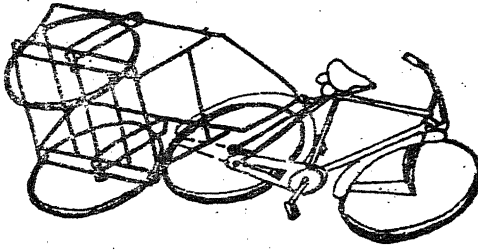
लगाएँ और जब चाहें ट्रेलर निकालकर खाली साइकिल का प्रयोग करें। साइकिल से अलग किये गए ट्रेलर को आप कीचड़-पानी या खेत-मैदान में हाथ-ठेले की तरह भी चला सकते हैं।

यह साइकिल-ट्रेलर 150 किलो तक का वजन सहज रूप से उठा सकता है। हमने तो महाराष्ट्र के यवतमाल जिले में एक 65 साल के सज्जन को इस ट्रेलर में 80 किलो आलू ले जाते हुए देखा है। उम्र का तकाजा है, वर्ना इससे दुगना बोझा आसानी से इस साइकिल ठेले पर ले जाया जा सकता है। इसका संतुलन भी अच्छा है और इसे चलाने में कोई विशेष जोर भी नहीं पड़ता है। इसकी मदद से खेती के उत्पाद, घरेलू सामग्री व गली-गली रेहड़ी पर बेचे जाने वाले सभी प्रकार के सामान का यातायात किया जा सकता है। चूंकि इस साइकिल ठेले के के अलग-अलग नमूने उपलब्ध हैं, अतः इसकी मोटी कीमत 1200 से 1500 रुपये के बीच है। अधिक जानकारी के लिए निदेशक, एन टी टी एफ ट्रेनिंग सेन्टर, दवा जिगुदम, गन्नावरम-521101, कृष्णा जिला (आन्ध्रप्रदेश) से सम्पर्क करें। खतो-किताबत अंग्रेजी में कर सकें तो अच्छा है, क्योंकि यह संस्था दक्षिण भारत में है और हो सकता है हिन्दी में आप को जवाब न दे पाएँ।

(ईईजी फीचर्स)

■ ■

लाल मिर्च ने किया कमाल

लाल मिर्च न सिर्फ खाने में स्वाद बढ़ाती है बल्कि एक कारगर कीटनाशक भी है

डॉ० रमेश दत्त शर्मा

मिर्च हिन्दुस्तानी भोजन का खास हिस्सा है। यह और बात है कि लाल मिर्च को 'केन्द्रबिंदु' मानते हुए उस पर एक हिन्दी फिल्म 'मिर्च-मसाला' भी बनाई गई है। फिल्म में लाल मिर्च का उपयोग इस लेख की विषय वस्तु से बाहर है इसीलिए हम लौट चलते है अपनी विषय वस्तु पर। ना केवल यह मसाले के रूप में इस्तेमाल होती हैं परन्तु चटनी, अचार इत्यादि में रंग और चटपटापन भी पैदा करती है। स्वाद के साथ-साथ यह किसानों को धन्ना सेठ भी बनाती है और देश के लिए बहुमूल्य विदेशी मुद्रा भी कमाती है। यही कारण है कि यह एक अच्छी नकद फसल के रूप में उगाई जाती है।

माना जाता है कि 17वीं शताब्दी में लाल मिर्च दक्षिण अमेरिका से भारत आई। लेकिन आज यह आलम है कि देश में लगभग 8 लाख हेक्टेयर क्षेत्र में इसकी खेती की जाती है। आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक और तमिलनाडु ऐसे राज्य हैं जहाँ 75 प्रतिशत खेती मिर्च की ही कि जाती है। अन्य इलाकों में किसान ज्वार, रागी, कपास, अरंडी तथा मूँगफली की फसल के साथ इसे उगाते हैं ताकि उनकी अपनी आवश्यकता पूरी हो सके।

लाल मिर्च के भोजन में इस्तेमाल से तो प्रायः सभी परिचित हैं, परन्तु यह बहुत कम लोग जानते हैं कि लाल मिर्च को एक कीटनाशक की तरह भी प्रयोग में लाया जा सकता है। ऐसा देखा गया कि एफिड, सूंडी तथा झींगुर के आक्रमण को रोकने के लिए मिर्च का घोल प्रभावकारी होता है।

परन्तु-ऐसा नहीं है कि पिसी हुई लाल मिर्च को सीधे ही फसलों छिड़क दिया, अन्य कीटनाशकों की तरह इसे कीटनाशक बनाने के लिए सौ ग्राम पीसी हुई लाल मिर्च में एक लीटर पानी डाल कर उसे लगभग 24 घंटों के लिए पड़ा रहने देते हैं। फिर इस घोल को पतले कपड़े से छान लेते हैं और इसमें इतनी ही मात्रा का साबुन घुला पानी मिला देते है। साबुन वाले पानी के कारण यह 'कीटनाशक' की तरह पत्तों व टहनियों पर चिपक जाता है। हालांकि कुछ किसान लाल मिर्च के पाउडर का छिड़काव भी करते हैं, परन्तु साबुन के इस्तेमाल ना करने की वजह से हाथ व आंखें जलने लगती हैं। और इसका असर भी कम होता है क्योंकि तेज हवा चलने पर मिर्च हवा में इधर-उधर फैल जाती है।

भंडारण के दौरान भी अनाज को कीड़ों से बचाया जा सकता है लाल मिर्च से। बस करना केवल इतना है कि अनाज में मिर्च पाउडर मिला दें। मात्रा का अंदाजा अनाज की मिकदार के हिसाब से लगाया जा सकता है। ध्यान रहे कि इस्तेमाल करते समय अनाज धो लें अन्यथा सारे अनाज में मिर्च का स्वाद आता रहेगा।

(शेषांश पृष्ठ 33 पर)

ऊर्जा पर्यावरण समूह, एच-12 ओल्ड डबल स्टोरी, लाजपत नगर-4, नई दिल्ली-110 024

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय सुहृद !

"विज्ञान" पत्रिका के अनियमित प्रकाशन से आप सब को कितनी परेशानी हो रही है, इसका मुझे एहसास है। परिषद् से जुड़े आप सब की पीड़ा को भी मैं महसूस कर रहा हूँ। आप कितने चिन्तित है, इसका प्रमाण है आप द्वारा लिखे गये सैकड़ों पत्र जिनमें आपने अपने उद्‌गार व्यक्त किए हैं, पर क्या करें ? हमारे प्रयास जारी हैं और शीघ्र ही फलीभूत होंगे।

किन्तु इस बीच परिषद् की कुछ अन्य गतिविधियाँ अबाध रूप से चलती रही हैं। 2 जनवरी 1995 को प्रोफेसर नीलरत्न धर की जयन्ती पर "कृषि विज्ञान में प्रो० धर का योगदान" विषय पर एक विचार गोष्ठी आयोजित की गयी थी। इसमें कुछ लोग ही आ सके क्योंकि काफी लोग 'भारतीय विज्ञान कांग्रेस' में भाग लेने कलकत्ता चले गये थे। फिर भी यह विचार गोष्ठी अत्यन्त सफल रही।

अमेरिका में शोधरत श्री आशुतोष मिश्र जी का 12 जनवरी, 1995 को 'गैस प्रावस्था में गतिकी अध्ययन" विषय पर एक अत्यन्त रोचक, चिन्तनपरक और सूचनाप्रद व्याख्यान हुआ। परिषद् के हितैषी और आजीवन सभ्य प्रो० दिव्य दर्शन पन्त (अवकाशप्राप्त अध्यक्ष, वनस्पति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) को भारतीय विज्ञान कांग्रेस के अवसर पर प्रथम 'प्रो० बीरबल साहनी शताब्दी मेडल' देकर सम्मानित किया गया। प्रो० पंत को 17 जनवरी, 1995 को परिषद् में आमन्त्रित करके एक सम्मान समारोह का आयोजन किया गया और अनेक वक्ताओं वनस्पति विज्ञान को उनकी देन पर विस्तार से चर्चा की।

इसी के बाद 18 जनवरी को प्रातः स्मरणीय स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी के स्वर्गवास का हृदयविदारक समाचार मिला। स्वामी जी और विज्ञान परिषद् एक लम्बी अवधि से एक दूसरे के पर्याय रहे हैं। स्वामी जी के निधन के आघात से हम कब उबर पायेंगे कुछ कहा नहीं जा सकता।

25 जनवरी को परिषद् में स्वर्गीय स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती श्रद्धांजलि सभा और शांति हवन हुआ। इस सभा में विश्वविद्यालय के अध्यापक, आर्य समाज के विद्वान और नगर के गण्यमान व्यक्तियों ने उपस्थित होकर दिवंगत आत्मा को श्रद्धांजलि अर्पित की। परिषद् में स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती कोष की भी स्थापना हो गयी है और इसमें 8,350/- (आठ हजार तीन सौ पचास) रुपये एकत्र हो गये हैं। इसी सन्दर्भ में मैं आप सभी से दो निवेदन करना चाहता हूँ। एक तो स्वामी जी के संस्मरण हमें लिखकर शीघ्र भेजने की कृपा करें। हम स्वर्गीय स्वामी जी की स्मृति में 'विज्ञान' का एक विशेषांक निकालना चाहते हैं। और दूसरा निवेदन यह है कि आप अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती कोष के लिए धन भेजने का अनुग्रह करें ताकि स्वामी जी के व्यक्तित्व और परिषद् के लिये किये गये उनके योगदान के अनुरूप हम स्वामी जी की याद को चिरस्थायी बनाने के लिये कुछ ठोस कदम उठा सकें।

पिछले दिनों कुछेक और विचार गोष्ठियाँ आयोजित की गयीं। 28 फरवरी को 'राष्ट्रीय विज्ञान' दिवस' के अवसर पर "भारतीय विज्ञान के शलाका पुरुष रामन" विषय पर, 10 मार्च को परिषद् के 'स्थापना दिवस' के अवसर पर "परिषद् की गतिविधियाँ—उपलब्धियाँ एवं कमियाँ" विषय पर, 14 मार्च को प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन के 116वें जन्म दिन पर "ऐल्बर्ट आइंस्टीन—वैज्ञानिक भी, संत भी" विषय पर और 21 मार्च को 'विश्व वानिकी दिवस' के अवसर पर "सामाजिक वानिकी की प्रासंगिता" विषय पर विचारगोष्ठियाँ सम्पन्न हुईं।

आगामी 7 अप्रैल को 'विश्व स्वास्थ्य दिवस' के अवसर पर एक विचार-गोष्ठी होगी जिसमें कुछ चिकित्सकों ने भी भाग लेने का आश्वासन दिया है।

अंत में एक शुभ समाचार। विज्ञान परिषद् के सभापति और सी० एस० आई० आर०, नई दिल्ली के महानिदेशक, डॉ० श्रीकृष्ण जोशी का 19 फरवरी 1995 को विज्ञान परिषद् में आगमन हुआ था। हमें परिषद् में डॉ० जोशी के स्वागत का अवसर मिला और साथ ही परिषद् की आर्थिक कठिनाइयों को उनके समक्ष रखने का भी। मैं यह पंक्तियाँ लिखते हुए अतीव प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ कि सी० एस० आई० आर०, नई दिल्ली ने परिषद् को 30,000/- (तीस हजार) रुपयों की एक अतिरिक्त अनुदान राशि प्रदान करने की स्वीकृति दी है। इसके लिए हम सी० एस० आई० आर०, नई दिल्ली और महानिदेशक डॉ० श्रीकृष्ण जोशी जी के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

आपका
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान

फार्म 4
(नियम 8 देखिये)

1.	प्रकाशन का नाम	विज्ञान
2.	प्रकाशन स्थान	विज्ञान परिषद् इलाहाबाद-211002
3.	प्रकाशन अवधि	मासिक, प्रत्येक मास का 15 दिनांक
4.	मुद्रक का नाम	श्री अरुण राय
	क्या भारत का नागरिक है ?	हाँ
	पता	7 बेली एवेन्यु, इलाहाबाद-2
5.	प्रकाशक का नाम	डॉ० देवेन्द्र दत्त नौटियाल
		अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष, वनस्पति विभाग,
	पता	इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
	क्या भारत का नागरिक है ?	हाँ
6.	सम्पादक का नाम	प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
	क्या भारत का नागरिक है ?	हाँ
	पता	वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
7.	उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों	

मैं देवेन्द्र दत्त नौटियाल, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं ।

दिनांक : 23-3-1995

देवेन्द्र दत्त नौटियाल
प्रधानमन्त्री, विज्ञान परिषद् इलाहाबाद

ISSN 0373-1200

अप्रैल-मई 1995 अंक

मूल्य : 6 रु०

कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च
नई दिल्ली के
आर्थिक अनुदान द्वारा प्रकाशित

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915

अप्रैल-मई 1995; वर्ष 81 अंक 1-2

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु०, वार्षिक : 25 रु०

एक प्रति : 3 रु० 50 पैसे

इस अंक का मूल्य : 6 रु०

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक	सम्पादक	मुद्रक	सम्पर्क
डॉ० डी० डी० नौटियाल	प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव	अरुण राय	विज्ञान परिषद्
प्रधानमंत्री	सहायक संपादक	प्रसाद मुद्रणालय	महर्षि दयानन्द मार्ग
विज्ञान परिषद् प्रयाग	डॉ० दिनेश मणि	7 बेली एवेन्यू, इलाहाबाद	इलाहाबाद-211002

चन्द्रशेखर वेंकट रामन

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

चन्द्रशेखर वेंकट रामन का जन्म 7 नवम्बर 1888 को तमिलनाडु के त्रिचुरापल्ली के निकट एक गांव में हुआ था। रामन एक प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे। उन्होंने 1904 में बी० ए० और 1907 में एम० ए० की डिग्रियाँ प्रथम स्थान लेकर प्राप्त कीं। उनका प्रथम शोध पत्र लण्डन की एक शोध पत्रिका 'फिलॉसॉफिकल मैगज़ीन' में प्रकाशित हुआ। इस समय वे विद्यार्थी ही थे और उनकी उम्र मात्र 18 वर्ष की थी।

विजातीय कन्या लोक सुन्दरी से बिना दहेज का ब्याह करके उन्होंने कम उम्र में ही एक क्रांतिकारी कदम उठाया था।

प्रतियोगी परीक्षा में प्रथम आकर उन्होंने 1907 में 'फिनेंशियल सिविल सर्विस' कर लिया और कलकत्ता में असिस्टेंट एकाउन्टेंट जेनेरल बनाकर भेज दिए गए। पर उन्हें तो भारतीय विज्ञान की पताका देश-विदेश में फहरानी थी। उनके हृदय में तो विज्ञान रचा-बसा था। अतएव 1917 में 1100 रुपये प्रतिमाह की उच्च सरकारी नौकरी छोड़कर उन्होंने 600 रुपये प्रतिमाह पर कलकत्ता विश्वविद्यालय में 'पालित प्रोफेसर' का पद सहर्ष स्वीकार कर लिया।

इस समय कलकत्ता विश्वविद्यालय में रामन का कार्य संगीत वाद्यों पर शोध का था। उन्होंने 'मृदंगम' और 'तबला' पर कुछेक प्रयोग किए और यह खोज की कि उच्च स्तरीय इन सुमधुर वाद्यों की तुलना में विदेशी 'ड्रम' मात्र शोर पैदा करने वाला वाद्य यंत्र हैं। यहीं एक बात विशेष उल्लेखनीय है और वह यह कि इसी समस्या पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय की एम० एस-सी० परीक्षा के लिए बनाये प्रश्नपत्र में भी उन्होंने प्रश्न रखा। हरिश्चन्द्र नामक विद्यार्थी के उत्तर से रामन अत्यंत प्रभावित हुए। आगे चलकर हरिश्चन्द्र प्रसिद्ध गणितज्ञ हुए। रामानुजन के बाद भारत में इतना प्रतिभाशाली गणितज्ञ शायद ही दूसरा कोई हुआ हो। वैसे इसकी पुष्टि तो कोई गणितज्ञ ही कर सकता है।

शोध के क्षेत्र में 'ऑप्टिक्स' रामन का 'प्रथम-प्यार' था। 1921 में एक यात्रा के दौरान भूमध्यसागर के ऊपर से गुजरते हुए सागर के जल के नीले रंग ने उनका ध्यान आकर्षित किया। भारत आकर वे इसी की खोज में जुट गए और अंततः 'रामन प्रभाव' के नाम से प्रसिद्ध खोज उन्होंने 1928 में 28 फरवरी को कर डाली। बाद में 1930 में उन्हें इस खोज के जिए 'नोबेल पुरस्कार' प्रदान कर सम्मानित किया गया। सरल शब्दों में रामन की खोज यह है कि जब किसी माध्यम द्वारा प्रकाश का विखराव होता है, उसके रंग या फ्रीक्वेंसी में बदलाव आ जाता है और यह बदलाव माध्यम की संरचना पर निर्भर करता है।

संपादक "विज्ञान", विज्ञान परिषद् प्रयाग, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211 002

दिसम्बर 1930 में जब रामन 'नोबेल पुरस्कार' वितरण समारोह में भाग लेने स्टाकहोम गए थे तो उस समय की एक रोचक घटना का उल्लेख करना समीचीन होगा।

वहाँ उपस्थित अनेक गण्यमान व्यक्तियों ने रामन से मदिरा पीने का अनुरोध किया। उनका कहना था कि मदिरा में 'रामन प्रभाव' तो उन्होंने देख लिया, अब रामन पर मदिरा (एल्कोहॉल) का प्रभाव देखना चाहते हैं।

रामन के एक जीवनी लेखक जी० वेंकटरामन ने कहा है, "सफलता शत्रु पैदा करती है। और रामन के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ। नोबेल पुरस्कार पाने के कारण उनसे ईर्ष्या करने वाले अनेक व्यक्ति उनके कट्टर दुश्मन हो गए।"

1932 में रामन को 'इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑव साइंस', बेंगलूर का निदेशक पद स्वीकार करने को कहा गया। इस प्रकार स्वाभाविक रूप से कलकत्ता में रामन का पद खाली हो गया। अपने बाद रामन के० एस० कृष्णन को कलकत्ता बुलाना चाहते थे पर, उसी पद के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय के डॉ० मेघनाद साहा भी दावेदार थे। आम सभा की बैठक में मतदान की स्थिति आ गई। रामन हार गए। इस पर कलकत्तावासी फूले नहीं समाये। ये वही लोग थे जिन्हें कभी रामन पर गर्व था और वे रामन की उपलब्धियों पर फूले नहीं समाते थे। 1933 में रामन बेंगलूर चले गए।

यहाँ भी रामन चैन से नहीं बैठ पाये। उनके विरोधियों ने उन पर 'डिक्टेटर' होने का आरोप लगाया। 'इरविन कमीटी' द्वारा अन्य कई आरोपों में धन के घपले (Embezzelment) का आरोप भी था। रामन जैसे ईमानदार व्यक्ति पर यह आरोप सर्वथा गलत था। यहाँ एक घटना का उल्लेख करना उचित होगा।

एक बार रामन ने कुछ युवा लोगों को रामन इंस्टीट्यूट में शोध छात्र की नियुक्ति के लिए साक्षात्कार के लिए बुलाया था। जो व्यक्ति चुने नहीं गये उन्हें तत्काल मार्ग व्यय देकर जाने के लिए कह दिया गया। उसमें से एक व्यक्ति बाद में एकाउण्ट आफिस (इंस्टीट्यूट का) बंद हो जाने के बाद पुनः रामन से मिलने आया। रामन ने उसे देखते ही कहा, "तुम फिर क्यों आये ? तुम्हें तो जाने के लिए कह दिया गया था। तुम चुने नहीं गए।"

युवक का उत्तर था—"सर में नौकरी की याचना करने नहीं आया हूँ। एकाउन्टेन्ट ने गलती से मुझे अधिक रुपये दे दिए हैं। ऑफिस बंद है। मैं रुपये आपको लौटाने आया हूँ।"

रामन उसकी ईमानदारी से अत्यन्त प्रभावित हुए और कहा—"तुममें प्रतिभा कुछ कम है, तो क्या हुआ तुम्हें मैंने नौकरी पर रख लिया, क्योंकि तुम आदमी ईमानदार हो। यही काफी है।" रामन ने निदेशक पद से 1937-38 में त्यागपत्र दे दिया। किन्तु 1948 में अवकाश प्राप्त करने तक इसी इंस्टीट्यूट में रहे।

1934 में रामन ने 'इण्डियन एकेडेमी ऑव साइन्सेज' की स्थापना की और जीवन के अंत तक इसके अध्यक्ष रहे।

रामन के जीवन के अंतिम 20 वर्ष 'रामन इंस्टीट्यूट' में व्यतीत हुए। इस दौरान इस इंस्टीट्यूट ने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। यहाँ रामन ने रत्नों (जेम्स)—हीरे-मोतियों आदि, पुष्पों के रंग और दृष्टि की

कायिकी (फिजियालोजी ऑव विजन) पर शोध किया। रामन की ही प्रेरणा से उनके एक भतीजे पंचरत्नम ने क्रिस्टल ऑप्टिक्स पर उच्चस्तरीय शोध किन्तु 35 वर्ष की अवस्था में ही पंचरत्नम को काल ने 1969 में अपना ग्रास बना लिया। कहते हैं पंचरनम की मृत्यु से रामन टूट से गए और फूट-फूट कर रोये। रामन में संभवतः जीने की लालसा ही शेष नहीं रही और शनिवार 21 नवम्बर 1970 को उनकी जीवन-लीला समाप्त हो गई।

रामन एक निर्भीक व्यक्ति थे। वे चाहते थे लोग उन्हे 'शेर दिल' व्यक्ति के रूप में याद करें।

रामन भौतिक विज्ञानियों में अग्रणी तो थे ही, समूचे विज्ञान के क्षेत्र में भी अग्रणी थे। कृतज्ञ राष्ट्र की सरकार ने "रामन प्रभाव" की खोज के दिन 28 फरवरी को "राष्ट्रीय विज्ञान दिवस" घोषित किया। फिर भी रामन विवाद के घेरे से बाहर न आ सके

कहते हैं लण्डन की रायल सोसायटी के म्यूजियम में रामन के शिष्य प्रसिद्ध भौतिकीविद् के० एस० कृष्णन की डायरी रखी है। इस डायरी में "रामन प्रभाव" की खोज का प्रतिदिन का विवरण लिपिबद्ध हैं। वैसे संभवतः भविष्य में कोई निष्पक्ष शोधकर्ता इस विवाद का निपटारा कर सके कि 'रामन प्रभाव' की खोज का श्रेय कृष्णन को भी मिलना चाहिए अथवा नहीं।

"रामन प्रभाव" की खोज का श्रेय केवल रामन को मिलना चाहिए या कि रामन-कृष्णन दोनों को, इससे रामन का कद छोटा नहीं होता है। रामन की अजस्र कीर्ति सदैव अक्षुण्ण रहेगी। लेसर की खोज से रामन के शोध का महत्व बढ़ा है। रामन का नाम विज्ञान के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा रहेगा।

रामन को बच्चों से बेहद लगाव था। वे भविष्य के प्रति आशावान थे। उनका स्वभाव विनोदी था। एक अवसर पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में तीन-तीन एफ० आर० एस० (फेलो ऑव रायल सोसायटी)-के० एस० कृष्णन, सी० वी० रामन और बीरबल साहनी—साथ-साथ थे। प्रेस फोटोग्राफर इन विशिष्ट वैज्ञानिकों को एक साथ पाकर फोटो लेने पहुँच गए। राम रुक गये और यह पूछे जाने पर कि 'क्या आप तीनों एफ० आर० एस० हैं।' रामन ने झट उत्तर दिया, "नहीं हम तीनों के० आर० एस० हैं" (कृष्णन-रामन-साहनी)। ऐसे विनोदी प्रकृति के थे डाक्टर सी० वी० रामन। उनकी स्मृति को कोटिशः नमन।

■ ■

क्या कहा ! एक ही पेड़ से चारा, ईंधन, फर्नीचर, रेशा व शैम्पू भी

'भीमल' पहाड़ी अंचल में पाया जाने वाला ऐसा वृक्ष है जिसकी बहुउपयोगी प्रतिभा को अब पहचाना जा रहा है

संध्या जोशी

पिछले कुछ वर्षों में जिस रफ्तार से पर्यावरण का विनाश हुआ है उससे तो ये लगता है कि उगाई जाने वाली फसलों को छोड़ कर कोई और उपयोगी पौधा बचा ही नहीं है। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ अब 'मल्टिपरपस ट्री' (बहुउपयोगी वृक्ष) का प्रचार कर रही हैं। इस प्रचार का एक असर ये भी हुआ है कि लोगों ने अपने यहाँ बची हुई उपलब्ध वनस्पति को नकारा समझना शुरू कर दिया है।

लेकिन पंजाब से लेकर बंगाल तक पहाड़ी अंचल में उगने वाला एक वृक्ष ऐसी सभी धारणाओं का सफाया करने में सक्षम है। हिन्दी भाषा में लोग इसे 'भीमल' के नाम से जानते हैं जबकि पौध-विशेषज्ञ इसे Grewia optiva कहते हैं। लगभग 4-5 फुट की मोटाई वाला यह वृक्ष 45 फुट ऊँचा हो जाता है अपने जीवनकाल में।

यदि एक ओर इसकी लकड़ी से उमदा फर्नीचर बनता है तो दूसरी ओर इसकी लकड़ी अधिक टिकाऊ होती है क्योंकि इस पर दीमक असर नहीं करती। इसमें से निकले रेशे से कई चीजें बनाई जा सकती हैं और इस वृक्ष की छाल से निकले 'रासायनिक पदार्थ' से 'शैम्पू' बनाया जाता है। यह कहने की तो जरूरत ही नहीं है कि पशुओं को यह अच्छा चारा देता है और भूमि को उर्वरा शक्ति। क्या यह वृक्ष 'बहुउपयोगी वृक्ष' की श्रेणी में खरा नहीं उतरता?

पोषक चारा : पर्वतीय क्षेत्रों में पशु चारे कि समस्या का समाधान है भीमल। अक्सर गाँव में भीमल को लोग खेतों की मेड़ों पर लगाते हैं ताकि इसकी पत्तियाँ पशुओं को खिलाई जा सकें। आमतौर पर पशुओं का दूध दुहते समय भीमल की पत्तियाँ खिलाई जाती है जिससे कि उनकी दूध देने की क्षमता में वृद्धि होती है। रासायनिक विश्लेषण से यह सिद्ध हुआ है कि भीमल की पत्तियों में 20·48 प्रतिशत प्रोटीन की मात्रा पायी जाती है जबकि क्रूड प्रोटीन नयी पत्तियों में अधिक पाया जाता है। प्रायः जब हरे-चारे का अभाव होता है तो उस समय भीमल के चारे का उपयोग लाभदायक होता है।

भीमल में बरसीम व अन्य पशु चारों से कहीं अधिक प्रोटीन की मात्रा होती है। परन्तु दुख का विषय है कि कृषि विशेषज्ञ भीमल को प्रोत्साहन देने के बजाये अन्य प्रकार के पशु चारों की ओर किसान का ध्यान आकृष्ट करते हैं।

ऊर्जा पर्यावरण समूह, एच-12, ओल्ड डबल स्टोरी, लाजपत नगर-4, नई दिल्ली-110 024

उपयोगी रेशा : ना केवल चारे हेतु बल्कि समय-समय पर उपभोगिता के आधार पर भीमल का रेशा भी आवश्यकतानुसार घरेलू उपयोग में लाया जाता है जैसे रस्सियाँ बनाना आदि । यह आसानी से प्राप्त होने वाले हल्के भूरे रंग का मजबूत रेशा होता है ।

'रेशा प्राप्त करने के लिए परिपक्व भीमल की शाखाओं को काटा जाता है, पत्तियों को टहनियों से चारे हेतु अलग कर दिया जाता है व टहनियों को तालाबों, पोखरों, या नालों में पानी में डुबो कर रख देते हैं । दो तीन महीनों तक डुबोये रखने के पश्चात इन टहनियों को पत्थरों से कूट कर रेशा व कैड़ा (जलाऊ लकड़ी) प्राप्त किया जाता है । इस विधि को 'रेटिंग प्रोसिस' कहते हैं । रेशों को पानी से अच्छी तरह धो कर साफ कर देते हैं । धूप में सुखाने के पश्चात यह रेशा विभिन्न प्रकार के सामान बनाने हेतु उपयोग में लाया जाता है । पहाड़ों में भीमल के रेशे की रस्सियाँ प्राचीन काल से ही बनायी जाती रही हैं । रेशे को एक दूसरे से गूथ कर आवश्यकतानुसार रस्सी तैयार की जाती है ।

भीमल के रेशे से पतली-पतली रस्सियाँ बना कर आकर्षक सजावटी समान जैसे बेल्ट, टोपी, चटाइयाँ, थैले बनाये जा सकते हैं । ये समान आकर्षक होने के साथ ही बाजार में अच्छी कीमतों में बेचा जा सकता है । गढ़वाल में कई गाँवों में महिला संगठनों ने भीमल पर आधारित लघु-इकाइयाँ स्थापित की हैं और अपने आप को आर्थिक रूप से स्वावलम्वी भी बनाया है ।

खुशबूदार शैम्पू : आज बाजार में शैम्पूओं की बाढ़ है । लेकिन अक्सर लोगों को कहते सुना गया है कि शैम्पू से या तो बाल झड़ जाते हैं और या फिर सफेद हो जाते हैं । इन आरोपों का इलाज किया गया तरह तरह के 'हर्बल' शैम्पू बना कर । परन्तु एक छोटी-सी शैम्पू की शीशी की कीमत अक्सर आम आदमी की पहुँच से बाहर होती है ।

प्राचीन काल से ही ग्रामीण महिलाएँ भीमल की टहनियों व पत्तियों का इस्तेमाल कुछ-कुछ रीठे की तरह बाल धोने के लिये करती आई हैं । लेकिन भीमल की इस उपयोगिता का कभी इस कदर प्रचार नहीं हुआ कि इसको एक उद्यम समझा जा सके । परन्तु अब ऐसी तकनीक उपलब्ध है जिससे कि भीमल से अच्छा शैम्पू तैयार किया जा सकता है । अधिक जानकारी के लिये हैस्को, पो॰ बा० न० 7, कोटद्वार 246 149, गढ़वाल (उ० प्र०) के पते पर पत्र लिखें ।

सस्ता ईंधन : पत्तियों और रेशे के अलावा भीमल की लकड़ी एक अच्छे ईंधन के रूप में भी उपयोग में लायी जाती है । रेशे या छाल को निकाल कर बची हुई लकड़ी को धूप में सुखा कर ग्रामीण इसे पुराने समय में टार्च आदि की सुविधा न होने पर मशाल के रूप में उपयोग में लाते थे । यह बहुत ही अच्छी व लगातार जलने-वाली लकड़ी है । इसे पहाड़ों में कैड़ा के नाम से जाना जाता है । ना केवल ये जल्दी आग पकड़ती है बल्कि पूर्ण रूप से भ जलती है । इसके इन्हीं गुणों के कारण इसका उपयोग माचिस बनाने में भी किया जाने लगा है ।

ईंधन के रूप में लकड़ी का प्रयोग करने की तुलना में माचिस के रूप में कैड़ा का प्रयोग करने पर आर्थिक स्थिति में सकारात्मक सुधार लाया जा सकता है । एक किलो लकड़ी से माचिस की तिल्लियाँ बनाने पर छः रुपये का शुद्ध लाभ होने का अनुमान है ।

टिकाऊ फर्नीचर : भीमल की लकड़ी से बना फर्नीचर उतना ही टिकाऊ होता है जितना कि बाजार में बिकने वाला फर्नीचर। सबसे खास बात तो ये है कि भीमल की लकड़ी पर दीमक का असर नहीं होता है।

(ईईजी फीचर्स)

■ ■

कृषि विज्ञान

खेती और पर्यावरण : नये दृष्टिकोण की आवश्यकता

डॉ० दिनेश मणि

मिट्टी, जल तथा वायु हमारे पर्यावरण के अमूल्य घटक हैं। वनस्पतियों, जीवों और यहाँ तक कि स्वयं मनुष्य का जीवन इन संसाधनों पर ही निर्भर करता है। आज यह समय की माँग है कि इन संसाधनों का वैज्ञानिक ढंग से प्रबन्ध किया जाये। अधिकतम् उत्पादन प्राप्त करने के साथ-साथ पर्यावरण को भी सुरक्षित बनाये रखा जाये। आज जो भूमि की उत्पादकता में कमी देखने को मिल रही है, उसका मुख्य कारण पारिस्थितिकी के संतुलन की परवाह किये बिना खेती करना है। एक अनुमान के अनुसार इस सदी के अन्त तक भारत की आबादी लगभग 100 करोड़ हो जायेगी, जिसके लिये 24 करोड़ टन खाद्यान्न, 3.3 करोड़ टन दालें, 2.6 करोड़ टन तिलहन, 33 करोड़ टन जलावन लकड़ी की आवश्यकता होगी। इन आवश्यकताओं की पूर्ति अपने यहाँ उपलब्ध भूमि एवं जल संसाधनों के समुचित विकास एवं प्रबन्ध पर निर्भर करती है। सिर्फ उत्तर प्रदेश की ही यदि बात की जाये तो यहाँ लगभग 12.3 लाख हेक्टेयर क्षेत्र बीहड़ एवं खड्ड के रूप में, 12.0 लाख हेक्टेयर क्षेत्र जलभराव एवं 25 लाख हेक्टेयर क्षेत्र भारी कटाव, रेह, ऊसर, जलभराव, झूम खेती एवं मरुस्थलीय समस्याओं से ग्रसित है।

जहाँ तक प्रति व्यक्ति भूमि का सवाल है तो इस समय प्रति व्यक्तिके हिस्से में 0.9 हेक्टेयर भूमि आती है। 20वीं शताब्दी के अन्त तक यह 0.5 हेक्टेयर प्रति व्यक्ति रह आयेगी। इस तरह हम कह सकते हैं कि हमें बढ़ती हुयी आबादी के लिये अतिरिक्त भूमि की आवश्यकता है। यही नहीं, उपलब्ध उत्पादक भूमि को अनुत्पादक होने से भी बचाना है। देश के बंजर या परती पड़े हुये भूखण्डों के सुधार तथा उसे उपयोग में लाने के लिये मई, 1985 में "राष्ट्रीय परती भूमि विकास बोर्ड" की स्थापना की गयी थी। इस बोर्ड ने सम्पूर्ण बंजर भूमि को दो प्रकार से विभाजित किया है। (1) कृषि के योग्य बंजर भूमि, तथा (2) कृषि के लिए अयोग्य बंजर भूमि।

कृषि के योग्य बंजर भूमियों को विभिन्न मृदा एवं जल संरक्षण विधियों द्वारा खेती हेतु उपयोग में लाया जा सकता है। कृषि के लिए अयोग्य बंजर भूमि को 'कृषि वानिकी' हेतु इस्तेमाल करना होगा। "नेशनल रिमोट

सहायक सम्पादक, 'विज्ञान', विज्ञान परिषद प्रयाग, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-2

सेन्सिंग एजेन्सी'' द्वारा उपलब्ध आँकड़ों से ज्ञात हुआ है कि भारत के कुल भौगोलिक क्षेत्र का 11 प्रतिशत भू-भाग ही वनों से ढका है, जबकि 1979 के "नेशनल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर'' की रिपोर्ट के अनुसार देश के मूल भौगोलिक क्षेत्रफल का 33 प्रतिशत हिस्सा वनाच्छादित होना चाहिये। इस तरह देश के लगभग 1000 लाख हेक्टेयर भू-क्षेत्र पर वन होने चाहिये।

खाद्यान्न-उत्पादन पर अधिक ध्यान देने के फलस्वरूप वनों की भूमि पर भी खेती की जाने लगी। इन भूमियों पर खेती करने से लाभ के बजाय हानि अधिक हुयी। एक अनुमान के अनुसार प्रति वर्ष लगभग 600 करोड़ टन उपजाऊ मिट्टी अन्य खनिज तत्वों के साथ कटाव के द्वारा बह जाती है। बाँध, नालों और तालाबों में मिट्ट जम जाने से बाढ़ आ जाती है फलस्वरूप मनुष्यों और पशुओं की भारी क्षति के साथ ही उपजाऊ क्षेत्रों में भी उत्पादन का नुकसान होता है।

सूखा, बाढ़ अकाल एवं प्रदूषण से बचाव के लिये तथा वनों की कमी को पूरा करने के लिये खाली पड़ी बंजर, परती अथवा ऊसर भूमि, ग्राम समाज की भूमि, सड़कों, नहरों तथा रेलवे लाइनों के किनारे वृक्षों का रोपण किया जाना चाहिये। वृक्षा रोपण की सफलता प्रजातियों के सही चुनाव, रोपण के सही तरीके तथा देख-रेख पर निर्भर करती है। सारिणी-1 में वृक्षों के नाम दिये गये हैं। भूमि की उपयुक्तता एवं अपनी आवश्यकता के आधार पर वृक्षों का चयन करना चाहिये।

देहरादून के 'केन्द्रीय मिट्टी और पानी सर्वेक्षण अनुसंधान और प्रशिक्षण संस्थान' द्वारा की गयी खोजों से पता चला कि अगर खेतों के पास ऊँचे-ऊँचे पेड़ लगाये जायें तो 20 मीटर की दूरी से भी वे खेत में उगी फसल की पैदावार पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकते हैं। लेकिन अगर कम ऊँचाई वाले पेड़ लगाये जायें तो उनसे खेत की उत्पादकता पर कोई प्रतिकूल असर नहीं पड़ता है। शोध के पश्चात् यह भी पाया गया है कि "सुबबूल'' की दो कतारों के बीच में फसलें ली जायें तो लाल चकला मिट्टी में बिना सुबबूल वाली फसल की तुलना में सुबबूल वाली फसल से ज्यादा उत्पादन प्राप्त होता है, सबसे अधिक पैदावार अरहर और सुबबूल की मिली-जुली खेती से हुयी और उसके बाद अरण्डी से और सबसे कम ज्वार से प्राप्त हुयी।

इसी प्रकार झाँसी स्थित भारतीय चरागाह और चारा अनुसंधान संस्थान में वन-कृषि से सम्बन्धित कई प्रयोग किये गये हैं। **लूसीना लूकोफिला** और **सस्बेनिया इजिप्टियाका** के साथ तिल, मूंगफली और अरहर की खेती की गयी। सुबबूल के साथ खेती करने पर तिल की बहुत अच्छी पैदावार प्राप्त हुयी।

हरियाणा, राजस्थान और गुजरात के शुष्क क्षेत्रों में किसान फसल के साथ-साथ बारानी में 50 से 150 वृक्ष खेजरी (**प्रोसोपिस सिनेरारिया**), बबूल, महिरन्थ (**एलेन्थस एकसेला**) उगाते हैं, जिससे उन्हें बाजरा, मोठ, ग्वार, मूंग आदि फसलों के साथ वृक्षों से हरे चारे के रूप में पत्तियों और जलाने के लिये लकड़ी मिल जाती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वानिकी को कृषि के साथ शामिल करके न केवल अधिक आर्थिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है वरन् पर्यावरणीय संतुलन बनाये रखने में भी मदद मिलेगी।

■ ■

सारणी 1

मिट्टी के अनुसार वृक्षों का चयन

मृदा प्रकार	इमारती, जलौनी लकड़ी हेतु	शोभाकार	फलदार	[illegible]
बलुई मिट्टी	शीशम, खेर, बबूल, विलायती बबूल, कैजूरीना, अरू, हल्दू आदि	अरू, सेमल, हल्दू आदि	बेर, खजूर आदि	नीम, कठ, सागौन, सिरस आदि
दोमट	साल, सागौन, शीशम, सिरिस बबूल	गुलमोहर, अमलतास, जेकेरेंडा पैल्टोफोरम; कैसिया प्रजातियाँ	आम, जामुन, इमली, महुआ	बहेड़ा नीम, कंजी
ऊसर भूमि	विलायती बबूल, अर्जुन, नीम, सिरिस सफेद व काला, बबूल शीशम	यूकिलिप्टस, कंजी, आस्ट्रेलियन बबूल, पलास	लिसौड़ा, कैथा, जामुन	अर्जुन, सिरिस, नीम, कंजी
जलमग्न एवं दल-दली भूमि	अर्जुन, जामुन, गूलर, भिल्लर, कनक चंपा, काला तेन्दू	कनकचंपा, जारूल, यूकिलिप्टस, बिल्लो	जामुन, गूलर	अर्जुन, भिल्लर, काला तेन्दू
बंजर भूमि तथा बीहड़ क्षेत्र	बबूल, शीशम, खैर, नीम, सिरिस, अर्जुन, विलायती बबूल	गुलमोहर, कंजी, कैसिया स्यामिया, अमलतास	बेर, करौंदा, लिसौड़ा, आँवला, देशी आम	कंजी, अर्जुन, सिरिस, शीशम, नीम, चिलबिल

उत्तर प्रदेश में पर्यावरण संतुलन के प्रयास

डॉ० वी० पी० सिंह

पर्यावरण नाम सुनते ही इसकी चर्चा का जिक्र अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहुँच जाता है, और इसमें एक और शब्द जुड़ जाता है-प्रदूषण अर्थात् पर्यावरण प्रदूषण। पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले कई तत्व मानव की देन हैं। वास्तव में पर्यावरण प्रदूषण उसी समय से शुरू हो गया था जब से मनुष्य ने आग जलाना सीखा।

मनुष्य स्वयं पर्यावरण का अंग है, क्योंकि प्रकृति एवं मानव का संबंध आदिकाल से है। किन्तु मानव ने ही इस प्रकृति को सदैव प्रदूषित किया है। प्रकृति अपने प्राकृतिक क्रियाकलापों से वातावरण को स्वच्छ रखने का प्रयास करती है, किन्तु जब मानव की विकासात्मक क्रियाओं के परिणामस्वरूप प्रकृति की स्वच्छता एवं सन्तुलन भंग हो जाता है तो इसके परिणामस्वरूप प्रदूषण का जन्म होता है।

सड़कों पर वाहनों की निरन्तर बढ़ती संख्या, वनों की अंधाधुन्ध कटाई, औद्योगिकीकरण की होड़, धूल एवं धुंये ने पर्यावरण के समक्ष एक चुनौती खड़ी कर दी है। इसने इतना विकट रूप धारण कर लिया है कि इससे मानव समाज के अस्तित्व के लिए संकट उत्पन्न हो गया है। अब यह किसी एक देश या राज्य की समस्या नहीं रह गयी है, बल्कि विश्व के सभी देश इससे प्रभावित हो रहे हैं। मानव जीवन मुख्यतः स्वच्छ वायु और जल पर निर्भर है, किन्तु यदि ये दोनों चीजें ही दूषित हो जायें तो भय पैदा होना स्वाभाविक है।

यह संतोष की बात है कि जहाँ एक ओर नागरिक एवं सामाजिक संगठन पर्यावरण प्रदूषण को रोकने के लिए प्रयासरत हैं वहीं उत्तर प्रदेश सरकार भी अपने सीमित संसाधनों से मैदानी तथा उत्तराखण्ड क्षेत्र में पर्यावरण संतुलन बनाये रखने के लिए विविध कार्यक्रम चला रही है।

मैदानी क्षेत्र के अन्तर्गत शारदा सहायक कमाण्ड क्षेत्र में जल-भराव के कारण होने वाले भूमि के अपघटन, भूगर्भ जलप्रदूषण तथा फसलों की गुणवत्ता पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन कराया जा रहा है। पर्यावरण की सुरक्षा, पर्यावरण अपघटन की रोकथाम, पर्यावरणीय प्रभाव, मूल्यांकन तथा विभिन्न परियोजनाओं के पर्यावरणीय घटकों पर पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण करने के उद्देश्य से एक चलित प्रयोगशाला का निर्माण कराया जा रहा है, तथा साथ ही साथ मोटर वाहनों से निकलने वाले धुंए से उत्पन्न प्रदूषण का मानव नेत्र एवं फेफड़ों पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन कराया जा रहा है।

विश्व बैंक द्वारा पोषित औद्योगिक प्रदूषण नियंत्रण योजना के अन्तर्गत् उत्तर प्रदेश प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड, लखनऊ का एक केन्द्रीय प्रयोगशाला तथा 11 क्षेत्रीय प्रयोगशालाओं के भवन निर्माण, सुदृणीकरण आदि हेतु योजना चलायी जा रही है। पर्यावरणीय जागरुकता उत्पन्न करने के उद्देश्य से जिला योजना के अन्तर्गत 32 जनपदों में गोष्ठी, सेमिनार, प्रतियोगिता, प्रदर्शनी आदि का आयोजन किया जा रहा है। कुछ जनपदों में जल प्रदूषण की जाँच हेतु उपकरण और धुँआमापी संयन्त्र क्रय किये जा रहे हैं।

व्याख्याता, पर्यावरण विज्ञान संस्थान, चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट, सतना, म० प्र०

उत्तर प्रदेश में स्थापित वन्य जीव विहार

क्र० सं०	नाम	स्थापना वर्ष	क्षेत्रफल वर्ग किमी०	जनपद
1.	चन्द्रप्रभा वन्य जीव विहार	1957	78	वाराणसी
2.	किशनपुर वन्य जीव विहार	1172	277	लखीमपुर खीरी
3.	कतरनियाघाट वन्य जीव विहार	1976	400	वहराइच
4.	रानीपुर वन्य जीव विहार	1977	230	बाँदा
5.	महावीर स्वामी वन्य जीव विहार	1977	5	ललितपुर
6.	राष्ट्रीय चंबल बन्य जीव विहार	1979	635	आगरा, इटावा
7.	कैमूर वन्य जीव विहार	1982	501	सोनभद्र, मिर्जापुर
8.	हस्तिनापुर वन्य जीव विहार	1986	2073	मेरठ, मुरादाबाद, मुजफ्फरनगर, गाजियाबाद
9.	सोहागी बटदा वन्य जीव विहार	1987	428	महाराजगंज
10.	सुहेलवा वन्य जीव विहार	1988	452	बहराइच, गोण्डा
11.	कछुवा वन्य जीव विहार	1989	7	वाराणसी
12.	गोविन्द वन्य जीव विहार	1955	95.3	उत्तरकाशी
13.	केदारनाथ वन्य जीव विहार	1972	957	चमोली
14.	अस्कोट वन्य जीव विहार	1986	600	पिथौरागढ़
15.	सोन नदी वन्य जीव विहार	1987	301	गढ़वाल
16.	विन्सर वन्य जीव विहार	1988	46	अल्मोड़ा

उत्तर प्रदेश के पक्षी विहार

क्र० सं०	नाम	स्थापना का वर्ष	क्षेत्रफल वर्ग किमी०	जनपद
1.	नवाबगंज पक्षी विहार	1984	2	उन्नाव
2.	समसपुर पक्षी विहार	1987	8	रायबरेली
3.	लाख बहोली पक्षी विहार	1985	80	फरूखाबाद
4.	सांडी पक्षी विहार	1990	3	हरदोई
5.	बखीरा पक्षी विहार	1990	29	बस्ती
6.	ओखला पक्षी विहार	1990	4	गाजियाबाद
7.	समान पक्षी विहार	1990	5	मैनपुरी
8.	पार्वती-आरंगा पक्षी विहार	1990	11	गोण्डा
9.	वजय सागर पक्षी विहार	1990	3	हमीरपुर
10	पटना पक्षी विहार	1990	1	एटा
11.	सूर सरोवर पक्षी विहार	1991	4	आगरा
12.	सुरहाताल पक्षी बिहार	1991	34	बलिया

वाहनों द्वारा होने वाले वायुप्रदूषण की रोकथाम हेतु सरकार द्वारा पेट्रोल तथा डीजल चालित वाहनों के उत्सर्जन मानक निर्धारित किये जा चुके हैं तथा ये मानक उत्तर प्रदेश में वर्ष 1988 से लागू हैं।

ध्वनि प्रदूषण को रोकने के लिए परिवेशीय ध्वनि के मानक प्रदेश में लागू हैं तथा प्रदेश सरकार द्वारा भी पर्यावरणीय संरक्षण अधिनियम 1986 के अन्तर्गत् समस्त जिलाधिकारियों को इन मानकों का प्रदेश में कड़ाई से अनुपालन कराने हेतु निर्देशित किया गया है। उत्तर प्रदेश प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड द्वारा वित्त पोषित नामक परियोजना के अन्तर्गत् कानपुर, लखनऊ, नोएडा, आगरा में तीन स्थलों पर, गाजियाबाद, देहरादून, आनपाय, गजरौला में दो स्थलों पर तथा वाराणसी में एक स्थान पर वायुगुणता का अनुश्रवण कार्य किया जा रहा है।

बोर्ड द्वारा मीनार्स परियोजना के अन्तर्गत् गोमती, गंगा, यमुना, सरयू, सई, घाघरा, राप्ती, रामगंगा, बेतवा, काली हिण्डेन आदि नदियों, नैनीताल झील तथा रेनू सागर जलाशय की जलगुणता का अनुश्रवण कार्य किया जाता है।

उत्तराखण्ड क्षेत्र में पर्यावरण संगत विकास की दृष्टि से पर्यावरण के विभिन्न अवयवों के स्तर के बोध हेतु देहरादून उत्तरकाशी, पौड़ा, अलमोड़ा, पिथौरागढ़ जनपदों का पर्यावरणीय स्टेट्स रिपोर्टों का विरमन प्रारम्भ कराया गया। वनों पर दबाव कम करने के लिए कृषि वानिकी प्रणाली के माध्यम से फसलों के उत्पादन और उपयुक्त वृक्ष प्रजातियों का रोपड़ समन्वित ढंग से एक साथ किये जाने हेतु अध्ययन योजना के द्वितीय चरण के अधीन कार्य प्रारम्भ कराये गये हैं।

इसके अलावा भू-क्षरण की रोकथाम एवं संसाधनों के अनुकूलतम उपयोग की दृष्टि से शासन द्वारा यह भी निर्णय लिया गया है, कि भविष्य में सरकारी निर्माणों में कँटीले तार की दीवार बनाने की जगह बायोफेंसिग तथा रामबाँस फेंसिग बनायी जाये।

जीवनदायी पर्यावरण के अंग-जल, वायु, भूमि, पेड़ और जीव-जन्तुओं के साथ निरन्तर खिलवाड़ करते रहने से हमारा अस्तित्व ठीक उसी तरह समाप्त हो सकता है जैसे कि करोड़ों वर्ष पूर्व पाए जाने वाले डायनासोरों का अस्तित्व समाप्त हो गया है।

अतः भूमंडल पर जीवन की वर्तमान् धारा इसी प्रकार प्रभावित होती रहे, यह कल्पना अत्यन्त सुखद है परन्तु इसके लिए पर्यावरण का संरक्षण और संवर्धन अनिवार्य है। पर्यावरण की रक्षा हमारा पुनीत कर्तव्य है। अतएव—

(1) अपने आस-पास के पर्यावरण को स्वच्छ रखें।
(2) हरियाली बढ़ायें।
(3) वन्य जीवों से प्रेम करें।
(4) जल, मृदा और वायु को प्रदूषित होने से बचायें।
(5) जनसंख्या वृद्धि को रोकें।
(6) महिला-शिक्षा को अधिकाधिक प्रोत्साहन दें।
(7) व्यवहार और आदतों में परिवर्तन लाकर ऊर्जा और प्राकृतिक संसाधनों की फिजूलखर्ची रोकें।
ऐसा करने में ही हम सब का भला है।

■ ■

पुष्प बचायें, जीवन बचायें

एम० एस० रायज़ादा

वनस्पतियों का स्थायित्व ओर विकास पुष्पों द्वारा सम्पादित होता हैं। लेकिन आज मानव इतना स्वार्थी हो गया है कि अपने थोड़े से लाभ के लिए इन अनुपम पुष्पों की बलि चढ़ा रहा हैं।

भारत के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त वैज्ञानिक सर **जगदीश चन्द्र बोस** ने कहा—"पेड़ पौधे भी जन्तुओं की भांति संवेदनशील होते हैं। उन्हें भी सुख-दुख का अनुभव होता है। उन्होंने इस सिद्धान्त को सप्रयोग रायल सोसाइटी, लन्दन (1901) में प्रदर्शित भी किया, स्वनिर्मित यंत्र क्रेस्कोग्राफ, द्वारा संवेदनशीलता भी प्रगट की।

उन्होंने इस संवेदनशीलता का जिक्र अपनी प्रिय पुस्तक 'द नर्वस मेकेनिज्म ऑव प्लांट्स' (The Nervous Mechanism of Plants' (1926), में किया था।

- एक ग्राम शहद बनाने के लिये एक मधुमक्खी को लगभग पाँच हज़ार (5,000) फूलों के पास जाना व छूना पड़ता है,
- सूक्ष्म अध्ययन शोध आँकड़ों से प्राप्त जानकारी के आधार पर भारत में लगभग प्रतिदिन 13,000 (तेरह हज़ार) किलोग्राम से भी अधिक शहद का नुकसान हो रहा है,
- इस समय लगभग 85,000 (पचासी हजार) एकड़ से भी ज्यादा कृषि भूमि में पुष्पों का उत्पादन हो रहा है, जो प्रतिवर्ष बढ़ता ही जा रहा है,
- पंजाब में साग-सब्ज़ी के उत्पादन के लिये मशहूर मलेर कोटला क्षेत्र में पुष्प उत्पादन से सब्जी की पैदावार में कमी आई हैं,
- पुष्पों से भारत में सलाना 2,00 करोड़ रुपयों का व्यापार हो रहा है,
- उत्तर भारत की प्रमुख नदियों में-(गंगा+यमुना+गोमती+अन्य) 18000+8,000+2,000 +2,000=30,000 कुन्टल पुष्प प्रतिवर्ष डाला जा रहा है,
- मध्य भारत की प्रमुख नदी व तालाबों में नर्वदा में 10,000 कुन्टल प्रतिवर्ष,
- दक्षिण भारत की नदियों में, नासिक संगम, समुद्र (बाम्बे) 25,000 कुन्टल प्रतिवर्ष,
- हिमालय के प्रमुख तीर्थ स्थल-गंगोत्री, यमुनोत्री, केनर-बड़ी व अन्य में प्रतिदिन 2 कुन्टल पुष्प प्रयोग कर नदी में डाला जा रहा है,

---

पुष्पबलि उन्मूलन अभियान, पीयूपाणु, केदार खण्ड, हिमालय

- हरिद्वार 6 टन, देहरादून 4 टन, दिल्ली+लखनऊ+कानपुर 45+11+13 टन,
- मथुरा-वृन्दावन+इलाहाबाद+बनारस 4+9+12 टन
- रीवां-शहडोल (अमरकंटक), बिलासपुर, जबलपुर 2+2+3+4=11 टन
- नागपुर+नासिक+पूना+बम्बई=07+10+90+70=177 टन, कुल 284 टन प्रतिदिन
- हिमालय से उगा हुआ प्राकृतिक पेड़ बुरॉस वंश अधिकतम 120 वर्ष बाद समाप्त हो जायेगी क्योंकि इसके पुष्पों से जूस (शर्बत) बनाया जा रहा है,
- साथ ही साथ अनियंत्रित चराई (पशुओं), जंगल में आग लग जाने से, नये पौध बिल्कुल नहीं पनप रहे हैं एवं उसके पुष्पों को तोड़ कर पूजा आदि में प्रयोग किया जाता है। परिणाम बीज निर्माण की प्रक्रिया समाप्त भी हो जाने से केवल बूढ़े पेड़ ही बचे हैं।
- भारत के प्रमुख नगर, जहाँ से पुष्पनिर्यात एवं खेती की जाती है, दिल्ली, नासिक, पूना, बंगलौर, तिरुअनन्तपुरम्, कलिम्पोंग, कलकत्ता, श्रीनगर, सोलन, कोयम्बटूर, कन्नौज, कानपुर, बनारस, बाम्बे इन्हीं शहरों में ऐसे मनुष्य भी हैं, जिन्हें सब्जी क्या दो वक्त की रोटी मिल जाय तो गनीमत, सन्तुलित भोजन की बात दूर है।
- शोध सर्वेक्षण के दौरान पाया गया कि पुष्पों के साथ सजावट के रूप में हरी वनस्पतियाँ (नीम, अशोक, केला, गोल्डमोहर) का अधिकाधिक प्रयोग हो रहा है जिससे गुलदस्ता सजाने में सुविधा होती है। इस प्रकार इस अनुपात से पुष्पमाला में इनका अनुपात 5% से 7% तक बैठता है।
- प्राकृतिक रूप से स्वतन्त्र उगे पादप पुष्पों को तोड़कर (उपर्युक्त आंकड़ों के अतिरिक्त प्रतिदिन लगभग 5,00 टन से भी ज्यादा) पुष्प-विनाश भारत में किया जाता है। इसमें हिमालयी प्राकृतिक पुष्प शामिल नहीं हैं।
- यहाँ से पुष्प अरब व अन्य देशों को भी भेजे जा रहे हैं।
- तथाकथित धार्मिक नेता, राजनेता, छोटे-बड़े राजनीतिज्ञ, सभाओं में, विवाहोत्सव, दाहसंस्कार, चौराहे की प्रतिमाओं में, सरकारी-गैर सरकारी सम्मेलनों में, काव्य सम्मेलनों में, तथाकथित धार्मिक स्थलों में, तथाकथित ईश्वरीय ठिकानों में, (मन्दिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारा) नदी तालाब कुआँ, स्तुति में, त्यौहारों में, (सिर में आभूषण की तरह प्रयोग करना), घरेलू पूजा में, लिफाफे के अन्दर पुष्प-पत्र व्यवहार करना, फिल्मोद्योग में, व्यक्तिगत आदान-प्रदान में प्रतिदिन पुष्प बलि चढ़ाई जा रही है।
- अतएव अब समय आ गया है जब हमें अत्यधिक सावधान हो जाना है। हमें नरबलि की भाँति पुष्प बलि को भी रोकना होगा। इसे जनान्दोलन का रूप देना होगा।

■ ■

विज्ञान वार्ता

डॉ० अरुण आर्य

(1) लौंग एक गुण अनेक

आयुर्वेदिक चिकित्साशास्त्र में लौंग के गुणों का विस्तृत वर्णन किया गया है। उसके अनुसार लौंग दीपन, पाचन, शीतल, कफ, पित्त नाशक होती है। लौंग का प्रभाव पाचन क्रिया पर सर्वाधिक पड़ता है। यदि भोजन में इसे मसाले की तरह प्रयुक्त किया जाय तो भोजन जल्दी हज़म हो जाता है। साथ ही भोजन स्वादिष्ट भी लगता है और भूख अधिक लगती है।

लौंग चबाने से दाँतों के दर्द में आराम मिलता है। लौंग और मिश्री को बराबर मात्रा पीसकर मसूढ़ों और दाँतों पर मलने से दर्द दूर हो जाता है।

लौंग को चबाने से मुँह की बदबू दूर हो जाती है। लौंग या इसके तेल को दाँतों पर लगाने से दाँतों के कई रोगों यथा पायरिया रोग में फायदा मिलता है। यदि लौंग को मुंह में रखकर चूसा जाय तो रोग के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं।

भुनी लौंग को पीस कर शहद के साथ खाने से गले की खराश तथा काली खाँसी में बहुत लाभ मिलता है। मुँह में लौंग रख कर चूसने से खाँसी का दौरा भी कम हो जाता है।

बार-बार हिचकी आने पर दो-तीन लौंग पानी के साथ निगलने से काफी आराम मिलता है।

गर्भावस्था के दौरान उल्टियाँ होने पर दो-तीन लौंग पीस कर मिश्री मिलाकर खाने से बहुत लाभ होता है।

गठिया के दर्द में लौंग के तेल की मालिश की सलाह दी जाती है।

यदि शरीर में कोई ज़हरीला कीड़ा काट जाय तो काटे हुये स्थान पर लौंग को घिसकर लगाने से तुरंत लाभ होता है।

(2) उपग्रह छायाचित्रों को समझने हेतु कम्प्यूटर

बंगलौर स्थित वैज्ञानिकों ने उपग्रह से प्राप्त छायाचित्रों (Images) को समझने हेतु कृत्रिम बुद्धि इस्तेमाल करने की योजना बनाई है। इस हेतु भारतीय विज्ञान संस्थान (IIS) एवं भारतीय उपग्रह शोध संस्थान (इसरो-ISRO) के वैज्ञानिकों ने दूर संवेदी उपग्रहों के छायाचित्रों हेतु कम्प्यूटरों के प्रयोग का निश्चय किया है।

प्रवक्ता, वनस्पति विज्ञान विभाग, विज्ञान संकाय, महाराजा स० राव० वि० वि०, वडोदरा-390002 (गुजरात)

ये कम्प्यूटर विभिन्न प्रकार की भूमियों जैसे खेत, जंगल, आवास, स्थल एवं समुद्री किनारों के छाया चित्रों और उनके रंग एवं आकार प्रकार भली भाँति दर्शा सकेंगे। फसलों इत्यादि के लिये जमीन की सतह एवं मौसम की जानकारी भी कम्प्यूटर को दी जायेगी। इससे डाटा का निर्धारण सही प्रकार से करने में आसानी होगी। अभी तक यह काम एक मानव संगणक (Human computer/interpreter) के द्वारा सम्पादित होता था।

(3) अब कॉफी नहीं

जी हाँ हम प्रसिद्ध पेय कॉफी की ही बात कर रहे हैं। वर्तमान् में कॉफी का उत्पादन 50 देशों में हो रहा है, लेकिन दुनिया की बढ़ती हुयी माँग को देखते हुये यह पैदावार भी कम है। इस वर्ष काफी में **रतुआ** (Rust) बीमारी के कारण पैदावार कम होने से कॉफी के दाम बढ़े हैं। भारत लगभग 120,000 टन कॉफी का निर्यात करके प्रतिवर्ष 35,000 लाख रुपये की विदेशी मुद्रा अर्जित करता है।

भारत में कॉफी का बीज यमन से एक हजयात्री **बाबा बूदान** द्वारा लाया गया। 1600 ईस्वी के बाद से यहाँ भी इसका उत्पादन हो रहा है। कॉफी (Coffea sp.) की 70 से अधिक प्रजातियाँ हैं। इन प्रजातियों में से 7 की महत्ता जानी-पहचानी है, लेकिन भारत में **कॉफियाँ अरेबिका** (Coffea arabica) और **कॉफियाँ रोबस्टा** (C. robusta) उगाई जाती हैं।

कॉफी अनुसंधान में छोटी ऊँचाई की मजबूत पौध का चुनाव किया जा रहा है। बीमारी से रोकथाम के प्रयास भी प्रगति पर हैं।

(4) तितलियों की चोरी

आज जहाँ हम देश में जन्तु एवं पादप समूह की जैव विविधता के संरक्षण की बात कर रहे हैं, दिल्ली में 15 अगस्त को दो जर्मन नागरिकों के पास से हजारों तितलियों और उनके बच्चों (Moths) को पकड़ा गया। इस प्रकार का व्यापार जापान, फ्रांस, नार्वे, जर्मनी एवं इटली से हो रहा था और हम अमूल्य जैव-सम्पदा का बिना सोचे समझे निर्यात कर रहे थे। तितलियाँ मनाली एवं लेह जैसे दुर्लभ स्थानों से एकत्र की गई थीं।

पकड़ी गई 30,000 (अधिकारिक तौर पर 2000) तितलियों में कई दुर्लभ एवं विलुप्तीकरण के कगार पर पहुँची प्रजातियाँ हैं और कुछ का प्रयोग तो कैन्सर जैसी घातक बीमारियों को रोकने में हो रहा है। इन कीटों का प्रयोग 'जैविक युद्ध' में भी पुनः किया जा सकेगा, ऐसी सम्भावना से ही इन्कार नहीं किया जा सकता।

(5) चाय की कैन्सर प्रतिरोधी क्षमता

भारतीय एवं जापानी वैज्ञानिकों की एक संयुक्त टीम का कहना है कि काली एवं हरी चाय में कैन्सर रोकने की क्षमता विद्यमान है। यह जन्तुओं में प्रमोसन नामक प्रोसेस को उलट देता है, जो कि कैन्सर बनने में सहायक है। भारतीय ड्रग रिसर्च इन्स्टीट्यूट, लखनऊ एवं शिजाउका कॉलेज, जापान के वैज्ञानिकों ने भारत की काली एवं जापान की हरी पत्ती चाय पर ये प्रयोग किये हैं।

कैंसर से कोशिका (सेल) के० डी० एन० ए० (DNA) नामक जनन तत्व में बृद्धि होती है या कमी होती है और इसके साथ ही प्रमोसन नामक अवस्था शुरू होती हैं, जो कि प्रतिवर्तनीन (रर्वासिबल) है। और इसे भोजन, हार्मोन में परिवर्तन एवं वातावरण के प्रभाव से बदला जा सकता है।

जब कैंसर की कोशाओं को चाय की पत्ती के पानी में रखा गया तो उनकी वृद्ध में कमी हुई ऐसा चाय की एन्टीऑक्सीडेन्ठ प्रक्रिया के कारण समझा जा रहा है।

■■

पेयजल

धान की राख से बना 'फिल्टर'

वीना खंडूरी

धान के भूसे से तैयार 'फिल्टर' भी पानी को पीने योग्य बनाने के लिए उतना ही कारगर है जितना कि आधुनिक 'फिल्टर'

भारत में 80 प्रतिशत से भी ज्यादा लोग पानी से होने वाली बीमारियों से पीड़ित हैं। आंकड़ों पर नजर डालें तो केवल 217 शहरों में आंशिक और 8 में पूर्ण रूप से भूमिगत गंदी नालियों द्वारा गंदे पानी की निकासी की सुविधा उपलब्ध हैं। जब शहरों में यह अवस्था है तो गाँवों की दशा का अंदाज तो लगाया ही जा सकता है।

जहाँ तक पीने के पानी का सवाल है वहाँ शहरों में तो पानी को पीने योग्य बनाने के लिए संयंत्र लगे हुए है, लेकिन ग्रामीण इलाकों में अभी भी पानी को कुंओं अथवा नदियों से सीधे ही भर लिया जाता है। परन्तु जिस कदर पिछले कुछ वर्षों से बढ़ती आबादी ने पानी के इन स्रोतों को प्रदूषित किया है, उससे पानी को बिना शुद्ध किये हुए पीने में खतरे ही हैं। जहाँ शहरों में पानी को पीने योग्य बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के फिल्टर उपलब्ध है वहाँ गावों में रहने वाले ऐसे उपकरणों को शायद खरीद भी ना सकें।

भारत में जहाँ ज्यादा जनता गाँवों में रहती है, पानी को पीने लायक बनाने के लिए ऐसी सस्ती, सुलभ व आसान तकनीकों को विकसित करने की जरूरत है, जो आम लोगों को कम से कम कीमत में साफ पानी मुहैय्या करवा सके।

• ऊर्जा पर्यावरण समूह, एच-12, ओल्ड डबल स्टोरी, लाजपत नगर-4, नई दिल्ली-24

ऐसी ही एक उन्नत तकनीक है धान के भूसे से तैयार 'फिल्टर'। ना तो धान के भूसे की कमी है और ना ही इसके लिए किसान को कोई कीमत ही चुकानी पड़ती है। परन्तु इसी भूसे का यदि सही इस्तेमाल किया जाय तो ये पानी को 'फिल्टर' करने के काम आ सकता है। सीमेंट और धान के भूसे के मिश्रण को किसी भी रूप में आसानी से ढाला जा सकता है और इसी खूबी का शोधकर्ताओं ने एक सस्ता 'फिल्टर' बनाने में उपयोग किया है। इस तकनीक में धान के भूसे की राख का इस्तेमाल किया जाता है ना कि सीधे भूसे का।

यह मिश्रण तीन प्रकार से तैयार किया जा सकता है। पकाई हुई मिट्टी के साथ राख का मिश्रण तैयार किया जा सकता है। यदि सीमेंट उपलब्ध हो तो यह मिश्रण सीमेंट राख, सीमेंट बजरी राख का भी बनाया जा सकता है। वैसे तो शोध परिणामों के मुताबिक तीनों ही तरह से बने फिल्टर द्वारा पानी में 99 प्रतिशत अशुद्धियों व जीवाणुओं को दूर किया जा सकता है, परन्तु सीमेंट बजरी राख से तैयार फिल्टर द्वारा प्राप्त परिणाम ज्यादा अच्छे हैं।

सीमेंट बजरी राख द्वारा तैयार फिल्टर एक नई खोज है। एक बेलनाकार बर्तन में छोटी-छोटी रोड़ी भरते हैं तथा इसमें धान की राख को 7.5 प्रतिशत सामान्य पोटलेण्ड सीमेंट के साथ मिलाकर इस बर्तन में डाल देते हैं। धान की राख इतनी महीन होती है कि सीमेंट और बजरी के मिश्रण के साथ यह पानी को साफ करने में काफी कारगर सिद्ध हुई है।

बजरी को डालने से पानी अच्छी प्रकार से छनता है क्योंकि पानी को पत्थरों तथा संकरे मार्ग के बीच से ही कर गुजरना पड़ता है। धान की राख और सीमेंट को जब बजरी के साथ मिलाते हैं तो यह फिल्टर को टूटने या सिकुड़ने से बचाती है।

बजरी को इस्तेमाल करने का एक और फायदा यह भी है कि इसके द्वारा फिल्टर में एक समान दबाव रहता है, जिससे पानी ऊपर से छनकर नीचे की ओर जाता है जो कि फिल्टर की मुख्य विशेषता है। इसको बनाने के बाद थोड़े दिन तक बेलनाकार बर्तन में ही रहने देते हैं ताकि ये इच्छित आकार ले ले। एक बार आकार बन जाने के बाद इस बेलनाकार बर्तन का पानी 'फिल्टर' करने में नियमित रूप से उपयोग किया जा सकता है। फिल्टर को प्रयोग करने के बाद इसे अच्छी तरह साफ करना चाहिए ताकि 'फिल्टर' अच्छी तरह काम कर सके। इस तकनीक के बारे में अधिक जानकारी के लिए डॉ० ए० सी० सुबाराव को टाटा रिसर्च एण्ड डेवलेपमेंट डिजाइन सेन्टर, 1 मंगलदास रोड, पुणे-411001, में सम्पर्क किया जा सकता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने इस 'फिल्टर' को मान्यता प्रदान की है और इसे ग्रामीण इलाकों के लिए एक अच्छी तकनीक बताया है। यद्यपि यह 'फिल्टर' कहीं भी 100 प्रतिशत पानी शुद्ध करने का दावा नहीं करता है, परन्तु इसमें कोई शक नहीं कि 99 प्रतिशत जीवाणुओं से पेयजल को तो अवश्य मुक्त करेगा।

(ईईजी फीचर्स)

■ ■

जल प्रदूषण : समस्या एवं समाधान

कु० अनिता शर्मा

वर्तमान् विज्ञान-युग में मानव को जहाँ कुछ वरदान मिले हैं, वहीं कुछ अभिशाप भी मिले हैं। प्रदूषण भी वैज्ञानिक सभ्यता का एक दुष्परिणाम है। इसे सहने के लिए अधिकांश जनता विवश है।

प्रदूषण का अर्थ क्या है ?

प्रदूषण का अर्थ है—प्रकृति के संतुलन में दोष पैदा होना। न शुद्ध वायु मिलना, न शुद्ध जल मिलना, न शुद्ध खाद्य मिलना और न शान्त वातावरण मिलना। कुल मिलाकर पर्यावरण में अस्वास्थ्यकर तत्वों का मिल जाना प्रदूषण है।

प्रदूषण के प्रकार

हमारे जीवन को प्रभावित करने वाले कई प्रकार के प्रदूषण हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(क) जल-प्रदूषण

(ख) वायु-प्रदूषण

(ग) ध्वनि-प्रदूषण

(घ) भू-प्रदूषण आदि। किन्तु यहाँ मैं केवल जल-प्रदूषण की बात करना चाहूँगी।

जल-प्रदूषण

जल मनुष्य के जीवन में बहुत बड़ा महत्व रखता है। इसका इस्तेमाल मनुष्य अपने अलग-अलग कामों में करता है जैसे—खाना बनाने में, पीने में, नहाने में, सिंचाई, बिजली का उत्पन्न करना, कारखाने में वस्तुओं के निर्माण में मदद करना, गंदगी को बहाना, कारखाने की गंदगी को बहाने में मदद करना आदि। इन सब कार्यों को करने में जल में कुछ अनावश्यक और गंदे तत्व मिल जाते हैं, जिसके कारण इस समय भारत में जल के स्रोत जैसे नदियाँ, नहरें आदि 70% से अधिक प्रदूषित हो गई हैं।

जल-प्रदूषण के स्रोत

जल-प्रदूषण का मुख्य कारण औद्योगिकीकरण है। कल-कारखानों का दूषित जल एक ऐसी समस्या है, जिसका कोई समाधान नहीं हो सका है। उसे धरती में विसर्जित करो तो धरती प्रदूषित होती है। बाहर छोड़ दो तो

बी० एस-सी०, द्वितीय वर्ष, जीव विज्ञान, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद-211002

नदी, तालाब, नहर और अन्य जल-स्रोत दूषित होते हैं। अक्सर फैक्ट्रियों के बाहर सड़ांध भरा जल फैला रहता है, जो वर्षा के समय शेष पानी में घुलकर लोगों के स्वास्थ्य पर हमला करता हैं। वर्तमान में गले, फेफड़े और कैंसर रोग के बढ़ने का कारण यही जल-प्रदूषण हैं। जल प्रदूषित करने वाले निम्नलिखित स्रोत हैं।

(क) कारखाने का दूषित जल

कारखानों का दूषित जल एक बहुत बड़ी समस्या है। यह दूषित जल फैक्टरी के पाइप-लाइनों के सहारे नजदीक के नहरों या नदियों में मिल जाताहै। कपड़ा-उद्योग के कारखाने, चीनी मिल, खाद मिल, तेल मिल, प्लास्टिक मिल आदि कारखानों का दूषित जल नदियों, नहरों में मिल कर रासायनिक प्रदूषण फैलाता ही है।

(ख) कृषि संबंधी स्रोत

आजकल किसान पैदावार बढ़ाने के लिए नए-नए खादों का प्रयोग करता हैं। अत्यधिक खादों के प्रयोग से नाइट्राइट्स भूमि के द्वारा जल में मिल जाते है, जिससे जल प्रदूषित हो जाता है और यही जल पीने पर कई बीमारियाँ होती है।

(ग) कीटनाशक

आजकल कई प्रकार के कीटनाशक प्रयोग किए जा रहे हैं जैसे डी० डी० टी०, बेगोन आदि। इनके छिड़काव से भी जल प्रदूषित होता है।

(घ) घरेलू प्रयोग

हम घर में जल का प्रयोग कई कामों में करते हैं जैसे नहाना, खाना बनाना, कपड़े धोना, बरतन धोना इन सब कार्यों के द्वारा जो गंदा जल हमारे घरों की नालियों से बहता हुआ जाता है और नदियों के जल को दूषित करता है।

(ङ) नदी-घाट पर पशु, मनुष्य का नहाना

हमारी अधिकांश नदियाँ, नहरें इसलिए भी दूषित होती हैं, क्योंकि लोग अपने जानवरों को भी नदियों में नहलाते हैं। वहीं मनुष्य भी नहाता है, कपड़े धोता है, जिस करण जल प्रदूषित हो जाता है।

जल-प्रदूषण के कारण

जल-प्रदूषण का मुख्य कारण है-अन्धाधुन्ध वैज्ञानिक प्रगति। आधुनिकता और समृद्धि की होड़ में प्रकृति के साथ छेड़-छाड़ करना, कल-कारखानों का अन्धाधुन्ध विकास, नदी और आबादी के पास फैक्टरियाँ लगाना, कारखानों के प्रदूषित विकास को समेटने की व्यवस्था न कर पाना, परमाणु-भट्टियों से निकले जहरीले तत्वों को नष्ट न कर पाना, नदियों में पशुओं को नहलाना, कपड़े धोना, शहर के गटर, घरों की नालियों आदि का नदियों में मिलना। कूड़ा, गंदगी, मल आदि को नदियों में फेंकना आदि जल-प्रदूषित होने के कई कारण हैं।

जल-प्रदूषण के दुष्परिणाम

जल-प्रदूषण के परिणाम बहुत भयंकर हैं। इसके कारण मनुष्य का जीना कठिन हो गया है। नित्य नये रोग उत्पन्न होने लगे हैं। मच्छर, काक्रोच तथा अन्य कीड़ों की सेनाओं ने नई-नई समस्याओं को जन्म दिया है। वातावरण की अशुद्धता के कारण मानसिक तनाव में वृद्धि हुई है। अनेक नयी बीमारियाँ जन्म लेती रहती हैं। रासायनिक द्रव्यों के कारण मनुष्य को कई कठिन बीमारियों से जूझना पड़ता है जैसे यदि किसी कारणवश मर्करी (पारा) नदियों, तालाबों नहरों के जल में मिल जाता है तो पानी में पलने वाले पौधे पारे को सोख लेते हैं, जिसे छोटी मछली खाती है, इसके बाद छोटी मछली को बड़ी मछली और फिर बड़ी मछली को मनुष्य, जिसके कारण 'मिनीएमाटा' (Miniamata) जैसी घातक बीमारी से मनुष्य को जूझना पड़ता है। जल-प्रदूषण के कारण ही पीलिया, हैजा, डाइ-रिया आदि बीमारियाँ होती हैं। हर वर्ष इलाहाबाद में होने वाले संगम मेले में जल-प्रदूषण के कारण महामारी फैलने का भय बना रहता है।

समाधान

सब प्रकार के प्रदूषण से बचने के लिए आवश्यक है कि सभी विकास योजनाएँ सुविचारित और सुनियोजित हों। कल-कारखाने आबादी से दूर हों। उनसे निकले अपशिष्ट को नष्ट करने के उपाय खोजे जाएँ। भारत सरकार पवित्र नदी गंगा को साफ करने की परियोजना चला रही है, जिसके तहत गंगा नदी और अन्य कई बड़ी नदियाँ भी साफ की जा रही हैं। जानवरों और मवेशियों के लिए अलग-अलग टैंक'' और तालाब बनाने चाहिए। शहरों में जहाँ "सीवेज फैसिलिटी'' नहीं है वहाँ घरों में "सेप्टिक टैंक बनाना चाहिए। नदियाँ, झरने और नहरों के पानी को नहाकर और कपड़े धो कर गंदा नहीं करना चाहिए। घरेलू और कल-कारखानों के अपशिष्ट को नदियों में मिलने से पहले भली-भाँति नष्ट कर देना चाहिए। प्रदूषण को रोकने के लिए कठोर नियम बनें और उनका कठोरता से पालन होना चाहिए, तभी यह वसुन्धरा वास्तव में 'स्वर्गादपि गरीयसी' बन पाएगी।

■ ■

श्री अनिल कुमार वशिष्ठ पुरस्कृत

'विज्ञान' पत्रिका के नियमित पाठक एवं लेखक एवं विज्ञान परिषद् प्रयाग के सभ्य श्री अनिल कुमार वशिष्ठ, सैनिक स्कूल, घोड़ाखाल, नैनीताल (उत्तर प्रदेश) को राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली द्वारा आयोजित विद्यालयी शिक्षा में अभिनव प्रयोग एवं अनुभव की अखिल भारतीय प्रतियोगिता में प्रस्तुत "इनोवेटिवनैस इन साइंस एण्ड कैमिस्ट्री एट सेकेण्डरी लेवल'' लेख पर वर्ष 1993-94 के लिये पुरस्कृत किया गया।

विज्ञान परिषद् परिवार की श्री अनिल कुमार जी को बधाई।

26 अप्रैल पुण्यतिथि पर

महान गणितज्ञ श्रीनिवास रामानुजन

सुनील कुमार पाण्डेय

हमारे देश में ऐसी अनेक प्रतिभाओं ने जन्म लिया है, जिनके कृत्यों द्वारा देश का नाम ऊपर उठा। एक समय था जब भारत, विश्व का धर्म गुरू माना जाता था। हमारे ही देश में शून्य की खोज हुई, जिससे विश्व को गिनती का ज्ञान हो सका। इसी परम्परा को मूर्त रूप प्रदान किया **श्रीनिवास रामानुजन** ने भी। धूमकेतु की तरह उभरा यह व्यक्ति अधिक दिनों तक तो नहीं जीवित रहा, परन्तु अल्प समय में ही ऐसा कुछ कर गया कि उसका नाम गणित के क्षेत्र में सदैव आदर के साथ लिया जायेगा।

इस महान गणितज्ञ का जन्म 22 दिसम्बर सन् 1887 को तमिलनाडु राज्य में स्थित तंजौर जिला के इरोद नामक ग्राम में हुआ था। इनके परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। पिता एक वस्त्र विक्रेता के यहाँ नौकरी करते थे और यही इनके परिवार के आय का साधन था। बहुत दिनों तक सन्तान न होने से इनके माता-पिता दु:खी रहते थे। अन्त में वे देवी नामगिरी की शरण में गये और ऐसा कहा जाता है कि इनका जन्म देवी माँ के आशीर्वाद से ही हुआ।

रामानुजन शुरू से ही अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि के थे। एक बार प्राइमरी स्कूल के अध्यापक ने छात्रों को 1 से 10 तक की संख्याओं का योग निकालने को कहा, जिसे रामानुजन ने बहुत ही अल्प समय में निकाल लिया। इसे उन्होंने एक सूत्र के द्वारा ज्ञात किया था। अध्यापक के आश्चर्य का ठिकाना न रहा क्योंकि वह सूत्र कॉलेज स्तर के छात्रों के कोर्स का था।

रामानुजन प्राय: अपनी कक्षा के पुस्तकों को जल्द ही समाप्त कर उच्च कक्षा की पुस्तकों को पढ़ा करता था। यह बालक के बुद्धि व लगन का ही परिणाम है, कि जब वह चौथी कक्षा का छात्र था, तभी उसने लोनी (Loney) द्वारा लिखित त्रिकोणमिति की उस पुस्तक का अध्ययन कर लिया था जो कि स्नातक स्तर के छात्रों को पढ़ाया जाता था। यही नहीं, जब वह छठीं कक्षा का विद्यार्थी था, उसने गणित की एक प्रसिद्ध पुस्तक का हल स्वयं अपने ढंग से किया। 16 वर्ष की आयु में बालक ने हाई स्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। विडम्बना यह है कि बालक इण्टरमीडिएट की परीक्षा में असफल हो गया और जब दुबारा व्यक्तिगत परीक्षार्थी के रूप में परीक्षा दी तो पुन: असफलता हाथ लगी। ऐसा इसलिए नहीं हुआ कि उसका मन अध्ययन में नहीं लगता था, अपितु बालक गणित के प्रश्नों को हल करने में उलझा रहता था। ऐसे में वह अन्य विषयों की ओर अपेक्षित ध्यान नहीं दे पाता था उन्होंने घर पर ही अध्यवसाय पर ध्यान दिया। इसी बीच सन् 1909 में 22 वर्ष की उम्र में उनका विवाह जानकी

शोध छात्र, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

देवी से सम्पन्न हो गया। परिवार चलाने के लिए रामानुजन ने नौकरी की खोज शुरू कर दी और इस प्रयास में उनकी भेंट 'भारतीय गणितीय सोसायटी' के संस्थापक रामास्वामी अय्यर तथा नेल्लोर के तत्कालीन कलेक्टर श्री रामचन्द्र राव से हुई।

मद्रास पोर्ट ट्रस्ट कार्यालय में उन्हें 50 रुपए मासिक पर लिपिक की नौकरी मिल गयी। इस समय भी उन्होंने अपने को गणित से जोड़े रखा और अपनी मेज की दराजों में प्रायः गणित से सम्बन्धित पाठ्य-सामग्री भरे रहते थे और अपने खाली समय का भरपूर उपयोग किया करते थे।

सन् 1911 में 'भारतीय गणितीय सोसायटी' के जरनल के एक अंक में उनका लेख "Some Properties of Bernaulles Number शीर्षक के अन्तर्गत् प्रकाशित हुआ। रामानुजन के इस उत्कृष्ट कार्य से मद्रास पोर्ट ट्रस्ट के अध्यक्ष श्री फ्रान्सिस स्प्रिंग और इन्जीनियरिंग कॉलेज के श्री ग्रिफिथ प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। उन्होंने रामानुज को कैम्ब्रिज कॉलेज के महान गणितज्ञ प्रो० एच० हार्डी से सपर्म्क करने की सलाह दी। 16 फरवरी 1913 को रामानुजन ने हार्डी महोदय को पत्र लिखा, जिसमें उन्होने अपने पद, आर्थिक स्थिति, गणितीय कार्य आदि का वर्णन किया तथा यह भी लिखा कि यदि लेख किसी योग्य हो तो प्रकाशित कराने में सहायता करें।

प्रो० हार्डी ने उनके नोट्स को मँगाकर देखा और उसकी उत्कृष्टता को देखकर उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। उन्होंए रामानुजन को मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा 250 रु० की छात्रवृत्ति दिला दी तथा 11 नवम्बर 1913 को विश्वविद्यालय को जो पत्र लिखा, उससे रामानुजन की असाधारण प्रतिभा का पता चलता है। उस लेख को देखने के बाद इंगलैण्ड के प्रमुख गणितज्ञों का कहना था 'ऐसा गणितज्ञ नहीं देखा'।

प्रो० हार्डी के प्रयासों के फलस्वरूप 17 मार्च 1914 को रामानुजन को इंग्लैण्ड जाने का अवसर प्राप्त हुआ। हार्डी ने पाया कि कुछ विषय में उसका ज्ञान उच्च कोटि का है, किन्तु कुछ में कम। ऐसी स्थिति में हार्डी ने उन्हें पढ़ाया भी, किन्तु हार्डी कहते थे—"रामानुजन को जितना मैंने सिखाया उससे कहीं अधिक उनसे सीखा।"

भारतीय विज्ञान के इतिहास में वह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण दिवस था, जब रामानुजन को "रॉयल सोसायटी" के फेलो के रूप में चयनित किया गया। एक उपाधिरहित व्यक्ति को पहली बार एफ० आर० एस० के रूप में चुना गया।

रामानुजन की धार्मिक आस्था बहुत प्रगाढ़ थी। भीषण ठण्डक में भी प्रतिदिन स्नान करना, वस्त्र निकालकर ही भोजन ग्रहण करना उनका नित्य का क्रम था। ऐसे में बीमार होना स्वाभाविक था और हुआ भी वही जिसकी कि आशंका थी। वह बीमार रहने लगे और क्षय रोग का शिकार हो गये।

संख्याओं से खिलवाड़ करना रामानुजन अपनी बीमारी की अवस्था में भी न भूले। एक बार जब प्रो० हार्डी उन्हें अस्पताल देखने गये तो रामानुजन ने उनसे टैक्सी का नम्बर पूछा। हार्डी महोदय ने "1729" बताया तथा यह भी कि यह ठीक नम्बर नहीं है। रामानुजन तो मानो यही सुनना ही चाहते रहे हों, उन्होंने तुरन्त बताया कि यह सबसे छोटी पूर्ण संख्या है, जिसे दो पूर्णांकों के घनों के योग के रूप में लिखा जा सकता है—$1729 = 12^3 + 1^3$ अथवा $10^3 + 9^3$। इस प्रकार रामानुजन अंकों में सदैव रोचकता बनाये रखते थे।

दवा चलती रही, किन्तु रोग का शिकंजा कसता ही जा रहा था। अन्ततः मजबूर होकर उन्हें भारत लौटने का निर्णय लेना पड़ा। लौटने पर उनका स्वास्थ्य अत्यन्त गिरा हुआ था। उन्हें बचाने के अथक प्रयास चिकित्सकों द्वारा किये गये किन्तु विधि के विधान को कौन टाल सकता है। 26 अप्रैल 1920 को वह दिन समस्त भारतवसियों के लिए अत्यन्त काला था, जब यह महान गणितज्ञ हमसे बिछुड़कर स्वर्ग के लिए प्रस्थान कर गया। इस दुःखद समाचार से समस्त देशवाशियों को गहरा आघात लगा क्योंकि उनसे सभी को बहुत अधिक आशाएँ थीं।

आज रामानुजन शरीर से तो हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु उनके द्वारा किये गये शोध कार्य सदैव उनकी याद दिलाते रहेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि उनके अधूरे कार्य को पूर्ण किया जाय।

■ ■

116वें जन्म दिन पर

ऐल्बर्ट आइंस्टीन : वैज्ञानिक भी, संत भी

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

बीसवीं शती के कुछेक महान वैज्ञानिकों के नाम लिए जायें तो ऐल्बर्ट आइंस्टीन (14 मार्च 1879-18 अप्रैल 1955) का नाम सबसे पहले लेना होगा। अपनी वैज्ञानिक खोजों के लिए आइंस्टीन तो महानतम हैं ही, संतों जैसे जीवन और मानवतावादी विचारों के लिए वे सदैव याद किए जाते रहेंगे।

आइंस्टीन स्वभाव से बड़े सरल थे। बिल्कुल बच्चों जैसा स्वभाव। विद्वता, ख्याति, सम्मान, पुरस्कार और ऐश्वर्य-क्या नहीं मिला उन्हें, किन्तु इस सांसारिक उपलब्धियों से वे बहुत ऊपर उठ गए थे।

'नोबेल पुरस्कार' की सम्पूर्ण राशि उन्होंने दान कर दी। और यह राशि 2 लाख रुपयों से भी अधिक थी। एक बार किसी संस्था ने उन्हें पुरस्कार स्वरूप 2,500 डॉलर का एक चेक प्रदान किया। कई सप्ताह आइंस्टीन इस चेक से 'बुकमार्क' का काम लेते रहे। बाद में वह पुस्तक खो गई और उसी के साथ वह चेक भी। पर आइंस्टीन को इसका रंचमात्र भी दुख नहीं हुआ।

कहते हैं 1952 में जब इजरायल के राष्ट्रपति, चेम वीजमैन का स्वर्गवास हुआ तो तत्कालीन इजरायल सरकार ने यह कहते हुए उनसे राष्ट्रपति का पद ग्रहण करने का निवेदन किया कि वे 'सबसे महान जीवित यहूदी हैं'।

संपादक, 'विज्ञान', विज्ञान परिषद, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

किन्तु विनम्रता की प्रतिमूर्ति आइंस्टीन ने यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि 'मुझमें मनुष्यों को संचालित करने की न तो सहज स्वाभाविक योग्यता है और न ही कोई अनुभव'।

आइंस्टीन का जन्म जर्मनी के एक छोटे से नगर उल्म में 14 मार्च 1879 को हुआ था। उनके पिता म्यूनिख के एक उपनगर में बिजली का सामान बनाने वाले कारखाने के मालिक थे। चौंकिए मत, आइंस्टीन के अध्यापक उन्हें 'बुद्धू' और 'फिसड्डी' कहते थे। किन्तु बालक में विलक्षण प्रतिभा थी। एक बार उन्हें अपने पिता से 'कम्पास', दिशा ज्ञात करने की घड़ी, मिली। बालक आइंस्टीन यह देखकर आश्चर्यचकिय रह गए और घड़ी उन्हें 'जादुई' लगी। घड़ी की सूई सदैव उत्तर दिशा की ओर ही रहती थी। उस समय उन्हें 'चुम्बकत्व के सिद्धान्त' का ज्ञान नहीं था फिर भी उन्हें ऐस लगा जैसे वे एक अनोखी दुनिया के द्वार पर खड़े हों। गणित उनका प्रिय विषय था। और यूक्लिड की ज्यामिति उन्होंने मात्र 12 वर्ष की अवस्था में ही सीख ली थी।

आइंस्टीन की उम्र जब 16 वर्ष की हो गई तो उनके पिता ने उन्हें कारखाने के काम में लगाना चाहा, पर भविष्य के महानतम वैज्ञानिक को पिता की सलाह पसन्द नहीं आयी अतएव भौतिकी और गणित के अध्ययन के लिए वे ज़ूरिख चले गए। बीसवीं शती के प्रथम वर्ष में उन्होंने अपनी शिक्षा पूरी कर ली और 1902 में स्विटजरलैण्ड में बर्न स्थित एक स्विस पेटेन्ट कार्यालय में लिपिक (क्लर्क) की नौकरी कर ली। इसी समय उन्होंने अपनी एक मित्र मिलेवा मारेक से विवाह कर लिया। आइंस्टीन की जगह कोई और होता तो उसका पूरा जीवन एक क्लर्क की घिसी पिटी जिंदगी जीने में ही बीत जाता। किन्तु यहीं उनके जीवन में एक अजीव मोड़ आया। उन्होंने आगे के 3 वर्षों (1902-1905) का भरपूर सदुपयोग किया। सच्चाई तो यह है कि इसी समय उनके अंदर प्रतिभा के ऐसे विलक्षण अंकुर फूटे, जिसने उन्हें ख्याति के शिखर पर पहूँचा दिया। 1905 में उन्होंने 'स्पेशल थियरी ऑव रिलेटिविटी' (आपेक्षिकता का विशेष सिद्धान्त) प्रकाशित की। फिर तो आइंस्टीन के नाम के डंके बजने लगे। जगह-जगह से उन्हें व्याख्यान देने के लिए बुलावा आने लगा, विश्वविद्यालयों से नियुक्ति-पत्र आने लगे। और तो और, 1905 1909 के बीच उन्होंते 'क्वांटम थियरी' (क्वांटम का सिद्धान्त) भी प्रतिपादित कर दिया और 1909 में ही उन्होंने ज़ूरिख विश्वविद्यालय में सैद्धांतिक भौतिकी के आचार्य का पद स्वीकार कर लिया। मात्र 3 वर्ष के बाद ही 1912 में उन्हें कैसर विलहेल्म फिजिकल इंस्टीट्यूट का निदेशक बना दिया गया और उन्हें 'प्रुसियन अकादमी ऑव सइंस' का सदस्य भी चुन लिया गया।

आइंस्टीन के पूर्व के वैज्ञानिकों का निश्चित मत था कि द्रव्य की सृष्टि या उसका विनाश असंभव है। किन्तु उन्होंने सिद्ध कर दिया कि द्रव्य को ऊर्जा और ऊर्जा को द्रव्य में परिवर्तित कर सकते हैं। इसे उन्होंने निम्नलिखित सूत्र से व्यक्त किया—

$$E = mc^2$$

(यहाँ E ऊर्जा, m द्रव्य और c^2 प्रकाश का वेग है।

उपर्युक्त खोजों के लिए आइंस्टीन को किसी प्रयोगशाला की जरूरत नहीं पड़ी। इन सारी खोजों की प्रयोगशाला थी उनका स्वयं का दिमाग।

परमाणु-बम को बनाने के लिए कुछेक लोग आइंस्टीन को दोषी मानते हैं। 1905 में आइंस्टीन जिन निष्कर्षों पर पहुँचे थे, बाद में उन्हीं का उपयोग करके परमाणु-बम बनाया गया। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि आइंस्टीन यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि उनकी वैज्ञानिक खोजों का दुरुपयोग मानवता के विनाश के लिए किया जायेगा।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जापान के दो उन्नत नगरों-हिरोशिमा और नागासाकी पर 1945 में गिराए गए बम से वे बेहद दुःखी और क्षुब्ध थे। लगभग 6 वर्ष पूर्व ही 1939 में जब उन्हें आभास हुआ कि फर्मी और सिलार्ड ऐसे प्रयोगों में जुटे हैं जिससे मानवता का विनाश हो सकता है, तो उन्होंने अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति फ्रेंकलिनडीरुजवेल्ट को एक पत्र द्वारा विरोध भी प्रकट किया था। वे 'वसुधैव कुटुम्बकम' के पक्षधर थे। वे चाहते थे कि सारे संसार के लोग शांति और प्रेमपूर्वक एक कुटुम्ब की भाँति रहें। उन्होंने 'विश्व सरकार' बनाये जाने का भी सपना देखा था। युद्ध के वे विरोधी थे। विश्व विख्यात होने के बावजूद उन्हें अपने जीवन में अनेक कठिनाइयों को सामना करना पड़ा था। 1933 तक वे बर्लिन विश्वविद्यालय में ही कार्य करते रहे। हिटलर द्वारा यहूदियों पर किए जा रहे अत्याचारों को देखते-देखते जब उनकी सहन-शक्ति जवाब दे गई तो वे चुप न बैठ सके। उन्होंने जमकर हिटलर के अत्याचारों का विरोध किया और ऐसे में जो होना स्वाभाविक था, वही हुआ। उन्हें अपने घर-बार धन-सम्पत्ति सभी से हाथ धोना पड़ा, पर उन्होंने इसकी किंचित भी परवाह न की। वे शरणार्थी हो गए। भाग्य की कैसी विडम्बना हैं कि आइंस्टीन जैसा ख्यातिनामा वैज्ञानिक और शरणार्थी। किन्तु इसी बीच 1933 में ही अमेरिका के न्यूजर्सी के प्रिंसटन स्थित 'इंस्टीट्यूट ऑव एडवांस्ड स्टडी' (उच्च अध्ययन संस्थान) ने आजीवन सदस्यता का आमंत्रण भेजकर बुला लिया। 1940 में आइंस्टीन ने अमेरिका की नागरिकता स्वीकार कर ली। 1933 से 18 अप्रैल 1955 तक मृत्यु पर्यन्त वे इसी संस्थान से सम्बद्ध रहे। वैज्ञानिक खोजों के साथ ही विश्व शाँति के लिए भी प्रयत्नशील रहे। वे सच्चे अर्थों में शाँति-दूत थे। महात्मा गाँधी पर उनकी असीम श्रद्धा थी। गाँधी जी के निधन पर उन्होंने कहा था- "आने वाली पीढ़ियां इस बात पर कठिनाई से विश्वास करेंगी कि गाँधी जैसा कोई व्यक्ति कभी इस धरती पर पैदा हुआ होगा।"

आइंस्टीन स्वतंत्रता प्रेमी थे। संगीत प्रेमी थे और वायलिन बजाने का उन्हें बेहद शौक था। ईश्वर की सत्ता पर उन्हें अगाध विश्वास था। उनके विचार से विज्ञन और धर्म एक दूसरे के विरोधी नहीं। दोनों का एक ही ध्येय है-सत्य की खोज। और संभवतः यही कारण था कि अपने जीवन के अंतिम वर्षों में वे 'यूनीफाइड फील्ड थियरी' पर कार्य कर रहे थे। काफी हद तक उन्हें सफलता भी मिली। गुरुत्व और विद्युत-चुम्बकत्व बलों को एकीकृत करने में वे सफल हो गए, किन्तु क्षीण नाभिकीय बल (वीक न्यूक्लियर फोर्स) और प्रबल नाभिकीय बल (स्ट्रांग न्यूक्लियर फोर्स) को एकीकृत करने में वे असफल रहे। वैसे समय ने उनका साथ नहीं दिया। यदि कुछेक वर्ष वे और जीवित रहते तो संभवतः उन्हें ही इसका श्रेय मिलता। किन्तु 1979 में भौतिकी का संयुक्त रूप से पुरस्कार पाने वाले वैज्ञानिकों- अब्दुस्सलाम, स्टीवेन वीनवर्ग और शेल्डन ग्लैसो ने क्षीण नाभिकीय बल और विद्युत्-चुम्बकत्व का एकीकरण कर दिखाया। इस प्रकार अब वैज्ञानिक चारों बलों को एकीकृत करने के निकट हैं। और निकट भविष्य में 'यूनीफाइड फील्ड थियरी' का आइंस्टीन का सपना जल्दी ही सच होगा, ऐसी आशा की जानी चाहिए।

आइंस्टीन का जीवन आने वाली पीढ़ियों को अनुप्राणित करता रहेगा। वे सदैव हमारे प्रेरणास्रोत बने रहेंगे। किन्तु आइंस्टीन के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी युद्धविहीन शांत सुखमय वसुन्धरा।

■ ■

आप को रोगग्रस्त हृदय चाहिये या फिर रोगविहीन ?

कु० अपर्णा शर्मा

दुनियाभर में भारतीय भोजन को सबसे ज्यादा मसालेदार और जायकेदार समझा जाता है लेकिन क्या आप जानते हैं कि हम खाने में अधिक मसाले और घी का प्रयोग करके भोजन को तो जायकेदार बना रहे हैं पर अपनी सेहत को नुकसान पहुँचा रहे हैं ? माना कचौड़ी, दाल-बाटी, जलेबी आदि सबसे अच्छी लगती है और देखते ही मुंह में पानी आ जाता है लेकिन इसका मतलब ये नहीं कि आप खाते ही चलें जायें। पहली बात तो ये है कि आप का पेट कोई कनस्तर नहीं और दूसरी बात अगर सेहत अच्छी रहेगी तो खाने को बहुत कुछ है इस जहान में। लेकिन अगर सेहत ठीक नहीं तो बस वही मिलेगा उबला खाना। माना उबला खाना बुरा नहीं होता, लेकिन रोज-रोज खाया भी तो नहीं जाता। अकसर लोग छाती में दर्द की शिकायत करते हैं, कहते हैं सांस फूल जाती है। थोड़ा सा चलते ही छाती में दर्द होने लगता है। ज्यादा काम से, भागने आदि से दर्द बढ़ जाता है। कई बार यह दर्द चिन्ता का विषय बन जाता है। इस दर्द का मुख्य कारण जो देखने में आया है, वह है हृदय का घायल होना या फिर हृदय का सिकुड़ना। ये रक्त के बहाव के कम होने के कारण होता है, जिसके कारण ऑक्सीजन की मात्रा कम हो जाती है।

स्थानिक आरक्तता या इश्चीमिया के दर्द में संकरापन हो जाता है। धमनी में संकीर्णता ज्यादा वसा के जमा होने के कारण होती है। इस जमाव के कारण हृदय को सही मात्रा में ऑसीजन नहीं मिल पाती। इसके रोगी को सांस लेने में कठिनाई होती है।

ऐंजाइना दो प्रकार के होते हैं। एक ऐंजाइना वह है, जिसमें व्यक्ति को आराम की अवस्था में भी पीड़ा होती है। इसे "अनस्टेबल ऐंजाइना" कहते हैं तथा दूसरी अवस्था में रोगी ज्यादा काम करने पर दर्द महसूस करता है, जो आराम करने पर ठीक हो जाता है। इसे स्टेबल ऐंजाइना पेक्टोरिस कहते हैं। अनस्टेबल ऐंजाइना में रोग इतनी तेजी से फैलता है कि इसमें हृदयाघात होने का अधिक डर रहता है। इस अवस्था को हृदयपेशी रोधगलन या मायोकार्डियल इाफार्क्शन या संक्षेप में एम आई कहते हैं। इस अवस्था में रोगी का उपचार उपमार्ग ऑपरेशन या फिर बलून एन्जियोप्लास्टी द्वारा किया जाता है।

ऐंजियोग्राफी का मतलब है, ऐंजियो यानी धमनी और ग्राफी यानी दृश्य। ऐंजियोग्राफी यह पता लगाने के लिए की जाती है कि रोगी को बैलून ऐंजियोप्लास्टी की जरूरत है या बाईपास सर्जरी की। एंजियोप्लास्टी वह तकनीक है जिससे एक व्यक्ति को बचाया जा सकता है तथा एंजियोग्राफी से रोग का पता लगाया जाता है। एंजियो-

457 खेल गाँव, नई दिल्ली – 49

7 अप्रैल विश्व स्वास्थ्य दिवस पर

भारत में प्रति हज़ार 7 लोग एड्स से संक्रमित

एशिया में विश्व के किसी भी अन्य भाग की तुलना में अधिक तेजी से एड्स फैल रहा है। यह चिंता का विषय है।

'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के अनुसार एशिया में सन् 2000 तक एड्स रोगियों की संख्या में चार गुनी वृद्धि होगी। इस महाद्वीप में इस समय 25 लाख एड्स रोगी हैं। इनमें से 40 प्रतिशत महिलाएं हैं। सन् 2000 तक यह संख्या बढ़कर एक करोड़ से भी अधिक हो जाएगी।

यूं तो एशिया में एड्स का सबसे भयानक प्रकोप थाइलैण्ड में है, किन्तु भारत भी इसके हमले से बचा नहीं है। अनुमान है कि इस समय भारत में हर एक हजार में सात से अधिक लोग एड्स संक्रमित हैं।

भारत सरकार के स्वास्थ्य और परिवार मंत्रालय के अन्तर्गत कार्यरत राष्ट्रीय एड्स नियंत्रण संगठन, नाको, ने 31 मार्च 1994 तक देश भर में एड्स के 713 रोगियों को दर्ज किया था। हालांकि वास्तविकता में एड्स रोगियों की संख्या इससे बहुत अधिक है।

एक अनुमान के अनुसार भारत में इस समय करीब 20 लाख लोग एड्स विषाणु एच० आई० वी० से संक्रमित हैं। स्वैच्छिक रक्तदाताओं के रक्त तथा रोगियों को उनके रिश्तेदारों द्वारा दिये गये रक्त के विश्लेषण से पता चलता है कि बैंग्लूर में एक प्रतिशत से अधिक, हैदराबाद में एक प्रतिशत से कम कलकत्ता में तीन प्रतिशत और दिल्ली में एक प्रतिशत लोग एच० आई० वी० से संक्रमित हैं।

'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के अनुसार तमिलनाडु, गुजरात, कर्नाटक और पंजाब जैसे अनेक राज्यों में एक प्रतिशत लोगों में एड्स और यौन संचारित रोग एस० टी० डी० व्याप्त है।

एड्स का फैलना केवल संख्या की दृष्टि से चिन्ताजनक नहीं है बल्कि समाज व परिवार पर पड़ने वाले व्यापक दुष्प्रभावों की वजह से, चिन्ताजनक है। आने वाले समय में एड्स न केवल भयानक महामारी बनकर मानव जाति पर टूटेगा बल्कि यह पारिवारिक विघटन तथा सामाजिक विलगाव को भी तेज करेगा। इसकी सबसे अधिक कीमत महिलाओं और बच्चों को ही चुकानी पड़ेगी।

'विश्व स्वास्थ्य संगठन, ने एड्स के परिवार पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों के मद्देनजर इस साल एक दिसम्बर को मनाये जाने वाले विश्व एड्स दिवस का नारा दिया है 'एड्स रोगी का परिवार ही उसका तीमारदार।

बच्चों और महिलाओं पर एड्स की चौतरफा मार पड़ती है। एड्स इन्हें आसानी से शिकार बना लेता है। एच० आई० वी० संक्रमित बच्चों में एड्स के लक्षण तेजी से उभरते हैं और उनकी शीघ्र मौत हो जाती है। अगर बच्चे एड्स के कारण अपने माँ-बाप को खोकर असहाय हो जाते हैं तो उनकी जिन्दगी बर्बाद हो जाती है।

जिन बच्चों के माँ-बाप की मृत्यु एड्स के कारण ही जाती है उन बच्चों की देखभाल न तो उनके रिश्तेदार और न ही पड़ोसी करते हैं। समाज इन बच्चों का बहिष्कार कर देता है, ये बच्चे सड़कों पर भटकते हैं, फुटपाथों पर जीवन बसर करते हैं तथा गुमराह होकर आवारागर्दी करते हैं। कई बार नशे के शिकार हो जाते हैं और अपराधियों के जाल में फंस कर खुद अपराधी बन जाते हैं। इस तरह समाज में हिंसा और अपराध में वृद्धि होती है। ये बच्चे सेक्स के धन्धे में लिप्त हो जाते हैं जिससे एड्स फैलने का खतरा और बढ़ जाता है।

(संकलित)

■ ■

दुःख दर्द की आइसक्रीम

○डॉ० दिनेश मणि

दु:ख दर्द की आइसक्रीम
मैं दिल में जमा रहा हूँ।

खारे आँसुओं से

नमक का विलयन बनाकर।
मिलन-वियोग की अनुभूतियों को

आपस में मिलाकर,
संवेदनाओं की उसमें—

लकड़ी लगा रहा हूँ।
दु:ख दर्द की आइसक्रीम
मैं दिल में जमा रहा हूँ।

अब सूरज साफ करेगा खारा पानी

खारा पानी सीधे पिया नहीं जा सकता। इसे पीने लायक बनाया जा सकता है एक छोटी सी तकनीक से

राजीव गुप्ता

प्रकृति ने कई स्थानों पर केवल खारा भू-जल ही उपलब्ध कराया है। वैज्ञानिक बताते हैं कि ऐसा भूमि की संरचना के कारण होता है-जहाँ ज्यादा लवण होता है वहाँ पानी खारा मिलता है। ऐसे इलाकों में न सिर्फ पेयजल की समस्या बनी रहती है बल्कि सिंचाई करना भी एक जोखिम भरा कार्य होता हैं।

अब एक ओर जहाँ कुछ इलाकों में खारा पानी प्रकृति की देन है वहाँ दूसरी ओर नई सिंचाई सुविधाओं से भी मानव स्वयं भू-जल को खारा कर रहा है। नहरों से की जा रही सिंचाई से भू-जल का स्तर बढ़ने लगता है। जिससे भूमि की ऊपरी सतह पर न केवल लवणों की मात्रा बढ़ने लगती है बल्कि पानी भी खारा हो जाता है।

आँकड़े दर्शाते हैं कि आज देश में नहर-सींचित जमीन के कारण लगभग 230 लाख हैक्टेयर भूमि क्षारीय हो गई है। एक ओर जहां ऐसे इलाकों में फसलें उगाना कठिन हो चला है वहाँ दूसरी ओर खारे पानी के कारण पेयजल की समस्या ज्वलंत हो गई है।

लेकिन बिना सरकारी सहायता के इस खारे पानी को पीने योग्य बनाया जा सकता है। इसके लिए कोई खास मेहनत भी नहीं करनी पड़ती है क्योंकि इसमें सौर-ऊर्जा का मुख्य योगदान रहता है।

विधि बहुत सरल है। एक गोलाकार बर्तन या बाल्टी जिसकी गर्दन का घेरा 40 से॰ मी॰ व्यास का हो और गहराई भी लगभग 40 से॰ मी॰ हो, ले लेते हैं। इसके अंदर एक गोलाकार बर्तन रख देते हैं जिसका गर्दन का व्यास 20 सेमी॰ और ऊंचाई भी 20 सेमी॰ होती है। यह छोटा बर्तन ऊपर से खुला रहता है।

बड़े बर्तन के अंदर पत्थर या धातु का छल्ला रखकर उस पर यह छोटा गोल बर्तन टिका देते हैं। अब एक प्लास्टिक की चादर लें और उससे बड़े बर्तन को इस प्रकार ढक दें कि चादर की झोल एक शंकु (या कीप) का आकार ले ले। यदि ऐसा न हो तो बीच में गोल आकार का छोटा सा पत्थर रखा जा सकता है।

खारे पानी को मीठा बनाने की तकनीक

अब खारे पानी को मीठा बनाने वाला यंत्र तैयार है। बड़े बर्तन में खारा पानी डालिये लेकिन ध्यान रहे कि छोटे बर्तन ऊँचाई से ज्यादा पानी न भरा जाये। ऊपर से प्लास्टिक की चादर, जैसा पीछे बताया गया है, से बड़े

ऊर्जा पर्यावरण समूह, एच-12, ओल्ड डबल स्टोरी, लाजपत नगर-4, नई दिल्ली-110 024

बर्तन का मुँह बांध दें, शंकुनुमा आकार अवश्य बनना चाहिए। एक और बात का ध्यान रहे कि प्लास्टिक का यह शंकु अंदर वाले छोटे बर्तन के ऊपर, बीचो-बीच लटका रहे लेकिन उसे छुए नहीं।

अब खारे पानी भरे इस वाष्पक को खिली धूप में रख दें। सात दिन यदि ठीक धूप मिलती रहे तो छोटे बर्तन में काफी मीठा पानी एकत्र हो जायेगा। जरूरत के अनुसार ऐसे ज्यादा वाष्पक भी तैयार किये जा सकते हैं।

इसका सिद्धांत बड़ा सीधा है। यह ठीक वही सिद्धांत है जिसके बल पर सूरज समुद्र का खारा पानी भाप बनाकर मीठे पानी की बरसात करता है। बड़े बर्तन के समुद्र का खारा पानी भी सूरज की गर्मी से पहले तो भाप बनता है फिर रात की ठंड से पानी की बूंद में बदल जाता है। ये मीठे पानी की बूंदे प्लास्टिक के शंकु की ढलुआं दीवार से फिसलकर बूंद-बूंद करके छोटे बर्तन में एकत्रित हो जाती हैं।

इस तकनीक की कारगरता निम्न बातों पर निर्भर करती है :

- इस तकनीक के लिए वर्तमान में जिस आकार का बर्तन प्रयोग में लाने का सुझाव दिया गया है, वह आदर्श आकार है। बर्तन का आकार न बदलें।
- बर्तन को जमीनी सतह से कम से कम 15 सेमी० ऊपर रखें। इसके लिए बर्तन के नीचे ईंट या पत्थर की स्लैब का इस्तेमाल किया जा सकता है।
- बाहरी व भीतरी बर्तन की बाह्य परत को यदि काले रंग से पोत दें तो वाष्पीकरण की प्रक्रिया बढ़ जाएगी।

18 या 20 मिमी० की गेल्वेनाइज्ड चादर या पतली टीन की चादर का इस्तेमाल करना श्रेयेष्कर होगा।

- सूरज न हो तो खारे पानी को गर्म किया जा सकता है। बाद में सीधी रोशनी न पड़ने के बावजूद सूरज की गर्मी से ही वाष्पीकरण की प्रक्रिया जारी रहेगी।
- ऊपरी सिरे पर बने कीप में ठंडा पानी भर दिया जाए तो वाष्पीकरण तेजी से होगा।

इस विधि की विस्तृत जानकारी के लिए निम्न पते पर लिखें या संपर्क करें—

डॉ० फेलिक्स रेयन

रेयन फाउन्डेशन 8, पश्चिम मादा स्ट्रीट श्रीनगर कॉलोनी, मद्रास-600 015

(ईईजी फीचर्स)

कहीं टूट न जाये

Oडॉ० दिनेश मणि

कहीं टूट न जाये परखनली—
इतना न परख, ऐ जिन्दगी
कुछ अभिकर्मक मिले अपमिश्रित—
औ उपकरणों में छिपी गन्दगी।
कोई बताये मुझे कि ऐसे में—
कैसे आयें परिणाम सही ?

विश्व स्वास्थ्य दिवस : औपचारिक या व्यावहारिक ?

दर्शनानन्द

'विश्व स्वास्थ्य संगठन' की ओर से समय-समय पर स्वास्थ्य सम्बन्धी अनेक संस्तुतियाँ दी जाती रहती हैं। जनसाधारण का स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए शासन एवं प्रशासन की ओर से कुछ नियम व वायदे-कानून भी बने हैं। परन्तु क्या इनका वास्तव में पालन हो रहा है ? सम्भवतः नहीं।

और यदि पालन नहीं हो रहा है तो आखिर क्यों ? क्या कोई देखने या जाँच करने वाला नहीं है ? या यदि है तो क्या अपने कर्तव्यों के प्रति वह जागरूक है ? अथवा वह जानबूझ कर अनभिज्ञ बन कर इस इल्लत में पड़ना ही नहीं चाहता हो ?

वैसे इनमें से कोई न कोई कारण तो है ही, जिससे स्थिति यथावत् बनी रहती है और प्रत्येक दशा में भोगना तो जनता को ही पड़ता है।

फल-सब्जी और मिठाइयों का बाजार

गर्मी के मौसम में ठेलों पर बिकते हुए तरावट प्रदान करने और प्यास बुझाने वाले कटे हुए लाल रंग के तरबूज कितने आकर्षक लगते हैं। परन्तु ये पहले से ही मक्खियों और गर्द-गुबार से इस प्रकार 'शोधित' रहते हैं कि इन्हें खाते ही 'हैजा' हो जाए। लगभग यही दशा कटे हुए अन्य फलों, कद्दू और दूसरी सब्जियों को प्रयोग करने पर होती है।

वर्षा ऋतु में या ग्रीष्म ऋतु में बिकते हुए खजूर और अमावट यद्यपि बड़े स्वादिष्ट और पौष्टिक होते हैं और विटामिन-ए तथा पर्याप्त ऊष्मा शक्ति भी प्रदान करते हैं। परन्तु इन पर भी ये मक्खियाँ बराबर खतरे की घंटी बजाती रहती हैं। इस दिशा में मिठाइयों और दही आदि का योगदान भी कम नहीं है।

फिर भी यदि इन सभी सामग्रियों को पारदर्शक पॉलीथीन की चादर से ढक कर रक्खा जाय तो स्थिति में पर्याप्त अंतर लाया जा सकता है। सामग्रियों का ढकना विक्रेताओं को कहाँ तक भाता है, इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

एक बार मैं बाजार में पहुँचा। एक विक्रेता ठेले पर अंगूर लिए 'चमन वाले अंगूर' के नारे लगा कर चिल्लाता जा रहा था। अंगूर खरीदने के लिए मैं चला तो दूर से ऐसा लगा कि अंगूरों को जैसे किसी चीज से ढक कर रखा गया हो। ठेले के पास पहुँचा तो मक्खियों की सेना चारों ओर मंडरा रही थीं। काफी प्रयास किया तब कहीं जा कर अंगूर दिखाई पड़े। मक्खियों के विषय में कहने पर विक्रेता ने उत्तर दिया "इन्हें ले जाइए। धुल कर खा

उपनिदेशक उद्यान, इलाहाबाद मण्डल (अवकाश प्राप्त), सी-67, गुरू तेग बहादुर नगर, इलाहाबाद-211016 (उत्तर प्रदेश)

लीजिएगा । मक्खियाँ कहाँ नहीं हैं । फलों पर नहीं हैं, कपड़ों पर नहीं है या मिठाइयों पर नहीं हैं । ये कहाँ जाएगी'' ? मैं विक्रेता की सीख को ध्यान से सुनता हुआ आगे बढ़ गया ।

हलवाई की दूकान पर एक बार दही लेने चला । दूकान पर यद्यपि मक्खियाँ हांकी जा रही थीं, फिर भी दही को ढककर रखने के लिए कहने से मैं नहीं चूका । इस पर उत्तर मिला, ''बाबूजी अगर इन्हें ढक देंगे तो मक्खियाँ भूखी तो रहेंगी नहीं, कहीं न कहीं तो रहेंगी ही ।''

होटलों की स्थिति

होटलों में खाने की जो मेजें होती हैं उनके लिए सम्भवत: ऐसा नियम है कि मेज का ऊपरी भाग शीशे या सनमाइका का होना चाहिए । परन्तु फटी हुई लकड़ी की मेजें दिखाई पड़ना कोई नई बात नहीं है । ऐसी मेजों पर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं का बसेरा होता है ।

पेयजल

जनता को जो पेय जलापूर्ति की जाती है, साफ-सुथरी और क्लोरिनेटेड होनी चाहिए । परन्तु कभी साफ तो कभी रोगाणु सहित बासी पानी मिलता है ।

वर्षा ऋतु में तो कभी-कभी पेयजल की पाइप सीवर लाइन से जुड़ जाती है, जिससे दुर्गंधित संक्रामक जल पीने को मिलता है । इधर-उधर लगे हुए नलों का क्या ठिकाना ? लेकिन प्यास लगने पर पानी तो पीना ही पड़ता है, चाहे उस पानी को पी कर 'डायरिया' ही क्यों न हो जाए । अस्सी प्रतिशत बीमारियाँ दूषित जल के माध्यम से होती हैं ।

मच्छरों का आतंक

मक्खियाँ तो आतंकवादी हैं ही, मच्छर भी पीछे नहीं हैं । ये मच्छर किसी दशा में पीछा नहीं छोड़ते, चाहे किसी को 'मलेरिया' हो जाए चाहे 'फाइलेरिया' । आखिर उन्हें भी तो जीना है । रात में सोते समय मच्छरदानी न लगाई जाय तब तो उन्हें पूरी छूट रहती ही है । परन्तु यदि मच्छरदानी लगा ली जाय और उसमें यदि केवल एक मच्छर ने भी पहुँचने की व्यवस्था कर ली, तब तो वह रात भर सेवा करता रहेगा । अब तो जगह-जगह मच्छरों की इतनी फौज इकट्ठी रहती है कि ऐसा लगता है कि जैसे कि अब मच्छर-उत्पादन-विभाग खुल गया हो ।

धूम्रपान और पार्श्व धूम्रपान

काफी दिनों से यह चर्चा है कि धूम्रपान और तम्बाकू के प्रयोग से 'कैन्सर', 'हृदयरोग' और 'ब्रांकाइटिस' जैसे घातक रोगों को जन्म मिलता है, जो मुख्यत: निकोटिन और टार के कारण होता है । हर साल इनसे अनेक लोगों को जान से भी हाथ धोना पड़ता है, फिर भी इनके प्रयोग में कमी नहीं आ रही है । सिनेमा हॉल, बसें, रेल-गाड़ियाँ या अन्य सार्वजनिक स्थान, जहाँ धूम्रपान प्रतिबंधित है, वहाँ भी खुले आम धुंए उड़ाए जाते हैं । धूम्रपान करने वालों के कारण उनके आस पास के लोग तथा परिवार जनों को पार्श्व धूम्रमान करने के लिए बाध्य होना पड़ता है । एक सूचना के अनुसार पार्श्व धूम्रपान साधारण धूम्रपान से कहीं अधिक घातक होता है ।

सैनफ्रांसिस्को में स्थित केलिफोर्निया विश्वविद्यालय में मेडिसिन के प्रोफेसर ए०ग्लैन्ट्स ने हृदय रोग के विषय में अपना मत व्यक्त किया है कि पार्श्व धूम्रपानियों में साधारण धूम्रपानियों की अपेक्षा हृदय रोग की सम्भावनाएँ अधिक होती हैं।

पुन: वहीं के एक प्रशासन संगठन ऑकुपेशनल सेफ्टी एण्ड हेल्थ एडमिनिस्ट्रेशन (OSHA) की एक ताजी सूचना के अनुसार हर साल पार्श्व धूम्रपान के कारण—

(i) उत्पन्न हृदय रोग से लगभग 47,000 व्यक्ति मरते हैं।

(ii) गैर-जानलेवा हृदयाघात (हार्ट अटैक) से 1,50,000 व्यक्ति प्रभावित होते हैं। और

(iii) फेफड़े के कैन्सर से 3000 व्यक्ति मर जाते हैं।

नशाबंदी

रेडियो, समाचारपत्रों और टी० वी० (टेलीविजन) के माध्यमों से रोजाना दिखाया जाता है कि मदिरापान की आदत बुरी है। यह जानलेवा हो सकती है। इसके प्रयोग से कलेजा छलनी हो जाता है तथा हृदय रोग और पीलिया जैसे रोगों को बढ़ावा मिलता है, जिसके बाद में घातक परिणाम मिलते हैं।

इसके बावजूद भी स्थान-स्थान पर मधुशालाएँ (मदिरालय) खुलती जा रही हैं। मदिराएँ विषयुक्त भी बन रही हैं। इनके पीने से अनेक बार मौतें हो चुकी हैं। फिर भी न तो मदिरालय बंद किये जा रहे हैं और न ही पीने वालों की संख्या में कमी आ रही है।

दवाओं में मिलावट

7 अप्रैल 1995 को विश्व स्वास्थ्य दिवस मनाया जा रहा है। विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा इसका मुख्य मुद्दा यह है कि वर्ष 2000 तक सारा विश्व 'पोलियो'-मुक्त हो जाएँ। इस संगठन के अनुसार अब तक 150 देश पोलियो-मुक्त हो चुके हैं। परन्तु अपने देश में क्या हो रहा है? नवीनतम समाचार के अनुसार पश्चिमी बंगाल के नाडिया जनपद में प्राइमरी स्वास्थ्य केन्द्र देबाग्राम पर 4 अप्रैल 1995 को पोलियो और मीजल्स के टीके लगाए जाने से 11 बच्चे अपने जीवन से हाथ धो बैठे और 34 बच्चे मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन पोलियो रोग को नष्ट करने के भारतीय प्रयासों से संतुष्ट नहीं हैं।

अतएव आवश्यकता है कि आम लोग—सब्जी वाले, फलवाले, मिठाई वाले और घरों के आस-पास कूड़े का ढेर लगाने वालों में इस बात की चेतना फैले कि अच्छे स्वास्थ्य के लिए व्यक्तिगत साफ-सफाई अत्यन्त आवश्यक है। कोई भी राष्ट्र तभी प्रगति करता है जब उसके नागरिकों का स्वास्थ्य अच्छा हो, क्योंकि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है।

■ ■

हृदय की स्वस्थ धड़कन ही है जीवन

सतेन्द्र कुमार

हमारे शरीर में आवश्यक पदार्थों, जैसे-भोजन, हारमोन, ऑक्सीजन, कार्बन डाइऑक्साइड इत्यादि का परिवहन रक्त के माध्यम से होता है। रक्त के परिसंचरण हेतु प्रमुख केन्द्रीय अंग-"हृदय" होता है, जिसे आम भाषा में "दिल" कहते हैं। यह हृदय "मछलियों" में दो कोष्ठीय, "उभयचरों" व "सरीसृपों" में तीन कोष्ठीय (अपवाद स्वरूप सरीसृप जन्तु-"मगरमच्छ" में चार कोष्ठीय), "पक्षियों" व "स्तनियों" में चार कोष्ठीय होता है। शायरों कवियों, की आम धारणा के विपरीत हृदय कोमल न होकर एक मजबूत अंग होता है, जो "यांत्रिक पम्प" की भाँति कार्य करता है।

हमारे चार कोष्ठीय हृदय के ऊपर के भाग में बाँए व दाँए दो "आलिंद" (आरिकिल) तथा निचले भाग में बाँए व दाँए आलिंदों से जुड़े क्रमशः बाँए व दाँए दो निलय (वेंट्रिकिल) स्थित होते हैं। इसमें रक्त-परिसंचरण इस प्रकार होता है-शरीर के विभिन्न कोशिकाओं (शरीर की रचनात्मक इकाइयों) से आया हुआ अशुद्ध रक्त (कोशिकाओं में श्वसन-क्रिया के पश्चात् रक्त ऑक्सीजनविहीन हो जाता है) का परिसंचरण दाएँ आलिंद से दाएँ निलय में तथा यहाँ फेफड़ों में पम्प हो जाता है। फेफड़ों में रक्त श्वांस क्रिया के माध्यम से ऑक्सीजोनिय यानी शुद्ध हो जाता है तत्पश्चात् शुद्ध रक्त फेफड़ों से हृदय के बाएँ आलिंद से होकर बाएँ निलय में पहुँचता है जहाँ से पम्प होकर पुनः सारे शरीर के परिभ्रमण पर निकल पड़ता है। इस प्रकार प्रत्येक मिनट में हमारा सम्पूर्ण रक्त हृदय से होकर गुजर जाता है। हृदय में उपस्थित पाँच प्रकार के कपाट (वाल्व) रक्त-परिसंचरण को उपरोक्त क्रम के एक ही दिशा में होने देते हैं।

हृदय के दाएँ आलिंद में एक "शिरा-आलिंद गाँठ (एस० ए० नोड) यानी "पेसमेकर" स्थित होता है, जहाँ से हृदय की प्रत्येक धड़कन प्रारम्भ होती है। चूंकि हृदय के चारों कोष्ठक एक साथ नहीं धड़कते, धड़कन से आलिंदों व निलयों की दो प्रावस्थाएँ (स्थितियाँ) बारी-बारी से आती हैं, प्रथम-प्राकंचन (सिस्टोल), द्वितीय-अनुशिथिलन (डायस्टोल)। इस प्रकार निलयों के ही "प्राकंचन" व "अनुशिथिलन" को सम्मिलित रूप से "हृदय की धड़कन" कहते हैं। सामान्य मनुष्य का हृदय 72 से 80 बार प्रति मिनट धड़कता है अर्थात् एक धड़कन में औसत रूप से 0.8 सेकेण्ड लगता है। यदि प्रत्येक धड़कन मे लगे समय को वितरित किया जाय तो आलिंदों के प्राकुंचन में लगभग 0.15 सेकण्ड तथा निलयों के प्राकुंचन में लगभग 0.35 सेकेण्ड लगता है। प्रत्येक धड़कन के दौरान लगभग 0.3 सेकेण्ड तक हृदय के चारों कोष्ठक "अनुशिथिलन" की दशा में होते हैं जिसे हृदय की "आराम की मुद्रा" कहते हैं।

शरीर में रक्त-परिसंचरण हेतु तीन प्रकार की प्रमुख "वाहिकाएँ" (वेसेल्स) होती हैं, (क) धमनी (आर्टरी)-हृदय से रक्त दूरस्थ अंगों तक ले जाती है। (ख) शिरा (वेन)-दूरस्थ अंगों से रक्त वापस हृदय में लाती है। (ग) कोशिका (कैपिलरी)-महीनतम रक्त-वाहिका रक्त को कोशिकाओं के सीधे सम्पर्क में लाती हैं। हृदय द्वारा

ग्राम व पोस्ट खुटौली, वाया फूलपुर, जिला आजमगढ उत्तर प्रदेश

आरोपित बल के कारण, इन वाहिकाओं में बहता हुआ रक्त इनकी दीवारों पर दबाव डालता है, जिसे "रक्त चाप" (ब्लड प्रेशर) कहते हैं। मनुष्य में सामान्य रक्त चाप 120-80 मिलिमीटर, 120 मि० मी० प्राकुंचन रक्त-चाप व 80 मि० मी० अनुशिथिलन रक्त-चाप (पारे के दाब के बराबर) होता है। इसे "स्फैग्नोमीटर" की सहायता से मापा जाता है। रक्त-चाप का सामान्य सीमा से उच्च व भिन्न होना क्रमशः "उच्च" व निम्न" रक्त-चाप कहलाता है। यह स्वास्थ्य के लिए घातक होता है।

यद्यपि रक्त-वाहिकाओं के सँकरी हो जाने से उच्च रक्त-चाप की दशा उत्पन्न होती है। इसके निम्न-लिखित कारण हो सकते हैं—

—रक्त वाहिकाओं में "कोलेस्ट्रोल" के "चकत्तों का जमाव।

—वाह्य कोशिकीय द्रव्य (ई० सी० एफ०) में नमक का अतिसान्द्रण।

—रक्त में ग्लूकोस की मात्रा में अतिवृद्धि (प्रायः मधुमेह रोगियों में)।

—बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू एवं शराब का सेवन।

—हमारे शरीर में "स्थिति" "अधिवृक्क ग्रन्थियों" से आपातकालीन हारमोन-"ऐड्रिनेलिन" का अतिस्त्रावण।

—वायु एवं ध्वनि प्रदूषित वातावरण में अधिक समय तक रहना।

—अत्यधिक चिन्ता, क्रोध इत्यादि।

उच्च रक्त-चाप के प्रभाव व वाहिकाओं में रक्त-संचार में अवरोध पैदा हो जाता है, जिससे वाहिकाओं के टूटने का यानी रक्तस्राव (हीमोरेज) का खतरा बन जाता है। यदि यह रक्त स्राव किसी प्रमुख अंग को रक्त पहुँचाने वाली धमनी के कारण होता है तो ऐसी दशा में शरीर का अंत भी हो सकता है।

हृदयाघात (हार्ट-अटैक)

इसे "दिल का दौरा" भी कहते हैं। वस्तुस्थिति यह हैं कि हमारे शरीर में हृदय की पेशियाँ, बिना थके, आजीवन कार्य करती रहती हैं परन्तु कुछ विशेष दशाओं में इन पेशियों में संकुचन की क्षमता समाप्त हो जाती है। इससे हृदय गति रुक जाती है। इसे हृदयाघात कहते हैं। हृदयाघात के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

—हृदय की धड़कन का "ट्रिगर" यानी पेसमेकर का खराब हो जाना।

—हृदय की पेशियों को रक्त की आपूर्ति करने वाली एक जोड़ी "हृदवाहिनी" (कोरोनरी) धमनियों का अवरुद्ध हो जाना।

—कभी-कभी अति उच्च व अतिनिम्न रक्त चाप की दशा।

प्रायः समाज में कारोनरी धमनियों के अवरुद्ध हो जाने से हृदयाघात होता है तथा इनके अवरुद्ध होने का प्रमुख कारण होता है चर्बीयुक्त भोजनों से व्युत्पन्न "कोलेस्ट्रॉल" का इन धमनियों में जमाव। ऐसी दशा में हृदय की

पेशियों को पर्याप्त रक्त व ऊर्जा नहीं मिल पाती है तथा हृदय गति रुक जाती है। इस प्रकार के हृदयाघात को "कोरोनरी थ्राम्बोसिस" अथवा "एंजाइना आघात" भी कहते हैं।

निवारण

पिछले तीन दशकों से वैज्ञानिकों के अथक प्रयास से हृदय सम्बन्धी रोगों के निवारण में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई है। आज पेसमेकर के खराब हो जाने पर, कृत्रिम पेसमेकर लगाकर हृदयगति पुनः प्रारम्भ करा दी जाती है। हृदय के किसी वाल्व में खराबी की स्थिति में इसे कृत्रिम वाल्व द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया जाता है। कोरोनरी थ्राम्बोसिस की दशा में यानी कोरोनरी धमनियों के पूर्णतया अवरुद्ध हो जाने पर, हृदय की पेशियों को रक्त की आपूर्ति बनाये रखने हेतु, शरीर की किसी दूसरी धमनी को काटकर हृदयपेशियों में आरोपित कर देते हैं। इसे "उपमार्ग शल्यचिकित्सा" (बाईपास सर्जरी) कहते हैं।

आज कोरोनरी थ्राम्बोसिस के उपचार की अनेक ऐसी तकनीकें ज्ञात हैं जिसमें शल्यक्रिया की आवश्यकता नहीं पड़ती है। संभव होने पर कोरोनरी धमनियों में कोलेस्ट्रॉल के जमाव से उत्पन्न अवरोधों को "ऑप्टिकल फाइबर्स" (काँच के महीनतम रेशे) अथवा उच्च ऊर्जायुक्त-"लेसर किरणों" के माध्यम से दूर कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त ',एंजियो-बैलूनोप्लास्टी" तकनीकी के माध्यम से सँकरी हो गयी कोरोनरी धमनियों को फैलाकर पुनः सामान्य दशा में कर दिया जाता है। इसमें सूक्ष्मतम गुब्बारों को उक्त धमनियों में आरोपित कर पुनः फुला देते हैं। परन्तु इसका नकरात्मक पहलू यह है कि इस चिकित्सा के पश्चात् 30 से 50 प्रतिशत तक धमनियों में "री-स्टेनोसिस" (पुनः थक्कों के जमाव) का खतरा बना रहता है। अभी हाल ही में जे० जे० अस्पताल, बम्बई के डॉ **अनिल कुमार** ने कोरोनरी अवरोधों को समाप्त करने के लिए "परक्युटैनियास ट्रान्सल्युमिनल कोरोनरी एंजियोप्लास्दी" (पी० टी० सी० ए०) नामक नई तकनीक विकसित की है। इसके अन्तर्गत सूक्ष्मतम गुब्बारों पर **"टैंटेलियम"** धातु की महीनतम स्प्रिंगनुमा-"स्टेंट" मढ़कर, इसे कोरोनरी धमनियों में आरोपित करते हैं। इस चिकित्सा में कोरोनरी धमनियों में "री-स्टीनोसिस" का खतरा एंजियोबैलूनोप्लास्टी की तुलना में 20 प्रतिशत तक कम हो जाता है।

सावधानियाँ

आज दुनिया में लगभग 40 प्रतिशत लोग हृदय सम्बन्धी रोगों से ग्रसित हैं। इसके विपरीत समाज के सभी वर्गों के लोगों के लिए हृदय चिकित्सा की उच्च तकनीकें उपलब्ध नहीं हैं। अतः हम अपने दैनिक जीवन में सुधार कर हृदय रोगों से दूर रह सकते हैं। इसके लिए हमें प्रतिदिन सुबह कम से कम आधा घंटा तक स्वच्छ वातावरण में टहलना चाहिए ताकि रक्त-वाहिकाओं में भली भाँति रक्त-संचार हो सके और सभी अंगों को पर्याप्त ऊर्जा मिल सके। कोलेस्ट्रॉल व्युत्पन्न करने वाले चर्बीयुक्त भोजनों (तेल, घी इत्यादि) का उपयोग कम से कम करना चाहिए। इसमें माँसाहार के बजाय शाकाहार फायदेमन्द होता है। उच्च रक्त-चाप के लिए जिम्मेदार धूम्रपान, मद्यपान इत्यादि से बचना चाहिए। इस प्रकार हम अपने हृदय में विकारों को कम कर सकते हैं।

असली बनाम नकली दिल

एक ओर समूची दुनिया में हृदय-आघात की घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं तो दूसरी तरफ आधुनिक चिकित्सा के कारण लोगों की औसत उम्र भी बढ़ती जा रही है। असहाय समझी जाने वाली बीमारियों से भी लोग अब बच जाते

हैं, लेकिन दिल के दौरे का खतरा बना ही रहता है। कोई भी व्यक्ति तभी तक जीवित रहता है जब तक उसके दिल की धड़कन बनी रहती हैं। वस्तुस्थिति यह है कि व्यक्ति की अचानक मृत्यु हो जाने के लगभग 7 से 8 घंटे बाद तक भी दिल जीवित रहता है तथा इसी दौरान मृत शरीर से सुरक्षित दिल निकालकर किसी जरूरतमन्द दूसरे शरीर में प्रत्यारोपित किया जाता है। चूँकि शरीर से बाहर अंगों के आगे संरक्षण (प्रीजर्वेशन) की सीमाएँ होती हैं अतः दिल निकाले जाने के बाद 12 से 14 घंटे के भीतर ही प्रत्यारोपित किया जा सकता है, इसके बाद यह बेकार हो जाता है। लगभग 98 प्रतिशत लोगों में प्रत्यारोपित असली दिल पूर्व दिल की भाँति कार्य कर नया जीवन प्रदान करता है। दुनिया में असली दिल का प्रथम प्रत्यारोपण सन् 1967 में दक्षिण अफ्रीका के चिकित्सक क्रिश्चियन बर्नार्ड ने किया था। भारत भी दिल के प्रत्यारोपण (ट्रान्सप्लांटेशन) प्रौद्योगिकी के इतिहास में अक्टूबर, 1994 के उस दिन एक नया अध्याय जुड़ गया जब दिल्ली अस्पताल के डॉ० पी० वेणुगोपाल ने 35 वर्षीय एक स्त्री का दिल 42 वर्षीय पुरुष के शरीर में सफल रूप से प्रत्मोरोपित कर उसे नया जीवन प्रदान कर दिया।

दुनिया में कृत्रिम (नकली) दिल बनाने की कोशिशें पिछले तीन दशकों से चलती रही हैं। आदमी में पहला कृत्रिम दिल, अमेरिका में "टेक्सास हार्ट संस्थान" के डॉ० कूली ने अप्रैल, 1969 में प्रत्यारोपित किया था, लेकिन यह केवल उस समय तक के लिए था, जब तक उस 47 वर्षीय पुरुष मरीज को दाता से दूसरा दिल नहीं मिला कृत्रिम दिल के सफर में सबसे सफल अंजाम है, अमेरिका के डॉ० रार्बट जारविक द्वारा तैयार किया गया "जारविक-7" दिल। यह दिल एक विशेष प्रकार के प्लास्टिक एवं एलुमिनियम से मिलकर बना है। इसका भार 300 ग्राम है तथा इसकी संरचना प्राकृतिक (असली) दिल से मिलती-जुलती है। लेकिन इसकी सबसे बड़ी कमजोरी है कि यह अपने आप नहीं धड़क सकता, इसलिए इसे बाहरी ऊर्जा स्रोत से जोड़ना पड़ता है। इसे धड़कने के लिए "संपीडित हवा" (कम्प्रेस्ड एअर) का उपयोग किया जाता है। "जारविक-7" को सर्वप्रथम दिसम्बर सन् 1982 को एक अमेरिकी व्यक्ति में प्रत्यारोपित किया गया था, परन्तु गुर्दों (किडनी) के काम न करने से लगभग चार माह बाद उस व्यक्ति की मृत्यु हो गयी। आज भी दुनिया भर में दिल के विकल्प ढूढ़ने के प्रयास जारी हैं।

■ ■

विजय को पुरस्कृत

'विज्ञान परिषद् प्रयाग' के आजीवन सभ्य और विज्ञान लेखक विजय जी को उनकी नवीनतम कृति "हथियारों की कहानी" पर 'शकुन्तला सिरोठिया बाल साहित्य (अनुशंसा) पुरस्कार' प्रदान किया गया है। यह पुरस्कार उन्हें 1994 में प्रकाशित पुस्तकों की प्रविष्टियों पर दिया गया है। इसके पूर्व विजय जी को 'डॉ० गोरख-प्रसाद पुरस्कार', उ० प्र० हिन्दी संस्थान का 'सूर पुरस्कार' तथा पत्रकारिता के लिये 'अभिव्यक्ति पुरस्कार' मिल चुके हैं।

श्री विजय जी को विज्ञान परिषद् परिवार की बधाई।

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठकगण

"विज्ञान" का अप्रैल-मई 1995 संयुक्तांक आपके हाथों में है। हमें आशा है कि आगामी अंक से "विज्ञान" पत्रिका का प्रकाशन पुनः नियमित हो जायेगा। 7 अप्रैल को 'विश्व स्वास्थ्य दिवस' के अवसर पर "इक्कीसवीं शती के घातक रोगों की चुनौतियां" विषय पर श्री दर्शनानन्द जी की अध्यक्षता में एक विचार-गोष्ठी सम्पन्न हुई। इस अंक मेंस्वास्थ्य संबन्धी कुछेक लेख प्रकाशित किए जा रहे हैं।

22 अप्रैल को 'विश्व पृथ्वी दिवस' के अवसर पर 'तपती धरती बदलता परिदृश्य' विषय पर डॉ० शिवगोपाल मिश्र जी की अध्यक्षता में एक विचार-गोष्ठी सम्पन्न हुई। प्रसन्नता की बात है कि हमें आप सहृदय जनों एवं विद्वत् समूह के सहयोग के साथ ही साथ स्थानीय अंग्रेजी और हिन्दी के समाचारपत्रों का भरपूर सहयोग मिल रहा है। स्थानीय पत्र विचार-गोष्ठियों में व्यक्त विचारों को निरंतर अपने प्रतिष्ठित दैनिक समाचार पत्रों में स्थान दे रहे हैं। इस प्रकार 'विज्ञान के प्रचार-प्रसार के हमारे प्रयासों को गति मिल रही है। परिषद् की आर्थिक और अन्य कठिनाइयों के बावजूद परिषद् से जुड़े व्यक्ति अपने श्रम और अपनी निष्ठा से कार्य को आगे बढ़ा रहे हैं। पिछले 4-5 वर्षों से पुराने विज्ञान सेवियों के अतिरिक्त कुछेक नये लोग परिषद की गरिमा बढ़ाने के पुनीत कार्य में जुटे हैं। आजकल जब इलाहाबाद की सड़कें तपती दोपहरी में सुनसान दिखती हैं, परिषद् में लोग यथावत आते हैं। इससे हमें भी प्रेरणा मिलती है। और सच्चाई यह है कि इसी के प्रेरणा लेकर 31 मई 1995 को 'विश्व तम्बाकू निषेध दिवस और 5 जून को 'विश्व पर्यावरण दिवस' के अवसरों पर हमने संगोष्ठियां आयोजित करने का दृढ़ निश्चय किया है। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि हर वर्ष की भांति इस वर्ष भी 'विश्व पर्यावरण दिवस' के अवसर पर हम एक बड़ी संगोष्ठी आयोजित कर सकेंगे।

इस अंक के माध्यम से मैं पुनः सभी पाठकों और लेखकों से निवेदन करता हूँ कि जो लोग स्वर्गीय स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी के सम्पर्क में रहे हों वे पूज्य स्वामी जी के व्यक्तित्व से संबंधित प्रेरक प्रसंग अथवा स्वयं उन्होंने पूज्य स्वामी जी को जैसा देखा जैसा पाया, उनकी जिस बात से या जिस गुण से प्रभावित हुए, लेखनीबद्ध करके हमें अवश्य भेजें। इस संदर्भ में एक निवेदन और करना चाहूँगा। कृपया स्वामी जी के कृतित्व के संबन्ध में प्रकाशित साहित्य का संकलन न भेजें। आपकी अपनी दृष्टि में पूज्य स्वामी जीजैसे लगे हों, हमें लिखकर शीघ्र भेजने की अनुकम्पा करें।

प्रबुद्ध लेखकों से निम्नलिखित 2 विषयों पर लेख भेजने का मेरा विशेष आग्रह है—

1. इक्कीसवीं शती में ऊर्जा के सम्भावित नये स्रोत।
2. इक्कीसवीं शती में जनसंख्या नियंत्रण के अभिनव उपाय।

लेख इतना बड़ा हो जो "विज्ञान" पत्रिका में छप कर 2-3 पृष्ठों में आ सके।
आपके लेख हमें शीघ्र प्राप्त हो जायेंगे, इसी आशा, इसी विश्वास के साथ।

आपका

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान परिषद् की वार्षिक बैठक की रिपोर्ट

दिनांक 21 अप्रैल 1994 को अपरान्ह 2 बजे विज्ञान परिषद् की वार्षिक बैठक डॉ० एस० पी० सिंह, भौतिकी विभाग, की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई, जिसमें अपेक्षित संख्या में सदस्यों की उपस्थिति रही। बैठक में विभिन्न विषयों पर विचार किया गया एवं निम्नलिखित निर्णय लिए गए—

1. नई कार्यकारिणी, जिसका विस्तृत ब्यौरा निम्न है, का गठन किया गया—

अध्यक्ष-डॉ० नन्द किशोर वर्मा

उपाध्यक्ष-डॉ० ओ० पी० अग्रवाल

सचिव-डॉ० ब्रज भूषण

सहायक सचिव-डॉ० एस० पी० खटकर

कोषाध्यक्ष-डॉ० खेम चन्द्र कालरा

2. नई परामर्श समिति का गठन किया गया जिसमें सात सदस्य मनोनीत किए गए हैं। विस्तृत ब्यौरा निम्नानुसार है—

1. डॉ० अर्चना गर्ग
2. डॉ० राणा प्रताप सिंह
3. डॉ० एस० पी० सिंह
4. डॉ० आर डी० सिंह
5. डॉ० के० के० वर्मा
6. डॉ० केशव दत्त अध्धी
7. डॉ० एस० एस० मुदगिल (गोहाना)

3. 'डॉ० सालिगराम स्मृति व्याख्यानमाला' के अन्तर्गत **डॉ० एन० के० वर्मा** का व्याख्यान रोहतक में ही करवाया जाए। इस हेतु मुख्यालय से आज्ञा ली जाय।

4. यह निर्णय लिया गया है कि "भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर के सहयोग से, "ग्रामीण महिलाओं में पर्यावरण संचेतना की आवश्यकता" विषय पर एक वर्क-शॉप का आयोजन रोहतक में किया जाए। नव निर्वाचित उपाध्यक्ष डॉ० **ओम प्रभात अग्रवाल** को इसके क्रियान्वयन हेतु पत्र-व्यवहार करने का अधिकार दिया जाए।

5. विद्वत्‌जनों में विज्ञान परिषद् के कार्यों एवं लक्ष्यों के प्रति चेतना जागृत की जाए एवं अधिक से अधिक संख्या में आजीवन सदस्य बनाए जाएँ।

—अर्चना गर्ग
सचिव, विज्ञान परिषद्, रोहतक शाखा

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1995

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।
(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।
(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।
(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।
(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1995 से दिसम्बर 1995 माह के बीच प्रकाशित हो।
(6) लेखक को लेख के साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।
(7) विज्ञान परिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।
(8) वर्ष 1995 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1996 है।
(9) पुरस्कार के लिए पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागियों को इस प्रतियोगिता के लिए उपयुक्त नहीं समझा जायेगा।

लेख निम्न पते पर भेजें—

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पत्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०

प्रति अंक : 3 रु० 50 पैसे यह अंक : 6० रु

प्रेषक : विज्ञान परिषद्

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

ISSN 0373-1200

जून 1995 अंक

मूल्य : 3 रु० 50 पैसे

कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च
नई दिल्ली के
आर्थिक अनुदान द्वारा प्रकाशित

ग्राफी में एक खाली लेकिन लचीली नली डाली जाती है, जिसे "कैथिटर" कहते हैं। इस नली को ग्रॉइन धमनी में से शरीर के अन्दर डाला जाता है। कैथिटर से पहले एक चादर डाली जाती है।

धीरे-धीरे नली महाधमनी तक पहुँच जाती हैं। कॉरोनरी धमनी में डाई या कंट्रास्ट मीडियम को इंजेक्शन की सहायता से अन्दर डाल दिया जाता है, जिससे एक्स-रे मोनिटर की सहायता से उसका स्थान देखा जा सकता है।

एक्स-रे मोनिटर के द्वारा रिपोर्ट तैयार की जाती है, जिससे यह पता लगाया जाता है कि बैलून एंजियोप्लास्टी की जरूरत है या नहीं।

गाइड वायर कोंदोनी धमनी में एक जगह इक्ट्ठा हो जाते हैं। गाइड वायर को पतले खंड में से पार किया जाता है। गाइड वायर के सिरे से बैलून बाहर निकलता है। इस पर कुछ निशान होते हैं, जो एक्सरे- मोनिटर पर नजर आते हैं। जब ये निश्चित हो जाता है कि बैलून ठीक स्थान पर है, तो उसमें डाई डाल दी जाती है। फिर बैलून धमनी की दीवारों पर दबाव डाला जाता है जिसे बन्द धमनी में जगह बन जाती है। इस ऑपरेशन के 24 या 48 घण्टे में मरीज अपने घर जा सकता है। यह एक मामूली सा इलाज है, जिसमें कोई ऑपरेशन नहीं किया जाता है। सो इसी कारण इसमें कोई बेहोशी की दवा नहीं दी जाती। संवेदनाहरण दवा न देने के कारण मरीज अपने ऊपर हो रही गतिविधियों को खुद अपनी आँखों से देख सकता है।

लेकिन यदि आप को इस इलाज से भी बचना है तो कुछ बातों का ध्यान रखना जरूरी है :—

रोज कसरत करें या टहलें या फिर दोनों करें। बड़ी उम्र के व्यक्तियों को डॉक्टर के पास समय-समय पर जा कर अपनी जांच करानी चाहिए। सबसे अहम् बात यह है कि खाने में घी और मसालों का कम इस्तेमाल करें। यदि आप शराब और धूम्रपान के आदी हैं, तो उसे तुरंत छोड़ दें। इससे भी हृदयाघात होने का डर रहता है। अब यह आप पर है कि आपको रोग से ग्रस्त हृदय चाहिए या फिर रोगविहीन हृदय।

■ ■

नफरत का अवच्छेप

○डॉ० दिनेश मणि

नफरत का अवच्छेप, कैसे न घुलेगा ?
आप प्यार का अभिकर्मक, मिलाकर तो देखिये।

ये सिर्फ 'थ्योरी' नहीं हकीकत भी है—
मेरे दोस्तों इसे, आजमाकर तो देखिये।

क्यों अफवाहों पे फिजूल ध्यान देते हो—
सलामत है कान तुम्हारा छू कर तो देखिये।

7 अप्रैल विश्व स्वास्थ्य दिवस पर

भारत में प्रति हजार 7 लोग एड्स से संक्रमित

एशिया में विश्व के किसी भी अन्य भाग की तुलना में अधिक तेजी से एड्स फैल रहा है। यह चिंता का विषय है।

'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के अनुसार एशिया में सन् 2000 तक एड्स रोगियों की संख्या में चार गुनी वृद्धि होगी। इस महाद्वीप में इस समय 25 लाख एड्स रोगी हैं। इनमें से 40 प्रतिशत महिलाएं हैं। सन् 2000 तक यह संख्या बढ़कर एक करोड़ से भी अधिक हो जाएगी।

यूं तो एशिया में एड्स का सबसे भयानक प्रकोप थाइलैण्ड में है, किन्तु भारत भी इसके हमले से बचा नहीं है। अनुमान है कि इस समय भारत में हर एक हजार में सात से अधिक लोग एड्स संक्रमित हैं।

भारत सरकार के स्वास्थ्य और परिवार मंत्रालय के अन्तर्गत कार्यरत राष्ट्रीय एड्स नियंत्रण संगठन, नाको, ने 31 मार्च 1994 तक देश भर में एड्स के 713 रोगियों को दर्ज किया था। हालांकि वास्तविकता में एड्स रोगियों की संख्या इससे बहुत अधिक है।

एक अनुमान के अनुसार भारत में इस समय करीब 20 लाख लोग एड्स विषाणु एच० आई० वी० से संक्रमित हैं। स्वैच्छिक रक्तदाताओं के रक्त तथा रोगियों को उनके रिश्तेदारों द्वारा दिये गये रक्त के विश्लेषण से पता चलता है कि बैंग्लूर में एक प्रतिशत से अधिक, हैदराबाद में एक प्रतिशत से कम कलकत्ता में तीन प्रतिशत और दिल्ली में एक प्रतिशत लोग एच० आई० वी० से संक्रमित हैं।

'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के अनुसार तमिलनाडु, गुजरात, कर्नाटक और पंजाब जैसे अनेक राज्यों में एक प्रतिशत लोगों में एड्स और यौन संचारित रोग एस० टी० डी० व्याप्त है।

एड्स का फैलना केवल संख्या की दृष्टि से चिन्ताजनक नहीं है बल्कि समाज व परिवार पर पड़ने वाले व्यापक दुष्प्रभावों की वजह से, चिन्ताजनक है। आने वाले समय में एड्स न केवल भयानक महामारी बनकर मानव जाति पर टूटेगा बल्कि यह पारिवारिक विघटन तथा सामाजिक विलगाव को भी तेज करेगा। इसकी सबसे अधिक कीमत महिलाओं और बच्चों को ही चुकानी पड़ेगी।

'विश्व स्वास्थ्य संगठन, ने एड्स के परिवार पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों के मद्देनजर इस साल एक दिसम्बर को मनाये जाने वाले विश्व एड्स दिवस का नारा दिया है 'एड्स रोगी का परिवार ही उसका तीमारदार।

बच्चों और महिलाओं पर एड्स की चौतरफा मार पड़ती है। एड्स इन्हें आसानी से शिकार बना लेता है। एच० आई० वी० संक्रमित बच्चों में एड्स के लक्षण तेजी से उभरते हैं और उनकी शीघ्र मौत हो जाती है। अगर बच्चे एड्स के कारण अपने माँ-बाप को खोकर असहाय हो जाते हैं तो उनकी जिन्दगी बर्बाद हो जाती है।

जिन बच्चों के माँ-बाप की मृत्यु एड्स के कारण हो जाती है उन बच्चों की देखभाल न तो उनके रिश्तेदार और न ही पड़ोसी करते हैं। समाज इन बच्चों का बहिष्कार कर देता है, ये बच्चे सड़कों पर भटकते हैं, फुटपाथों पर जीवन बसर करते हैं तथा गुमराह होकर आवारागर्दी करते हैं। कई बार नशे के शिकार हो जाते हैं और अपराधियों के जाल में फंस कर खुद अपराधी बन जाते हैं। इस तरह समाज में हिंसा और अपराध में वृद्धि होती है। ये बच्चे सेक्स के धन्धे में लिप्त हो जाते हैं जिससे एड्स फैलने का खतरा और बढ़ जाता है।

(संकलित)

■ ■

OOOOOOOO OOOOOOOOOOOOOOOO OO OOOOOOOOOOOO OOOOO

दु:ख दर्द की आइसक्रीम

○डॉ० दिनेश मणि

दु:ख दर्द की आइसक्रीम
मैं दिल में जमा रहा हूँ।

खारे आँसुओं से

नमक का विलयन बनाकर।
मिलन-वियोग की अनुभूतियों को

आपस में मिलाकर,
संवेदनाओं की उसमें—

लकड़ी लगा रहा हूँ।
दु:ख दर्द की आइसक्रीम
मैं दिल में जमा रहा हूँ।

अब सूरज साफ करेगा खारा पानी

खारा पानी सीधे पिया नहीं जा सकता। इसे पीने लायक बनाया जा सकता है एक छोटी सी तकनीक से

राजीव गुप्ता

प्रकृति ने कई स्थानों पर केवल खारा भू-जल ही उपलब्ध कराया है। वैज्ञानिक बताते हैं कि ऐसा भूमि की संरचना के कारण होता है-जहाँ ज्यादा लवण होता है वहाँ पानी खारा मिलता है। ऐसे इलाकों में न सिर्फ पेयजल की समस्या बनी रहती है बल्कि सिंचाई करना भी एक जोखिम भरा कार्य होता है।

अब एक ओर जहाँ कुछ इलाकों में खारा पानी प्रकृति की देन है वहाँ दूसरी ओर नई सिंचाई सुविधाओं से भी मानव स्वयं भू-जल को खारा कर रहा है। नहरों से की जा रही सिंचाई से भू-जल का स्तर बढ़ने लगता है। जिससे भूमि की ऊपरी सतह पर न केवल लवणों की मात्रा बढ़ने लगती है बल्कि पानी भी खारा हो जाता है।

आँकड़े दर्शाते हैं कि आज देश में नहर-सींचित जमीन के कारण लगभग 230 लाख हैक्टेयर भूमि क्षारीय हो गई है। एक ओर जहां ऐसे इलाकों में फसलें उगाना कठिन हो चला है वहाँ दूसरी ओर खारे पानी के कारण पेयजल की समस्या ज्वलंत हो गई है।

लेकिन बिना सरकारी सहायता के इस खारे पानी को पीने योग्य बनाया जा सकता है। इसके लिए कोई खास मेहनत भी नहीं करनी पड़ती है क्योंकि इसमें सौर-ऊर्जा का मुख्य योगदान रहता है।

विधि बहुत सरल है। एक गोलाकार बर्तन या बाल्टी जिसकी गर्दन का घेरा 40 से० मी० व्यास का हो और गहराई भी लगभग 40 से० मी० हो, ले लेते हैं। इसके अंदर एक गोलाकार बर्तन रख देते हैं जिसका गर्दन का व्यास 20 सेमी० और ऊंचाई भी 20 सेमी० होती है। यह छोटा बर्तन ऊपर से खुला रहता है।

बड़े बर्तन के अंदर पत्थर या धातु का छल्ला रखकर उस पर यह छोटा गोल बर्तन टिका देते हैं। अब एक प्लास्टिक की चादर लें और उससे बड़े बर्तन को इस प्रकार ढक दें कि चादर की झोल एक शंकु (या कीप) का आकार ले ले। यदि ऐसा न हो तो बीच में गोल आकार का छोटा सा पत्थर रखा जा सकता है।

खारे पानी को मीठा बनाने की तकनीक

अब खारे पानी को मीठा बनाने वाला यंत्र तैयार है। बड़े बर्तन में खारा पानी डालिये लेकिन ध्यान रहे कि छोटे बर्तन ऊँचाई से ज्यादा पानी न भरा जाये। ऊपर से प्लास्टिक की चादर, जैसा पीछे बताया गया है, से बड़े

ऊर्जा पर्यावरण समूह, एच-12, ओल्ड डबल स्टोरी, लाजपत नगर-4, नई दिल्ली-110 024

बर्तन का मुँह बांध दें, शंकुनुमा आकार अवश्य बनना चाहिए। एक और बात का ध्यान रहे कि प्लास्टिक का यह शंकु अंदर वाले छोटे बर्तन के ऊपर, बीचो-बीच लटका रहे लेकिन उसे छुए नहीं।

अब खारे पानी भरे इस वाष्पक को खिली धूप में रख दें। सात दिन यदि ठीक धूप मिलती रहे तो छोटे बर्तन में काफी मीठा पानी एकत्र हो जायेगा। जरूरत के अनुसार ऐसे ज्यादा वाष्पक भी तैयार किये जा सकते हैं।

इसका सिद्धांत बड़ा सीधा है। यह ठीक वही सिद्धांत है जिसके बल पर सूरज समुद्र का खारा पानी भाप बनाकर मीठे पानी की बरसात करता है। बड़े बर्तन के समुद्र का खारा पानी भी सूरज की गर्मी से पहले तो भाप बनता है फिर रात की ठंड से पानी की बूंद में बदल जाता है। ये मीठे पानी की बूंदे प्लास्टिक के शंकु की ढलुआं दीवार से फिसलकर बूंद-बूंद करके छोटे बर्तन में एकत्रित हो जाती हैं।

इस तकनीक की कारगरता निम्न बातों पर निर्भर करती है :

- इस तकनीक के लिए वर्तमान में जिस आकार का बर्तन प्रयोग में लाने का सुझाव दिया गया है, वह आदर्श आकार है। बर्तन का आकार न बदलें।
- बर्तन को जमीनी सतह से कम से कम 15 सेमी० ऊपर रखें। इसके लिए बर्तन के नीचे ईंट या पत्थर की स्लैब का इस्तेमाल किया जा सकता है।
- बाहरी व भीतरी बर्तन की बाह्य परत को यदि काले रंग से पोत दें तो वाष्पीकरण की प्रक्रिया बढ़ जाएगी।

18 या 20 मिमी० की गेल्वेनाइज्ड चादर या पतली टीन की चादर का इस्तेमाल करना श्रेयेष्कर होगा।

- सूरज न हो तो खारे पानी को गर्म किया जा सकता है। बाद में सीधी रोशनी न पड़ने के बावजूद सूरज की गर्मी से ही वाष्पीकरण की प्रक्रिया जारी रहेगी।
- ऊपरी सिरे पर बने कीप में ठंडा पानी भर दिया जाए तो वाष्पीकरण तेजी से होगा।

इस विधि की विस्तृत जानकारी के लिए निम्न पते पर लिखें या संपर्क करें—

डॉ॰ फेलिक्स रेयन

रेयन फाउन्डेशन 8, पश्चिम मादा स्ट्रीट श्रीनगर कॉलोनी, मद्रास-600 015

(ईईजी फीचर्स)

कहीं टूट न जाये

○डॉ॰ दिनेश मणि

कहीं टूट न जाये परखनली—
इतना न परख, ऐ जिन्दगी
कुछ अभिकर्मक मिले अपमिश्रित—
औ उपकरणों में छिपी गन्दगी।

कोई बताये मुझे कि ऐसे में—
कैसे आयें परिणाम सही ?

विश्व स्वास्थ्य दिवस : औपचारिक या व्यावहारिक ?

दर्शनानन्द

'विश्व स्वास्थ्य संगठन' की ओर से समय-समय पर स्वास्थ्य सम्बन्धी अनेक संस्तुतियाँ दी जाती रहती हैं। जनसाधारण का स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए शासन एवं प्रशासन की ओर से कुछ नियम व वायदे-कानून भी बने है। परन्तु क्या इनका वास्तव में पालन हो रहा है ? सम्भवतः नहीं।

और यदि पालन नहीं हो रहा है तो आखिर क्यों ? क्या कोई देखने या जाँच करने वाला नहीं है ? या यदि है तो क्या अपने कर्तव्यों के प्रति वह जागरूक है ? अथवा वह जानबूझ कर अनभिज्ञ बन कर इस झंझट में पड़ना ही नहीं चाहता हो ?

वैसे इनमें से कोई न कोई कारण तो है ही, जिससे स्थिति यथावत् बनी रहती है और प्रत्येक दशा में भोगना तो जनता को ही पड़ता है।

फल-सब्जी और मिठाइयों का बाजार

गर्मी के मौसम में ठेलों पर बिकते हुए तरावट प्रदान करने और प्यास बुझाने वाले कटे हुए लाल रंग के तरबूज कितने आकर्षक लगते हैं। परन्तु ये पहले से ही मक्खियों और गर्द-गुबार से इस प्रकार 'शोधित' रहते है कि इन्हें खाते ही 'हैजा' हो जाए। लगभग यही दशा कटे हुए अन्य फलों, कद्दू और दूसरी सब्जियों को प्रयोग करने पर होती है।

वर्षा ऋतु में या ग्रीष्म ऋतु में बिकते हुए खजूर और अमावट यद्यपि बड़े स्वादिष्ट और पौष्टिक होते हैं और विटामिन-ए तथा पर्याप्त ऊष्मा शक्ति भी प्रदान करते हैं। परन्तु इन पर भी ये मक्खियाँ बराबर खतरे की घंटी बजाती रहती हैं। इस दिशा में मिठाइयों और दही आदि का योगदान भी कम नहीं है।

फिर भी यदि इन सभी सामग्रियों को पारदर्शक पॉलीथीन की चादर से ढक कर रक्खा जाय तो स्थिति में पर्याप्त अंतर लाया जा सकता है। सामग्रियों का ढकना विक्रेताओं को कहाँ तक भाता है, इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

एक बार मैं बाजार में पहुँचा। एक विक्रेता ठेले पर अंगूर लिए 'चमन वाले अंगूर' के नारे लगा कर चिल्लाता जा रहा था। अंगूर खरीदने के लिए मैं चला तो दूर से ऐसा लगा कि अंगूरों को जैसे किसी चीज से ढक कर रखा गया हो। ठेले के पास पहुँचा तो मक्खियों की सेना चारों ओर मंडरा रही थीं। काफी प्रयास किया तब कहीं जा कर अंगूर दिखाई पड़े। मक्खियों के विषय में कहने पर विक्रेता ने उत्तर दिया "इन्हें ले जाइए। धुल कर खा

उपनिदेशक उद्यान, इलाहाबाद मण्डल (अवकाश प्राप्त), सी-67, गुरू तेग बहादुर नगर, इलाहाबाद-211016 (उत्तर प्रदेश)

लीजिएगा । मक्खियाँ कहाँ नहीं हैं । फलों पर नहीं हैं, कपड़ों पर नहीं है या मिठाइयों पर नहीं हैं । ये कहाँ जाएगी" ? मैं विक्रेता की सीख को ध्यान से सुनता हुआ आगे बढ़ गया ।

हलवाई की दूकान पर एक बार दही लेने चला । दूकान पर यद्यपि मक्खियाँ हांकी जा रही थीं, फिर भी दही को ढककर रखने के लिए कहने से मैं नहीं चूका । इस पर उत्तर मिला, "बाबूजी अगर इन्हें ढक देंगे तो मक्खियाँ भूखी तो रहेंगी नहीं, कहीं न कहीं तो रहेंगी ही ।"

होटलों की स्थिति

होटलों में खाने की जो मेजें होती हैं उनके लिए सम्भवतः ऐसा नियम है कि मेज का ऊपरी भाग शीशे या सनमाइका का होना चाहिए । परन्तु फटी हुई लकड़ी की मेजें दिखाई पड़ना कोई नई बात नहीं है । ऐसी मेजों पर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं का बसेरा होता है ।

पेयजल

जनता को जो पेय जलापूर्ति की जाती है, साफ-सुथरी और क्लोरिनेटेड होनी चाहिए । परन्तु कभी साफ तो कभी रोगाणु सहित बासी पानी मिलता है ।

वर्षा ऋतु में तो कभी-कभी पेयजल की पाइप सीवर लाइन से जुड़ जाती है, जिससे दुर्गंधित संक्रामक जल पीने को मिलता है । इधर-उधर लगे हुए नलों का क्या ठिकाना ? लेकिन प्यास लगने पर पानी तो पीना ही पड़ता है, चाहे उस पानी को पी कर 'डायरिया' ही क्यों न हो जाए । अस्सी प्रतिशत बीमारियाँ दूषित जल के माध्यम से होती हैं ।

मच्छरों का आतंक

मक्खियाँ तो आतंकवादी हैं ही, मच्छर भी पीछे नहीं हैं । ये मच्छर किसी दशा में पीछा नहीं छोड़ते, चाहे किसी को 'मलेरिया' हो जाए चाहे 'फाइलेरिया' । आखिर उन्हें भी तो जीना है । रात में सोते समय मच्छरदानी न लगाई जाय तब तो उन्हें पूरी छूट रहती ही है । परन्तु यदि मच्छरदानी लगा ली जाय और उसमें यदि केवल एक मच्छर ने भी पहुँचने की व्यवस्था कर ली, तब तो वह रात भर सेवा करता रहेगा । अब तो जगह-जगह मच्छरों की इतनी फौज इकट्ठी रहती है कि ऐसा लगता है कि जैसे कि अब मच्छर-उत्पादन-विभाग खुल गया हो ।

धूम्रपान और पार्श्व धूम्रपान

काफी दिनों से यह चर्चा है कि धूम्रपान और तम्बाकू के प्रयोग से 'कैन्सर', 'हृदयरोग' और 'ब्रांकाइटिस' जैसे घातक रोगों को जन्म मिलता है, जो मुख्यतः निकोटिन और टार के कारण होता है । हर साल इनसे अनेक लोगों को जान से भी हाथ धोना पड़ता है, फिर भी इनके प्रयोग में कमी नहीं आ रही है । सिनेमा हॉल, बसें, रेल-गाड़ियाँ या अन्य सार्वजनिक स्थान, जहाँ धूम्रपान प्रतिबंधित है, वहाँ भी खुले आम धुंए उड़ाए जाते हैं । धूम्रपान करने वालों के कारण उनके आस पास के लोग तथा परिवार जनों को पार्श्व धूम्रमान करने के लिए बाध्य होना पढ़ता है । एक सूचना के अनुसार पार्श्व धूम्रपान साधारण धूम्रपान से कहीं अधिक घातक होता है ।

सैनफ्रांसिस्को में स्थित केलिफोर्निया विश्वविद्यालय में मेडिसिन के प्रोफेसर एo ग्लैन्ट्स ने हृदय रोग के विषय में अपना मत व्यक्त किया है कि पार्श्व धूम्रपानियों में साधारण धूम्रपानियों की अपेक्षा हृदय रोग की सम्भावनाएँ अधिक होती हैं।

पुनः वहीं के एक प्रशासन संगठन ऑक्युपेशनल सेफ्टी एण्ड हेल्थ एडमिनिस्ट्रेशन (OSHA) की एक ताजी सूचना के अनुसार हर साल पार्श्व धूम्रपान के कारण—

(i) उत्पन्न हृदय रोग से लगभग 47,000 व्यक्ति मरते हैं।

(ii) गैर-जानलेवा हृदयाघात (हार्ट अटैक) से 1,50,000 व्यक्ति प्रभावित होते हैं। और

(iii) फेफड़े के कैन्सर से 3000 व्यक्ति मर जाते हैं।

नशाबंदी

रेडियो, समाचारपत्रों और टी० वी० (टेलीविजन) के माध्यमों से रोजाना दिखाया जाता है कि मदिरापान की आदत बुरी है। यह जानलेवा हो सकती है। इसके प्रयोग से कलेजा छलनी हो जाता है तथा हृदय रोग और पीलिया जैसे रोगों को बढ़ावा मिलता है, जिसके बाद में घातक परिणाम मिलते हैं।

इसके बावजूद भी स्थान-स्थान पर मधुशालाएँ (मदिरालय) खुलती जा रही हैं। मदिराएँ विषयुक्त भी बन रही हैं। इनके पीने से अनेक बार मौतें हो चुकी हैं। फिर भी न तो मदिरालय बंद किये जा रहे हैं और न ही पीने वालों की संख्या में कमी आ रही है।

दवाओं में मिलावट

7 अप्रैल 1995 को विश्व स्वास्थ्य दिवस मनाया जा रहा है। विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा इसका मुख्य मुद्दा यह है कि वर्ष 2000 तक सारा विश्व 'पोलियो'-मुक्त हो जाएँ। इस संगठन के अनुसार अब तक 150 देश पोलियो-मुक्त हो चुके हैं। परन्तु अपने देश में क्या हो रहा है? नवीनतम समाचार के अनुसार पश्चिमी बंगाल के नाडिया जनपद में प्राइमरी स्वास्थ्य केन्द्र देबाग्राम पर 4 अप्रैल 1995 को पोलियो और मीजल्स के टीके लगाए जाने से 11 बच्चे अपने जीवन से हाथ धो बैठे और 34 बच्चे मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन पोलियो रोग को नष्ट करने के भारतीय प्रयासों से संतुष्ट नहीं हैं।

अतएव आवश्यकता है कि आम लोग—सब्जी वाले, फलवाले, मिठाई वाले और घरों के आस-पास कूड़े का ढेर लगाने वालों में इस बात की चेतना फैले कि अच्छे स्वास्थ्य के लिए व्यक्तिगत साफ-सफाई अत्यन्त आवश्यक है। कोई भी राष्ट्र तभी प्रगति करता है जब उसके नागरिकों का स्वास्थ्य अच्छा हो, क्योंकि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है।

■ ■

हृदय की स्वस्थ धड़कन ही है जीवन

सतेन्द्र कुमार

हमारे शरीर में आवश्यक पदार्थों, जैसे-भोजन, हारमोन, ऑक्सीजन, कार्बन डाइऑक्साइड इत्यादि का परिवहन रक्त के माध्यम से होता है। रक्त के परिसंचरण हेतु प्रमुख केन्द्रीय अंग-"हृदय" होता है, जिसे आम भाषा में "दिल" कहते हैं। यह हृदय "मछलियों" में दो कोष्ठीय, "उभयचरों" व "सरीसृपों" में तीन कोष्ठीय (अपवाद स्वरूप सरीसृप जन्तु-"मगरमच्छ" में चार कोष्ठीय), "पक्षियों" व "स्तनियों" में चार कोष्ठीय होता है। शायरों कवियों, की आम धारणा के विपरीत हृदय कोमल न होकर एक मजबूत अंग होता है, जो "यांत्रिक पम्प" की भाँति कार्य करता है।

हमारे चार कोष्ठीय हृदय के ऊपर के भाग में बाँए व दाँए दो "आलिंद" (आरिकिल) तथा निचले भाग में बाँए व दाँए आलिंदों से जुड़े क्रमशः बाँए व दाँए दो निलय (वेंट्रिकिल) स्थित होते हैं। इसमें रक्त-परिसंचरण इस प्रकार होता है-शरीर के विभिन्न कोशिकाओं (शरीर की रचनात्मक इकाइयों) से आया हुआ अशुद्ध रक्त (कोशिकाओं में श्वसन-क्रिया के पश्चात् रक्त ऑक्सीजनविहीन हो जाता है) का परिसंचरण दाएँ आलिंद से दाएँ निलय में तथा यहाँ फेफड़ों में पम्प हो जाता है। फेफड़ों में रक्त श्वांस क्रिया के माध्यम से ऑक्सीजीनिय यानी शुद्ध हो जाता है तत्पश्चात् शुद्ध रक्त फेफड़ों से हृदय के बाएँ आलिंद से होकर बाएँ निलय में पहुँचता है जहाँ से पम्प होकर पुनः सारे शरीर के परिभ्रमण पर निकल पड़ता है। इस प्रकार प्रत्येक मिनट में हमारा सम्पूर्ण रक्त हृदय से होकर गुजर जाता है। हृदय में उपस्थित पाँच प्रकार के कपाट (वाल्व) रक्त-परिसंचरण को उपरोक्त क्रम के एक ही दिशा में होने देते हैं।

हृदय के दाएँ आलिंद में एक"शिरा-आलिंद गाँठ (एस० ए० नोड) यानी "पेसमेकर" स्थित होता है, जहाँ से हृदय की प्रत्येक धड़कन प्रारम्भ होती है। चूँकि हृदय के चारों कोष्ठक एक साथ नहीं धड़कते, धड़कन से आलिंदों व निलयों की दो प्रावस्थाएँ (स्थितियाँ) बारी-बारी से आती हैं, प्रथम-प्राकंचन (सिस्टोल), द्वितीय-अनुशिथिलन (डायस्टोल)। इस प्रकार निलयों के ही "प्राकंचन" व "अनुशिथिलन" को सम्मिलित रूप से "हृदय की धड़कन" कहते हैं। सामान्य मनुष्य का हृदय 72 से 80 बार प्रति मिनट धड़कता है अर्थात् एक धड़कन में औसत रूप से 0.8 सेकेण्ड लगता है। यदि प्रत्येक धड़कन में लगे समय को वितरित किया जाय तो आलिंदों के प्राकुंचन में लगभग 0.15 सेकण्ड तथा निलयों के प्राकुंचन में लगभग 0.35 सेकेण्ड लगता है। प्रत्येक धड़कन के दौरान लगभग 0.3 सेकेण्ड तक हृदय के चारों कोष्ठक "अनुशिथिलन" की दशा में होते हैं जिसे हृदय की "आराम की मुद्रा" कहते हैं।

शरीर में रक्त-परिसंचरण हेतु तीन प्रकार की प्रमुख "वाहिकाएँ" (वेसेल्स) होती हैं, (क) धमनी (आर्टरी)-हृदय से रक्त दूरस्थ अंगों तक ले जाती है। (ख) शिरा (वेन)-दूरस्थ अंगों से रक्त वापस हृदय में लाती है। (ग) कोशिका (कैपिलरी)-महीनतम रक्त-वाहिका रक्त को कोशिकाओं के सीधे सम्पर्क में लाती हैं। हृदय द्वारा

ग्राम व पोस्ट खुटौली, वाया फूलपुर, जिला आजमगढ़ उत्तर प्रदेश

आरोपित बल के कारण, इन वाहिकाओं में बहता हुआ रक्त इनकी दीवारों पर दबाव डालता है, जिसे "रक्त चाप" (ब्लड प्रेशर) कहते हैं। मनुष्य में सामान्य रक्त चाप 120-80 मिलिमीटर, 120 मि० मी० प्राकुंचन रक्त-चाप व 80 मि० मी० अनुशिथिलन रक्त-चाप (पारे के दाब के बराबर) होता है। इसे "स्फैग्नोमीटर" की सहायता से मापा जाता है। रक्त-चाप का सामान्य सीमा से उच्च व भिन्न होना क्रमशः "उच्च" व निम्न" रक्त-चाप कहलाता है। यह स्वास्थ्य के लिए घातक होता है।

यद्यपि रक्त-वाहिकाओं के सँकरी हो जाने से उच्च रक्त-चाप की दशा उत्पन्न होती है। इसके निम्न-लिखित कारण हो सकते हैं—

—रक्त वाहिकाओं में "कोलेस्ट्रोल" के "चकत्तों का जमाव।

—बाह्य कोशिकीय द्रव्य (ई० सी० एफ०) में नमक का अतिसान्द्रण।

—रक्त में ग्लूकोस की मात्रा में अतिवृद्धि (प्रायः मधुमेह रोगियों में)।

—बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू एवं शराब का सेवन।

—हमारे शरीर में "स्थिति" "अधिवृक्क ग्रन्थियों" से आपातकालीन हारमोन-"ऐड्रिनेलिन" का अतिस्त्रावण।

—वायु एवं ध्वनि प्रदूषित वातावरण में अधिक समय तक रहना।

—अत्यधिक चिन्ता, क्रोध इत्यादि।

उच्च रक्त-चाप के प्रभाव व वाहिकाओं में रक्त-संचार में अवरोध पैदा हो जाता है, जिससे वाहिकाओं के टूटने का यानी रक्तस्राव (हीमोरेज) का खतरा बन जाता है। यदि यह रक्त स्राव किसी प्रमुख अंग को रक्त पहुँचाने वाली धमनी के कारण होता है तो ऐसी दशा में शरीर का अंत भी हो सकता है।

हृदयाघात (हार्ट-अटैक)

इसे "दिल का दौरा" भी कहते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि हमारे शरीर में हृदय की पेशियाँ, बिना थके, आजीवन कार्य करती रहती हैं परन्तु कुछ विशेष दशाओं में इन पेशियों में संकुचन की क्षमता समाप्त हो जाती है। इससे हृदय गति रुक जाती है। इसे हृदयाघात कहते हैं। हृदयाघात के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

—हृदय की धड़कन का "ट्रिगर" यानी पेसमेकर का खराब हो जाना।

—हृदय की पेशियों को रक्त की आपूर्ति करने वाली एक जोड़ी "हृदवाहिनी" (कोरोनरी) धमनियों का अवरुद्ध हो जाना।

—कभी-कभी अति उच्च व अतिनिम्न रक्त चाप की दशा।

प्रायः समाज में कारोनरी धमनियों के अवरुद्ध हो जाने से हृदयाघात होता है तथा इनके अवरुद्ध होने का प्रमुख कारण होता है चर्बीयुक्त भोजनों से व्युत्पन्न "कोलेस्ट्रॉल" का इन धमनियों में जमाव। ऐसी दशा में हृदय की

पेशियों को पर्याप्त रक्त व ऊर्जा नहीं मिल पाती है तथा हृदय गति रुक जाती है। इस प्रकार के हृदयाघात को "कोरोनरी थ्राम्बोसिस" अथवा "एंजाइना आघात" भी कहते हैं।

निवारण

पिछले तीन दशकों से वैज्ञानिकों के अथक प्रयास से हृदय सम्बन्धी रोगों के निवारण में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त हुई है। आज पेसमेकर के खराब हो जाने पर, कृत्रिम पेसमेकर लगाकर हृदयगति पुनः प्रारम्भ करा दी जाती है। हृदय के किसी वाल्व में खराबी की स्थिति में इसे कृत्रिम वाल्व द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया जाता है। कोरोनरी थ्राम्बोसिस की दशा में यानी कोरोनरी धमनियों के पूर्णतया अवरुद्ध हो जाने पर, हृदय की पेशियों को रक्त की आपूर्ति बनाये रखने हेतु, शरीर की किसी दूसरी धमनी को काटकर हृदयपेशियों में आरोपित कर देते हैं। इसे "उपमार्ग शल्यचिकित्सा" (बाईपास सर्जरी) कहते हैं।

आज कोरोनरी थ्राम्बोसिस के उपचार की अनेक ऐसी तकनीकें ज्ञात हैं जिसमें शल्यक्रिया की आवश्यकता नहीं पड़ती है। संभव होने पर कोरोनरी धमनियों में कोलेस्ट्रॉल के जमाव से उत्पन्न अवरोधों को "ऑप्टिकल फाइबर्स" (काँच के महीनतम रेशे) अथवा उच्च ऊर्जायुक्त-"लेसर किरणों" के माध्यम से दूर कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त ',एंजियो-बैलूनोप्लास्टी" तकनीकी के माध्यम से सँकरी हो गयी कोरोनरी धमनियों को फैलाकर पुनः सामान्य दशा में कर दिया जाता है। इसमें सूक्ष्मतम गुब्बारों को उक्त धमनियों में आरोपित कर पुनः फुला देते हैं। परन्तु इसका नकरात्मक पहलू यह है कि इस चिकित्सा के पश्चात् 30 से 50 प्रतिशत तक धमनियों मे "री-स्टेनोसिस" (पुनः थक्कों के जमाव) का खतरा बना रहता है। अभी हाल ही में जे० जे॰ अस्पताल, बम्बई के डॉ अनिल कुमार ने कोरोनरी अवरोधों को समाप्त करने के लिए "परक्युटैनियास ट्रान्सल्युमिनल कोरोनरी एंजियोप्लास्टी" (पी० टी० सी० ए०) नामक नई तकनीक विकसित की है। इसके अन्तर्गत सूक्ष्मतम गुब्बारों पर "टैंटेलियम" धातु की महीनतम स्प्रिंगनुमा-"स्टेंट" मढ़कर, इसे कोरोनरी धमनियों में आरोपित करते हैं। इस चिकित्सा में कोरोनरी धमनियों में "री-स्टीनोसिस" का खतरा एंजियोबैलूनोप्लास्टी की तुलना में 20 प्रतिशत तक कम हो जाता है।

सावधानियाँ

आज दुनिया में लगभग 40 प्रतिशत लोग हृदय सम्बन्धी रोगों से ग्रसित हैं। इसके विपरीत समाज के सभी वर्गों के लोगों के लिए हृदय चिकित्सा की उच्च तकनीकें उपलब्ध नहीं हैं। अतः हम अपने दैनिक जीवन में सुधार कर हृदय रोगों से दूर रह सकते हैं। इसके लिए हमें प्रतिदिन सुबह कम से कम आधा घंटा तक स्वच्छ वातावरण में टहलना चाहिए ताकि रक्त-वाहिकाओं में भली भाँति रक्त-संचार हो सके और सभी अंगों को पर्याप्त ऊर्जा मिल सके। कोलेस्ट्रॉल व्युत्पन्न करने वाले चर्बीयुक्त भोजनों (तेल, घी इत्यादि) का उपयोग कम से कम करना चाहिए। इसमें माँसाहार के बजाय शाकाहार फायदेमन्द होता है। उच्च रक्त-चाप के लिए जिम्मेदार धूम्रपान, मद्यपान इत्यादि से बचना चाहिए। इस प्रकार हम अपने हृदय में विकारों को कम कर सकते हैं।

असली बनाम नकली दिल

एक ओर समूची दुनिया में हृदय-आघात की घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं तो दूसरी तरफ आधुनिक चिकित्सा के कारण लोगों की औसत उम्र भी बढ़ती जा रही है। असहाय समझी जाने वाली बीमारियों से भी लोग अब बच जाते

हैं, लेकिन दिल के दौरे का खतरा बना ही रहता है। कोई भी व्यक्ति तभी तक जीवित रहता है जब तक उसके दिल की धड़कन बनी रहती हैं। वस्तुस्थिति यह है कि व्यक्ति की अचानक मृत्यु हो जाने के लगभग 7 से 8 घंटे बाद तक भी दिल जीवित रहता है तथा इसी दौरान मृत शरीर से सुरक्षित दिल निकालकर किसी जरूरतमन्द दूसरे शरीर में प्रत्यारोपित किया जाता है। चूँकि शरीर से बाहर अंगों के आगे संरक्षण (प्रीजर्वेशन) की सीमाएँ होती हैं अतः दिल निकाले जाने के बाद 12 से 14 घंटे के भीतर ही प्रत्यारोपित किया जा सकता है, इसके बाद यह बेकार हो जाता है। लगभग 98 प्रतिशत लोगों में प्रत्यारोपित असली दिल पूर्व दिल की भाँति कार्य कर नया जीवन प्रदान करता है। दुनिया में असली दिल का प्रथम प्रत्यारोपण सन् 1967 में दक्षिण अफ्रीका के चिकित्सक क्रिश्चियन बर्नार्ड ने किया था। भारत भी दिल के प्रत्यारोपण (ट्रान्सप्लांटेशन) प्रौद्योगिकी के इतिहास में अक्तूबर, 1994 के उस दिन एक नया अध्याय जुड़ गया जब दिल्ली अस्पताल के डॉ० पी० वेणुगोपाल ने 35 वर्षीय एक स्त्री का दिल 42 वर्षीय पुरुष के शरीर में सफल रूप से प्रत्मोरोपित कर उसे नया जीवन प्रदान कर दिया।

दुनिया में कृत्रिम (नकली) दिल बनाने की कोशिशें पिछले तीन दशकों से चलती रही हैं। आदमी में पहला कृत्रिम दिल, अमेरिका में "टेक्सास हार्ट संस्थान" के डॉ० कूली ने अप्रैल, 1969 में प्रत्यारोपित किया था, लेकिन यह केवल उस समय तक के लिए था, जब तक उस 47 वर्षीय पुरुष मरीज को दाता से दूसरा दिल नहीं मिला कृत्रिम दिल के सफर में सबसे सफल अंजाम है, अमेरिका के डॉ० राबर्ट जारविक द्वारा तैयार किया गया "जारविक-7" दिल। यह दिल एक विशेष प्रकार के प्लास्टिक एवं एलुमिनियम से मिलकर बना है। इसका भार 300 ग्राम है तथा इसकी संरचना प्राकृतिक (असली) दिल से मिलती-जुलती है। लेकिन इसकी सबसे बड़ी कमजोरी है कि यह अपने आप नहीं धड़क सकता, इसलिए इसे बाहरी ऊर्जा स्रोत से जोड़ना पड़ता है। इसे धड़कने के लिए "संपीडित हवा" (कम्प्रेस्ड एअर) का उपयोग किया जाता है। "जारविक-7" को सर्वप्रथम दिसम्बर सन् 1982 को एक अमेरिकी व्यक्ति में प्रत्यारोपित किया गया था, परन्तु गुर्दों (किडनी) के काम न करने से लगभग चार माह बाद उस व्यक्ति की मृत्यु हो गयी। आज भी दुनिया भर में दिल के विकल्प ढूढ़ने के प्रयास जारी हैं।

■ ■

विजय को पुरस्कृत

'विज्ञान परिषद् प्रयाग' के आजीवन सभ्य और विज्ञान लेखक विजय जी को उनकी नवीनतम कृति "हथियारों की कहानी" पर 'शकुन्तला सिरोठिया बाल साहित्य (अनुशंसा) पुरस्कार' प्रदान किया गया है। यह पुरस्कार उन्हें 1994 में प्रकाशित पुस्तकों की प्रविष्टियों पर दिया गया है। इसके पूर्व विजय जी को 'डॉ० गोरख-प्रसाद पुरस्कार', उ० प्र० हिन्दी संस्थान का 'सूर पुरस्कार' तथा पत्रकारिता के लिये 'अभिव्यक्ति पुरस्कार' मिल चुके हैं।

श्री विजय जी को विज्ञान परिषद् परिवार की बधाई।

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठकगण

"विज्ञान" का अप्रैल-मई 1995 संयुक्तांक आपके हाथों में है। हमें आशा है कि आगामी अंक से "विज्ञान" पत्रिका का प्रकाशन पुनः नियमित हो जायेगा। 7 अप्रैल को 'विश्व स्वास्थ्य दिवस' के अवसर पर "इक्कीसवीं शती के घातक रोगों की चुनौतियां" विषय पर श्री दर्शनानन्द जी की अध्यक्षता में एक विचार-गोष्ठी सम्पन्न हुई। इस अंक मेंस्वास्थ्य संबन्धी कुछेक लेख प्रकाशित किए जा रहे हैं।

22 अप्रैल को 'विश्व पृथ्वी दिवस' के अवसर पर 'तपती धरती बदलता परिदृश्य' विषय पर डॉ० शिवगोपाल मिश्र जी की अध्यक्षता में एक विचार-गोष्ठी सम्पन्न हुई। प्रसन्नता की बात है कि हमें आप सहृदय जनों एवं विद्वत् समूह के सहयोग के साथ ही साथ स्थानीय अंग्रेजी और हिन्दी के समाचारपत्रों का भरपूर सहयोग मिल रहा है। स्थानीय पत्र विचार-गोष्ठियों में व्यक्त विचारों को निरंतर अपने प्रतिष्ठित दैनिक समाचार पत्रों में स्थान दे रहे हैं। इस प्रकार विज्ञान के प्रचार-प्रसार के हमारे प्रयासों को गति मिल रही है। परिषद् की आर्थिक और अन्य कठिनाइयों के बावजूद परिषद् से जुड़े व्यक्ति अपने श्रम और अपनी निष्ठा से कार्य को आगे बढ़ा रहे हैं। पिछले 4-5 वर्षों से पुराने विज्ञान सेवियों के अतिरिक्त कुछेक नये लोग परिषद की गरिमा बढ़ाने के पुनीत कार्य में जुटे हैं। आजकल जब इलाहाबाद की सड़कें तपती दोपहरी में सुनसान दिखती हैं, परिषद् में लोग यथावत आते हैं। इससे हमें भी प्रेरणा मिलती है। और सच्चाई यह है कि इसी के प्रेरणा लेकर 31 मई 1995 को 'विश्व तम्बाकू निषेध दिवस और 5 जून को 'विश्व पर्यावरण दिवस' के अवसरों पर हमने संगोष्ठियां आयोजित करने का दृढ़ निश्चय किया है। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि हर वर्ष की भांति इस वर्ष भी 'विश्व पर्यावरण दिवस' के अवसर पर हम एक बड़ी संगोष्ठी आयोजित कर सकेंगे।

इस अंक के माध्यम से मैं पुनः सभी पाठकों और लेखकों से निवेदन करता हूँ कि जो लोग स्वर्गीय स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती जी के सम्पर्क में रहे हों वे पूज्य स्वामी जी के व्यक्तित्व से संबंधित प्रेरक प्रसंग अथवा स्वयं उन्होंने पूज्य स्वामी जी को जैसा देखा जैसा पाया, उनकी जिस बात से या जिस गुण से प्रभावित हुए, लेखनीबद्ध करके हमें अवश्य भेजें। इस संदर्भ में एक निवेदन और करना चाहूँगा। कृपया स्वामी जी के कृतित्व के संबन्ध में प्रकाशित साहित्य का संकलन न भेजें। आपकी अपनी दृष्टि में पूज्य स्वामी जीजैसे लगे हों, हमें लिखकर शीघ्र भेजने की अनुकम्पा करें।

प्रबुद्ध लेखकों से निम्नलिखित 2 विषयों पर लेख भेजने का मेरा विशेष आग्रह है—

1. इक्कीसवीं शती में ऊर्जा के सम्भावित नये स्रोत।
2. इक्कीसवीं शती में जनसंख्या नियंत्रण के अभिनव उपाय।

लेख इतना बड़ा हो जो "विज्ञान" पत्रिका में छप कर 2-3 पृष्ठों में आ सके।
आपके लेख हमें शीघ्र प्राप्त हो जायेंगे, इसी आशा, इसी विश्वास के साथ।

आपका

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान परिषद् की वार्षिक बैठक की रिपोर्ट

दिनांक 21 अप्रैल 1994 को अपरान्ह 2 बजे विज्ञान परिषद् की वार्षिक बैठक डॉ० एस० पी० सिंह, भौतिकी विभाग, की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई, जिसमें अपेक्षित संख्या में सदस्यों की उपस्थिति रही। बैठक में विभिन्न विषयों पर विचार किया गया एवं निम्नलिखित निर्णय लिए गए—

1. नई कार्यकारिणी, जिसका विस्तृत ब्यौरा निम्न है, का गठन किया गया—

अध्यक्ष-डॉ० नन्द किशोर वर्मा

उपाध्यक्ष-डॉ० ओ० पी० अग्रवाल

सचिव-डॉ० ब्रज भूषण

सहायक सचिव-डॉ० एस० पी० खटकर

कोषाध्यक्ष-डॉ० खेम चन्द्र कालरा

2. नई परामर्श समिति का गठन किया गया जिसमें सात सदस्य मनोनीत किए गए हैं। विस्तृत ब्यौरा निम्नानुसार है—

1. डॉ० अर्चना गर्ग
2. डॉ० राणा प्रताप सिंह
3. डॉ० एस० पी० सिंह
4. डॉ० आर डी० सिंह
5. डॉ० के० के० वर्मा
6. डॉ० केशव दत्त अध्धी
7. डॉ० एस० एस० मुदगिल (गोहाना)

3. 'डॉ० सालिगराम स्मृति व्याख्यानमाला' के अन्तर्गत **डॉ० एन० के० वर्मा** का व्याख्यान रोहतक में ही करवाया जाए। इस हेतु मुख्यालय से आज्ञा ली जाय।

4. यह निर्णय लिया गया है कि "भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर के सहयोग से, "ग्रामीण महिलाओं में पर्यावरण संचेतना की आवश्यकता" विषय पर एक वर्क-शॉप का आयोजन रोहतक में किया जाए। नव निर्वाचित उपाध्यक्ष डॉ० **ओम प्रभात अग्रवाल** को इसके क्रियान्वयन हेतु पत्र-व्यवहार करने का अधिकार दिया जाए।

5. विद्वत्जनों में विज्ञान परिषद् के कार्यों एवं लक्ष्यों के प्रति चेतना जागृत की जाए एवं अधिक से अधिक संख्या में आजीवन सदस्य बनाए जाएँ।

—अर्चना गर्ग
सचिव, विज्ञान परिषद्, रोहतक शाखा

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1995

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए ।
(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा ।
(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है ।
(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है ।
(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1995 से दिसम्बर 1995 माह के बीच प्रकाशित हो ।
(6) लेखक को लेख के साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है ।
(7) विज्ञान परिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते ।
(8) वर्ष 1995 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1996 है ।
(9) पुरस्कार के लिए पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागियों को इस प्रतियोगिता के लिए उपयुक्त नहीं समझा जायेगा ।

लेख निम्न पते पर भेजें—

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पत्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं।

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु० चौथाई पृष्ठ 50.00 आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०

प्रति अंक : 3 रु० 50 पैसे यह अंक : 6 रु

प्रेषक : विज्ञान परिषद्

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

जून 1995 अंक
मूल्य : 3 रु० 50 पैसे

कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च
नई दिल्ली के
आर्थिक अनुदान द्वारा प्रकाशित

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
जून 1995; वर्ष 81 अंक 3

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०, वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 3 रु० 50 पैसे

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक	सम्पादक	मुद्रक	सम्पर्क
डॉ० डी० डी० नौटियाल	प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव	अरुण राय	विज्ञान परिषद्
प्रधानमंत्री	सहायक संपादक	प्रसाद मुद्रणालय	महर्षि दयानन्द मार्ग
विज्ञान परिषद् प्रयाग	डॉ० दिनेश मणि	7 ए-बेली एवेन्यू, इलाहाबाद	इलाहाबाद-211002

धरती बचाओ

दर्शनानन्द

पेड़-पौधे, बाग-बगीचे कटते जा रहे हैं। वन भी कटते जा रहे हैं। वायु द्वारा भूक्षरण हो रहा है। जल द्वारा भी भूक्षरण हो रहा है। भूमि की उर्वरा शक्ति नष्ट होती जा रही है। धरती बंजर होती जा रही है। रेगिस्तान बढ़ते जा रहे हैं। औद्योगीकरण में तेजी आ रही है। आए दिन नए-नए कारखाने खुलते जा रहे हैं। ये वायुमण्डल में कोयले के धुएं और विषैली गैसें छोड़ते जा रहे हैं। खाद्यान्नों की उत्पादकता में वृद्धि लाने के लिए फसलों में कीटनाशकों का प्रयोग हो रहा है। कवकनाशकों का प्रयोग भी हो रहा है। रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग भी दिन प्रतिदिन बढ़ते ही चले जा रहे हैं।

जनसंख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। जनसंख्या की बढ़ोत्तरी में ये भी चार चांद लगा रहे हैं ये सब तथा पृथ्वी के पशु-पक्षी तथा अन्य जीव-जन्तु मिलकर वातावरण में कार्बन डाइऑक्साइड्स गैस भरते जा रहे हैं।

वाशिंगटन के "जान्स हॉपकिन्स स्कूल ऑव पब्लिक हेल्थ" की एक रिपोर्ट के अनुसार यदि 2000 ईसवी तक हर परिवार में अधिक से अधिक दो बच्चे सीमित नहीं किए गए तो विश्व के समक्ष विनाश की समस्या पैदा हो जाएगी।

उक्त रिपोर्ट में आगे यह भी इंगित है कि आबादी और खपत में तेजी से वृद्धि के फलस्वरूप प्रकृति के संसाधन तेजी से विनष्ट हो रहे हैं।

बीड़ी-सिग्रेट पीने और तम्बाकू चबाने वालों की संख्या में तेजी के साथ वृद्धि हो रही है। ये वायुमण्डल में जहरीली गैसें छोड़ कर वातावरण को प्रदूषित करते रहते हैं। ये अपने अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को भी कैन्सर जैसे घातक रोगों के शिकार बनाते जा रहे हैं। जगह-जगह लकड़ी और कोयले जलाए जा रहे हैं। वाहनें दौड़ रही हैं। इनके धुंए और घातक कार्बन मॉनोऑक्साइड गैस वायुमण्डल में फैल रहे हैं। जगह-जगह कूड़े-कचरे और मल-मूत्र के ढेर लगे रहते हैं। नाले-नालियों व अन्य स्थानों पर रुका गंदा पानी सड़ता रहता है। ये सब वातावरण में दुर्गन्ध फैलाते और जहरीली गैसें छोड़ते हैं। साथ ही खतरनाक कीड़े-मकोड़े और मच्छर-मक्खियों को भी ये जन्म देते हैं।

मल-मूत्र, कूड़ा-कचरा, मानव एवं पशुओं के मृत शरीरों, सीवर के पानी तथा कल-कारखानों द्वारा त्यागे गए अपशिष्टों से गंगा-जमुना जैसी बड़ी-बड़ी और पवित्र नदियों का जल प्रदूषित होता जा रहा है। ये नदियाँ गंदे नालों में बदलती जा रही हैं। इनकी सड़न से उत्पन्न दुर्गंधित गैसें वातावरण को प्रदूषित करती रहती हैं।

अवकाशप्राप्त उपनिदेशक, उद्यान, सी-67, गुरु तेग बहादुर नगर, करेली हाउसिंग स्कीम, इलाहाबाद-211016

हवा और वाहनों द्वारा उड़ाई गई सडकों और रास्तों की गर्द से वायुमण्डल भरता जा रहा है। ये गर्द व कोयले के धुंए भी धरती पर खड़े पेड़-पौधों की पत्तियों पर जम जाते हैं। इस कारण पत्तियों द्वारा प्रकाशसंश्लेषण की क्रिया में व्यवधान उत्पन्न हो जाता है।

परिणाम इसका यह होता है कि वायुमण्डल की कार्बन डाइऑक्साइड व अन्य जहरीली गैसें, जिन्हें पेड़ों की पत्तियाँ सोख लेती हैं और प्राणवायु ऑक्सीजन निर्माण कर के वायुमण्डल में छोड़ती हैं, वह नहीं हो पा रहा है। इस प्रकार वायुमण्डल में जहरीली गैसें बढती जा रही है और प्राणवायु ऑक्सीजन की कमी होती जा रही है। अब तो सांस लेना भी मुश्किल होता जा रहा हैं। इसके अलावा पेड़-पौधों के स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है।

स्पष्ट है कि इस प्रकार प्रकृति तथा धरती की प्राकृतिक सम्पदाओं के साथ घोर अन्याय हो रहा है। पर्यावरण प्रदूषित होता जा रहा है। वायुमण्डल खतरनाक गैसों से भरा जा रहा है। इन गैसों में बहुत से रसायन ऐसे हैं जो उद्योगों से उत्पन्न होते हैं तथा वे पृथ्वी की रक्षा करने वाली "ओजोन" गैस की पर्त के निर्माण में व्यवधान उत्पन्न करते हैं। इसके अलावा ये रसायन ओजोन की चादर को झीनी या पतली कर देते हैं। इस प्रकार ये गैसें ओजोन की चादर को क्षति पहुँचाती हैं।

ओजोन की पर्त पृथ्वी को एक रक्षक के रूप में ढँके रहती है। ओजोन की यह पर्त 24 किलोमीटर मोटी और पृथ्वी से 60 किलोमीटर की ऊँचाई पर रहती है। इसका निर्माण ऑक्सीजन के तीन परमाणुओं से होता है। परन्तु वायुमण्डल में जब ऑक्सीजन पर्याप्त होगा ही नहीं तो ओजोन की रचना होगी कैसे ?

ओजोन की चादर सूर्य की खतरनाक पराबैंगनी विकिरणों को पृथ्वी पर सीधे पहुँचने से रोकती है। सूर्य की ये किरणें ओजोन की चादर से छन-छन कर धरती तक पहुँचती हैं। धरती पर स्थित मानव, वनस्पति एवं जीव-जन्तु यही छनी हुई सूर्य की किरणें प्राप्त कर के हृष्ट-पुष्ट, हरे-भरे तथा सुरक्षित रहते हैं। यदि सूर्य की पराबैंगनी किरणें धरती पर सीधे पडने लगें तो मानव, जीव-जन्तु, फसलों, तथा अन्य सभी वनस्पतियों का अस्तित्व समाप्त हो जाए।

परन्तु पृथ्वी पर उत्पन्न इन गैसों के प्रभाव से ओजोन की चादर झीनी होती जा रही है। इससे धरती के जीवधारियों को खतरा बढ़ गया है। इन्हीं कारणों से अब धूप का प्रभाव हानिकर होता जा रहा है धरती गर्माती और सूखती जा रही है। वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहे हैं। नदियाँ सूखती और खिसकती जा रही हैं। भूमि का जल-स्तर नीचे गिरता जा रहा है। पानी की कमी होती जा रही है। फसलों में सिंचाई की आवश्यकता पहले की अपेक्षा अधिक पड़ने लगी है। हरियाली समाप्त होती जा रही है।

मानव जीवन पर भी पराबैंगनी किरणों का दुष्प्रभाव दृष्टिगोचर हो रहा है। ये किरणें मनुष्य के शरीर में चर्म-कैंसर, त्वचा काला पड़ने तथा आँख की ज्योति कम होने जैसे रोगों को जन्म दे रही हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका और स्वीडेन के आठ वैज्ञानिकों की टीम का नेतृत्व करने वाले येल विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक डगलस ब्रश ने "नेशनल एकेडेमी ऑव साइन्सेज" की प्रोसीडिंग द्वारा नवम्बर 1991 में अवगत कराया

कि धूप का सेवन करने से मनुष्य के शरीर में चर्म कैन्सर हो जाता है। पुनः यह बताया गया कि यद्यपि इस रोग का प्रभाव सभी मानवों पर पड़ता है, परन्तु हल्के रंग की त्वचा वाले (गोरी चमडी वाले) व्यक्तियों की त्वचा अधिक प्रभावित होती है।

ओजोन की पर्त को पतली करने तथा पृथ्वी के तापमान को बढ़ाने और पर्यावरण प्रदूषित करने में कार्बन डाइऑक्साइड, कार्बन मॉनोऑक्साइड, नाइट्स ऑक्साइड, मीथेन, हैलोजन तथा क्लोरोफ्लोरोकार्बन्स (सीएफसीज) विशेष रूप से उत्तरदायी हैं।

विश्व संसाधन-1990-91 संयुक्त पर्यावरण कार्यक्रम, संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम तथा विश्व संसाधन संस्थान द्वारा संयुक्त रूप से पकशित रिपोर्ट के अनुसार भारत, चीन और ब्राजील उन पाँच देशों में हैं जो धरती को गर्म करने वाली गैसों की रचना के लिए जिम्मेदार हैं। इनके मुख्य कारण वन-विनास, पशु-पालन तथा धान के खेतों से निकलने वाली मीथेन गैस बताए गए।

उक्त रिपोर्ट में यह भी इंगित है कि भारत 47.6 करोड़ टन कार्बन डाइऑक्साइड तथा 52 लाख टन मीथेन गैस निर्माण करने के लिए उत्तरदायी है। विकासशील देश मिलकर वातावरण में उपलब्ध कार्बन डाइऑक्साइड के 48 प्रतिशत तथा मीथेन के 56 प्रतिशत निर्माण के लिए उत्तरदायी बताए गए।

परन्तु भारत की एक संस्था "विज्ञान और पर्यावरण केन्द्र" द्वारा उक्त रिपोर्ट का खण्डन किया गया है, जिसमें बताया गया कि वातावरण में उपलब्ध कुल कार्बन डाइऑक्साइड का केवल 16 प्रतिशत विकासशील देश उत्सर्जित करते हैं तथा मीथेन गैस के उत्सर्जन में इन देशों का योगदान बिल्कुल नहीं है। उक्त संस्थान द्वारा यह विचार भी व्यक्त किया गया कि जो कार्बन डाइऑक्साइड और मीथेन गैस पैदा होती है उनकी अधिकांश मात्रा पृथ्वी के वातावरण द्वारा सोख ली जाती है।

कुछ प्राप्त सूचनाओं के अनुसार अमेरिका सब से ज्यादा कार्बन डाइऑक्साइड गैस पैदा करता है। सब से अधिक तेजी के साथ वृक्षों की कटान दक्षिणी अमेरिका के अमेजन के जंगलों में हो रही है। ब्राजील में सारे वन कट गए और वहाँ पशुओं के लए चारे की कमी भी हो गई। एशिया और अफ्रीका के अनेक राष्ट्रों की वन सम्पदाएँ नष्ट होती जा रही हैं।

ओजोन की पर्त नष्ट करने वाली विभिन्न गैसों में आमतौर से क्लोरीन, ब्रोमीन और फ्लोरीन होती हैं। इनमें क्लोरोफ्लोरोकार्बन्स (सी एफ सीज) की विशेष भूमिका होती है। इन गैसों के क्लोरीन के अणु जब ओजोन की पर्त पर रासायनिक क्रिया करते हैं, तब ओजोन की चादर पतली होने लगती है।

क्लोरीन के अणु धरती पर स्थापित रेफ्रीजरेटर्स और वातानुकूलित संयंत्रों के उद्योगों में प्रयोग किए जाने वाले रसायनों, विशेष कर क्लोरोफ्लोरोकार्बन्स से निकलते हैं। इन रसायनों के निर्माण में प्लास्टिक फोम, आग बुझाने वाले, बिजली पैदा करने वाले तथा एलेक्ट्रॉनिक उपकरणों की तथा अन्य उद्योगों की भी विशेष भूमिका रहती है।

विश्व भर में इस घातक रसायन के 90 प्रतिशत भाग का निर्माण तीन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा किया जा रहा है, ये हैं—डुपॉन्ट, आंटोकेम और इम्पीरिअल केमिकल इन्डस्ट्री।

क्लोरोफ्लोरोकार्बन्स का पता 60 वर्ष पूर्व जब डॉ० थॉमस मिगले ने अमेरिकी बहुराष्ट्री डुपॉन्ट-जेनरल मोटर्स कम्बाइन कम्पनी के रेफ्रीजरेटर्स के लिए लगाया था, तब रेफ्रीजरेशन उद्योग में एक क्रान्ति मच गई थी। परन्तु जब सीएफसीज द्वारा होने वाले खतरनाक प्रभावों की जानकारी हो गई तो अब इसका विकल्प ढूंढा जा रहा है। वैज्ञानिकों का मत है कि इसका एक विकल्प हाइड्रोफ्लोरोकार्बन्स (एचएफसीज) हैं। ऐसी धारणा है कि यह ओजोन की पर्त तक पहुँते-पहुँचते नष्ट हो जाती है।

अतः इन खतरनाक गैसों को वातावरण से हटाना या कम करना तथा पर्यावरण के इन दुष्प्रभावों से धरती को बचाना परम आवश्यक है। अन्यथा अगर धरती का अस्तित्व समाप्त हो गया तो सभी जीवधारी समाप्त हो जाएँगे। यह हम सभी के लिए एक चेतावनी है।

अब प्रश्न यह उठता है कि किन किन कार्यों के विकल्प ढूढे जाएँ। कौन-कौन से कार्य किए जाएँ?... कौन-कौन से कार्य न किए जाएँ? क्या खाद्यानों का उत्पादन बंद कर दिये जायें? क्या फल-फूल व सब्जियों का उत्पादन बंद कर दिया जाये? क्या जारों का उत्पादन न किया जाय? क्या सारी फसलों की उत्पादकता बढाई न जाये? क्या कीटनाशकों और कवकनाशकों का प्रयोग रोक दिया जाए? क्या भूमि की उर्वरता न बढाई जाए?

क्या पेड़-पौधे, बाग-बगीचे कटने दिए जाएं? क्या ये लगाए ही न जाएं? क्या सारे उद्योग-धन्धे बन्द कर दिए जायें? पशु-पक्षी-पालन क्या बंद कर दिया जाय?—वगैरह वगैरह। यह एक गम्भीर और विचारणीय विषय है, क्योंकि उक्त सारे कार्य और मनुष्य की जीवका एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

फिर भी इसमें दो राय नहीं कि बाग-बगीचों, पेड-पौधे और वनों की कटान पर कड़ाई के साथ रोक लगाने की तत्काल आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त बाग-बगीचों और वनों के रोपण कार्य अभियान के रूप में बड़े पैमाने पर चलाए जाने चाहिए। साथ ही इनकी सुरक्षा की भी पूरी व्यवस्था होनी चाहिए। इस प्रकार प्रकृति की देन "धरती" की रक्षा हो सकेगी। प्रदूषित वातावरण शुद्ध हो सकेगा। अच्छी वर्षा होगी तथा पृथ्वी हरी-भरी व रमणीक हो जाएगी।

सूखी धरती में आँवला, अमरूद, बेल, कैथा, लसोडा तथा जामुन के वृक्ष आसानी के साथ लगाए जा सकते हैं। इनके लगाने से हरियाली भी होगी और फल भी खाने को मिलेंगे। साथ ही बेकार पड़ी भूमि का सदुपयोग भी हो जाएगा। ऐसा करके हम धरती को बचा सकते हैं।

■ ■

घड़ियाल : परिचय एवं संरक्षण

डॉ० अमरेश चन्द्र पाण्डेय एवं निशी पाण्डेय*

घड़ियाल (वैज्ञानिक नाम गैवीएलिस गैंगेटीकस) सरीसृप वर्ग के गैवीएलाइडी कुल का एकमात्र सदस्य है (चित्र 1)। यह हमारे देश की विभिन्न बड़ी नदियों यथा गंगा, ब्रह्मपुत्र, महानदी, सिन्धु आदि में प्रमुख रूप से पाया जाता है। इसकी कुल लम्बाई 6.5 से 8.0 मीटर तक होती है। देखने में भयावना होते हुए भी यह एक निरीह प्राणी है, जो मनुष्य को देखते ही जल में चला जाता है। यह मत्स्य-भोजी होता है तथा मनुष्य या अन्य बड़े जानवरों के लिए अहानिकारक है। कभी-कभी घड़ियाल के शरीर से नेकलेस, ब्रेसलेट्स आदि गहने मिलते हैं, किन्तु इसका कारण नरभक्षी होना नहीं है। नदियों में प्रवाहित शव अंगों को खाने के कारण गहने मांस के साथ इसके पेट में चले जाते हैं।
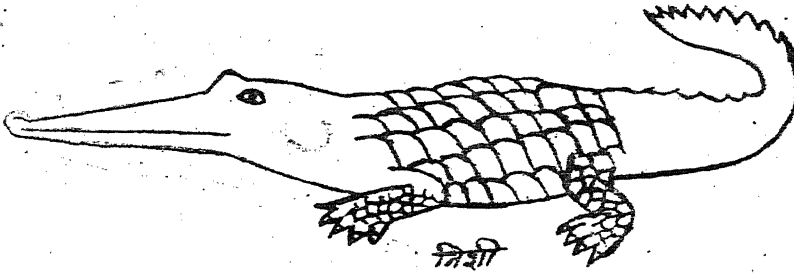
चित्र 1

घड़ियाल के प्रमुख लक्षण

1. शरीर कड़े वाह्य आवरण (शल्क) से ढका होता है। त्वचा का रंग गाढ़ा हरा या भूरापन लिये होता है।

2. दोनों जबड़े थूथन के रूप में लम्बे एवं पतले होते हैं। ऊपरी जबड़े तथा निचले जबड़े के दायें-बायें क्रमशः 28-28 एवं 25-25 नुकीले दाँत होते हैं।

3. नर घड़ियाल (2.5 मीटर या अधिक लम्बाई) के थूथन के ऊपरी अग्रिम भाग पर नासिका-रंध्र एक उल्टे घड़े के समान फूला होता है। इसी विशेष लक्षय के कारण इसका नाम घड़ियाल पड़ा (चित्र 2) है। मादा में यह घड़े के समान उभार नहीं मिलता है। उल्टे घड़े के समान नासिका के कार्य के बारे में मत-विभिन्नता है। कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार इस फूले हुए भाग से नर प्रजनन काल में मादा को

मत्स्य विज्ञान विभाग, नरेन्द्र देव कृषि एवं प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय, कुमारगंज, फैजाबाद-224 229 एवं* स्नातक छात्रा तृतीय वर्ष, साकेत महाविद्यालय, अयोध्या-224 001 (उत्तर प्रदेश)

आकर्षित करने के लिए मैथुन-ध्वनि निकालता है। अन्य वैज्ञानिकों के अनुसार इसमें वायु एकत्रित रहती है, जिससे नर अधिक समय तक जल के अन्दर रह सकता है। तीसरे मतानुसार यह एक अनुपयोगी अंग है, जिसका वर्तमान घड़ियाल में कोई कार्य नहीं है।
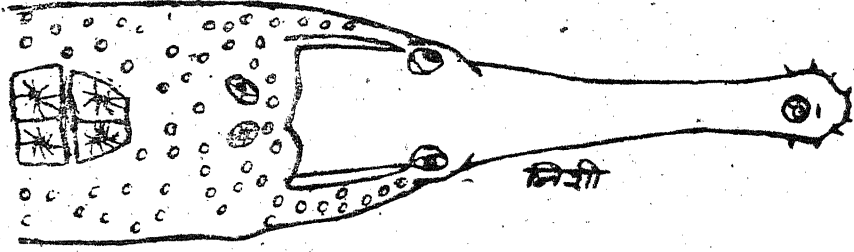
चित्र 2

4. लम्बी पूंछ बगल से चपटी होती है, इसके ऊपरी भाग पर आरे की तरह खड़े काँटे होते हैं।

5. मष्तिष्क के दोनों ओर ऊपरी भाग पर स्थित नेत्र दूरबीन का कार्य करते हैं। जल के अन्दर रहने पर पुतलियाँ एक पतले पारदर्शक झिल्ली से ढक जाती हैं।

6. जलीय जन्तु होते हुए भी श्वांस एवं धूप लेने तथा प्रजनन हेतु यह जल के बाहर रेतीले तट पर आता है। रेत के अन्दर मादा अपने अंडे छिपा देती है तथा आस-पास रह कर उनकी रक्षा करती है।

प्रागैतिहासिक महत्व

दो सौ मिलियन वर्ष पूर्व जैव-विकास के क्रम में घड़ियाल डायनोसॉर के साथ-साथ थिकोडान्ट्स नामक सरीसृप पूर्वज से मीसोजोइक काल में उत्पन्न हुए थे। डाइनोसॉर तो विलुप्त हो गये, किन्तु घड़ियाल बिना किसी परिवर्तन के आज तक जीवित सरीसृप वर्ग का एक प्रमुख सदस्य है। वास्तव में विलुप्त हो चुके डायनोसॉर् के सबसे समीप की कड़ियों में से यह एकमात्र जीवित जन्तु है। इसके अध्ययन से हमें विलुप्त हो गये डायनोसॉर्स की शारीरिक संरचना एवं जीवन के बारे में अमूल्य ज्ञान प्राप्त होता है। लगभग बीस वर्ष पहले 1974 में सम्पूर्ण विश्व में कुल 150 घड़ियाल थे, इसमें से 100 अकेले भारत में ही प्राप्त थे।

जीवाश्मों के अध्ययन से पता चलता है कि घड़ियाल 70 मिलियन वर्ष पहले दक्षिण अमेरिका, अफ्रीका, एशिया में पाये जाते थे। इसके विपरीत वर्तमान में यह मात्र भारतीय उपमहाद्वीप में पाया जाता है। कारणों का वास्तविक ज्ञान तो नहीं है, किन्तु सम्भवत: गोंडवानालैंड के विभिन्न महाद्वीपों में अलग हो जाने के पश्चात् यह किन्हीं अज्ञात कारणों से केवल भारतीय उपमहाद्वीप में रह गया।

विनाश का कारण

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, घड़ियाल मीन-भक्षी होता है तथा मनुष्यों के लिए अहानिकारक है, इसके विपरीत हम लोगों ने अनेक ढंग से घड़ियाल को हानि पहुँचाई है एवं नष्ट करने का प्रयास किया है :

1. धनी वर्ग के लोगों द्वारा मूल्यवान चर्म के लिए इसका बेरोकटोक शिकार काँटे, जाल आदि की सहायता से कुछ दशकों पहले तक अबाध गति से चलता रहा है।

2. अशिक्षित, गरीब वर्ग के लोग इसका शिकार भोजन तथा ओषधीय कारणों से करते रहे हैं।

3. मछुआरे लोग इसको इस विश्वास के कातण मारते रहें कि घड़ियाल उनकी आजीविका-साधन (मछली) को नष्ट करता है, जब कि शोध कार्यों से प्राप्त आँकड़ों के अनुसार घड़ियाल ऐसी मीन-प्रजातियों का भक्षण करता है जो मुनुष्यों के भोजन के लिए अनुपयोगी हैं।

4. बाढ़-नियंत्रण के लिए निर्मित अवरोधों तथा सिंचाई हेतु बाँधों के निर्माण के फलस्वरूप घड़ियालों के निवास-स्थल नष्ट हो गये या उनकी पारिस्थितिकी बदल गई, जिसके कारण इनकी प्रजनन क्षमता पर असर पड़ा।

5. नायलोन आदि से निर्मित जाल में फँस जाने के बाद घड़ियालों की मृत्यु श्वांस घुटने से हो जाती है।

संरक्षण

घड़ियालों की कम होती संख्या के कारण विवश हो कर भारत सरकार ने इनके शिकार पर (वन्य जीव संरक्षण एक्ट 1972) प्रतिबन्ध लगा दिया। इन्टरनेशनल ट्रेड इन एनडैंजर्ड स्पीशीज ऑव वाइल्ड फलोरा एण्ड फाना (लुप्तप्राय वन्यवनस्पति एवं जन्तु प्रजातियों का अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार) के नियमानुसार घड़ियाल के चर्म-निर्यात पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम तथा खाद्य एवं कृषि संस्थान के सहयोग एवं देखरेख में 1975 में उड़ीसा राज्य के टिकरपाड़ा (महानदी के किनारे) स्थान में घड़ियालों के उत्थान हेतु एक घड़ियाल-पालन केन्द्र की स्थापना की गई। वन्यजीव कार्यकर्ताओं तथा आस-पास के निवासियों द्वारा घड़ियालों के प्राकृतिक रूप से निषेचित अण्डे ला कर केन्द्र में प्रजनन हेतु रखा जाता रहा है। इसके फलस्वरूप वर्ष 1982 में घड़ियालों की संख्या बढ़ कर 1000 हो गई, जबकि यह संख्या वर्ष 1974 में मात्र 100 थी।

टिकरपाड़ा के परिणामों से उत्साहित हो कर भारत ने उत्तर प्रदेश (कुकरैल नदी), बिहार (गंडक नदी) तथा मध्यप्रदेश (चंबल नदी) में भी घड़ियाल संरक्षण प्रजनन केन्द्रों की स्थापना की। इन सभी केन्द्रों पर पले-बढ़ एक मीटर लम्बे बच्चों को (लगभग एक वर्ष की आयु में) वापस नदियों में छोड़ दिया जाता है।

प्राकृतिक मैथुन के बाद मादा के शरीर के अन्दर निषेचित अंडों को इकट्ठा करना आसान कार्य नहीं है, इसके लिए प्रशिक्षण तथा सावधानी की आवश्यकता होती है। इसमें निम्न प्रक्रिया अपनाई जाती है—

1. मादा अंडों को नदी के किनारे बालू में छिपा देती है। अंडे निषेचन के 15 दिनों बाद ही इकट्ठा किये जाते हैं। इन 15 दिनों में भ्रूण की रक्त-वाहिनियों का विकास होता है, इस अवधि में छेड़-छाड़ करने पर भ्रूण नष्ट हो जाते हैं।

2. अंडों के ऊपरी भाग पर चिन्ह लगा देते हैं, जिससे इकट्ठा करने के बाद पुनः पुरानी अवस्था में ही इन्हें केन्द्रों में रखा जा सके। यदि यातायात के मध्य या केन्द्रों पर लाये जाने के बाद चिन्हित ऊपरी

भाभ रखते समय इधर-उधर होगा तो भ्रूण को भोजन पहुँचाने वाली योक-रक्त-नलिकाएँ नष्ट हो जाती हैं तथा भ्रूण मर जाता है।

3. अंडों को केन्द्रों में ला कर लकड़ी के विशेष रूप से निर्मित बालू भरे बक्सों में रखा जाता है। इस बात का ध्यान रखते हैं कि बालू में हवा आने-जाने की पर्याप्त सुविधा हो तथा नमी बहुत अधिक न हो। 28-30° सेन्टीग्रेड तापमान पर नर बच्चे तथा 28° से कम या 30° से अधिक होने पर मादा बच्चे पैदा होते हैं। इसीलिए प्रकृति में मादा घड़ियालों की संख्या नर की अपेक्षा बहुत अधिक होती है।

4. घड़ियाल के बच्चों को अवस्था के अनुरूप अलग-अलग समूहों में सीमेंट की टंकियों में रखा जाता है क्योंकि ये बच्चे धूप सेंकते समय एक दूसरे के ऊपर ढेर के रूप में चढ़ जाते हैं एवं नीचे वाले बच्चों की दम घुटने के कारण मृत्यु होने की सम्भावना होती है।

■■

साहित्य परिचय

पुस्तक-ध्वनि प्रदूषण
लेखक-डॉ० डी० डी० ओझा
प्रकाशक-ज्ञान गंगा 205-सी, चावड़ी बाजार
दिल्ली-110006
प्रथम संस्करण, मूल्य रु० 70/-

डॉ० डी० डी० ओझा द्वारा लिखित एवं ज्ञान गंगा, दिल्ली द्वारा प्रकाशित पुस्तक "ध्वनि प्रदूषण" देखने का अवसर प्राप्त हुआ। पुस्तक में डॉ० ओझा ने सरल तथा रोचक भाषा में ध्वनि और उसके सामान्य गुण, ध्वनि प्रदूषण तथा ध्वनि प्रदूषण से मानव जीवन पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव एवं ध्वनि प्रदूषण की रोकथाम इत्यादि पहलुओं पर प्रकाश डालते हुये जन सामान्य तक उपयोगी जानकारी उपलब्ध कराने का सफल प्रयास किया है। अन्य प्रकार के प्रदूषणों पर तो आज प्रचुर मात्रा में पठन सामग्री उपलब्ध है किन्तु ध्वनि प्रदूषण पर वास्तव में अभ प्रामाणिक जानकारी का अभाव है। डॉ० ओझा ने इस अभाव को पूरा करने की दिशा में एक उल्लेखनीय योगदान किया है एतदर्थ वह बधाई के पात्र हैं। पुस्तक के अन्त में शब्दावली (Glossary) समावेशित करने से पुस्तक की उपयोगिता में निःसन्देह वृद्धि हुयी है। पुस्तक की छपाई आकर्षक है। प्रूफ सम्बन्धी त्रुटियाँ न के बराबर हैं।

इस पुनीत कार्य हेतु लेखक व प्रकाशक को बधाई एवं साधुवाद।

—डॉ० दिनेश मणि
सहायक सम्पादक 'विज्ञान'

समुद्री जीवों से प्राप्त नवीन सह-हैसरकारी पदार्थ

प्रो० राजीव रंजन उपाध्याय

वैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी के घनीभूत अवस्था में आने के उपरान्त इसका भीतरी भाग भी शनैः शनैः कर शीतलता की ओर उन्मुख हुआ। इससे पृथ्वी का बाहरी कवच कठोर हुआ तथा आन्तरिक भाग अपेक्षाकृत उष्म ही रहा। इस प्रकार बाह्य एवं आन्तरिक भागों में उत्पन्न दबाव के कारण पृथ्वी का कुछ भाग ऊँचा तो कुछ भाग नीचा हो गया। इस करोड़ों वर्षों पूर्व हुयी प्रक्रिया के फलस्वरूप आज के योरोप, कनाडा, साइबेरिया, अफ्रीका तथा एन्टार्कटिका उत्पन्न हुये।

घनीभूत गैसों के शीतल होने के फलस्वरूप जल की उत्पत्ति हुयी। यही जल पृथ्वी के नीचे भागों में एकत्र होकर महासागरों और अनेक सागरों का जनक हुआ। इस प्रकार आज के पाँच महासागर और अनेक सागर पृथ्वी के समस्त जल, जो कि 71% प्रतिशत है, को अपने में निहित किये हैं।

मानव की मेधा ने क्रमिक विकास कर प्रकृति के अनेक रहस्यों का भेदन किया तथा इसी क्रम में उसने सागरों के रहस्यों को जानने का प्रयास किया। उसकी उदधि के प्रति धारणाओं का खण्डन और मण्डन होता रहा तथा नवीन विचारों की उत्पत्ति जलधि के विषय में होती रही। उसने सागर की उत्ताल तरंगों को ध्यान से देखा, ज्वार-भाटा को समझा तथा अपनी प्राचीन अवधारणाओं को साहित्य में सुरक्षित रखा। पंकनिधि से संबंधित धारणायें विश्व की समस्त प्राचीन सभ्यताओं में सुरक्षित हैं।

भारतीय साहित्य में समुद्र के विषय में अनेक कल्पनायें हैं पर कुछ तो आधुनिक वैज्ञानिक तथ्यों के समीप हैं। इनका रसास्वादन संस्कृत के अनेक ग्रन्थों के अध्ययन से किया जा सकता हैं। परन्तु एक श्लोक जो वैज्ञानिक तथ्यों से युक्त है उसे उद्धृत करने के लोभ का संवरण करना कठिन है। वह इस प्रकार है—

निर्मथ्यते यदि सुराडसुरसैन्य संघेरापूर्यते यदि जलैंजलादापगाभिः।
पेपीभते च वड़वामुख वह्निना, येन्न क्षुभ्यतिस्म जलधिनतुनत्वामेति॥

"अर्थात् चाहे देवता और दानवों के सैन्य समूह से मथा जाये, चाहे मेघ और नदियों से भरा जाये अथवा बड़वानल की आग से सोखा जाये, समुद्र न तो क्षुब्ध होता है और न दुबला पड़ता है।"

परिसर कोठी काके बाबू, विज्ञान, देवकाली मार्ग, फैजाबाद-224 001 (उत्तर प्रदेश)

यह मान्यता है कि देवों और असुरों द्वारा समुद्र मंथन से हलाहल विष भी उत्पन्न हुआ था तथा देव श्रेष्ठ शंकर ने गरल पानकर, नीलकंठ की उपाधि पायी थी। आज भी नीर निधियों ने आधुनिक विज्ञान को अनेक विष-(टॉक्सिन्स) दिये हैं। इनका दोहन वैज्ञानिकों ने पयोधि वासी जीवों से किया है तथा इनका उपयोग मानव-ओषधियों के रूप में किया जा रहा है। आशा है निकट भविष्य में और अनेक प्रभावशाली ओषधियाँ समुद्री जीवों से प्राप्त होंगी। समुद्र से प्राप्त इन ओषधियों में बारह ओषधियाँ कैंसररोधी गुणों के कारण आधुनिक कैंसर चिकित्सा में उपयोग की जा रही हैं।

उदधि की वनस्पतियों और जीवों से प्राप्त टॉक्सिने मुख्यत: मानव त्वचा पर प्रतिकूल प्रभाव ही नहीं डालतीं वरन् यह सभी सह-कैंसरकारी गुण से युक्त हैं। इन विषों का भ्रम में उपयोग मानव के लिए प्राण घातक भी सिद्ध हुआ है। इन अनेक टॉक्सिनों में से कुछ, जो सह-कैंसरकारी गुणों से युक्त हैं, उनका विवरण संक्षेप में नीचे दिया जा रहा है—

टीलियोसीडिन

जापान की एक एन्टीबायोटिक ओषधियों का निर्माण करने वाली कम्पनी जो **स्टेप्टोमाइसीज मेडिओसेडिकस** प्रजाति से एन्टीबायोटिक तैयार करती थी, की एक विकट समस्या थी कि जब भी इसके कर्मचारी उपर्युक्त प्रजाति का स्पर्श करते तो उनकी त्वचा में तीव्र जलन होती और उनका एन्टीबायोटिक का दोहन प्रभावित होता था। उस कम्पनी के वैज्ञानिक इस दहनकारी पदार्थ की खोज में लगे थे और अन्तत: इसी फूजीसावा फारमास्यूटिकल इन्डस्ट्रीज लि० के डॉ० माताओ ताकाशीमा को 1960 में इस जलन उत्पन्न करने वाले पदार्थ को प्राप्त करने का श्रेय मिला। त्वचा पर जलन उत्पन्न करने वाले इस पदार्थ को शुद्ध अवस्था में प्राप्त करने के उपरान्त डॉ० हीराता के सहयोग से इसकी संरचना (एक्स-रे-क्रिस्लोग्राफी द्वारा) ज्ञात हुयी जिससे यह स्पष्ट हुआ कि यह एक नवीन पदार्थ टीलियोसीडिन का एक हाइड्रोजिनेरेड यौगिक है। इसके पुन: शोधन से टीलियोसीडिन प्राप्त हुआ। यह अत्यन्त प्रभावशाली सह-कारसिनोजेन टेटराडेकानोइल फोरबोल-एसीटेट (टी० पी० ए०) की ही भाँति त्वचा पर जलन उत्पन्न करता है तथा अनेक जैव-रसायनिक प्रक्रियाओं में यह टी० पी० ए० के समकक्ष है। आज भी इसके जैव रसायनिक गुणों का विस्तृत अध्ययन डॉ० हिरोता फूजीकी के सहयोगियों द्वारा जापान एवं अमेरिका में किया जा रहा है।

लिनबियाटॉक्सिन

जब भी तैराक हवाई द्वीप के पास के समुद्र में तैरते थे तो उनकी त्वचा में तीव्र जलन और चकत्ते पड़ जाना एक सामान्य सी बात थी। तैराकों को यह जलन कुछ समय बाद असह्य पीड़ा देती थी। यह एक जलीय वनस्पति जो समुद्र जल में प्रचुरता से विद्यमान थी, के कारण होता था। हवाई द्वीप के वासी इस समुद्री वनस्पति को "लीमू" कहते थे। यह "लीमू" भोजन के उपयोगी तो था पर कभी-कभी इसके भोजनोपरान्त लोग पेट में भीषण जलन और स्टोमैरिस्टिस से पीड़ित हो जाते थे। तैराकों ने हवाई विश्वविद्यालय के डॉ० आर० ई० मूर का ध्यान इस तथ्य की तरफ आकर्षित किया। रसायनज्ञ डॉ० मूर ने प्रयासों से यह पता लगाया कि इस त्वचा जलन की समस्या के जड़ में एक नील-हरित शैवाल—**लिंगबीया मैजेसक्यूला** है। जिसमें निहित टॉक्सिन जिसे उन्होंने लिनबिया टॉक्सिन, नाम से संबोधित किया, मानव त्वचा पर जलन उत्पन्न करती है। डॉ० मूर ने ही 1981 में यह दर्शाया

था कि **लिगवीया मैजेसक्यूला** नामक नील-हरित शैवाल अन्य शैवालों पर परोपजीवी है—इनमें मुख्य **एकैन्थोफोरा** तथा **स्पेसीफेरा** हैं, जिनके विविध व्यन्जन बनाये जाते हैं। यह व्यन्जन फिलिपीन्स, हवाई द्वीप समूह में तथा इन्डोनेशिया तक में लोकप्रिय हैं।

अब अज्ञानवश **लिगवीया मैजेसक्यूला** के साथ **एकैन्थोफोर** या **स्पेलीफेरा** प्रजातियाँ भोजन हेतु उपयोग में लाई जाती हैं तो इनमें निहित टॉक्सिन-लिगवीया टॉक्सिन के कारण मानव को पेट की समस्या तथा त्वचा की समस्या उत्पन्न होती है।

मूतकों पर यह टॉक्सिन सह-कैंसरकारी है तथा इसका इस दिशा में टीलियोसिडिन से प्रभाव कुछ कम है।

एप्लीसियाटॉक्सिन तथा डाईब्रोमोएप्लीसिया टॉक्सिन

हवाई द्वीप के निकटवर्ती द्वीप आहाऊ में समुद्र में तैराकी के लिए जाने वाले लोगों को 1970-71 में एक नवीन विपत्ति का सामना करना पड़ा। वह भी त्वचा में जलन और खुजलाहट की। इसका कारण वैज्ञानिकों को एक नील-हरित शैवाल मिला जिसको सूक्ष्म अध्ययनोपरान्त इन लोगों ने पुनः लिगवीया मैजेस्क्यूला ही पाया। जब इस शैवाल को सिन्धु-शशक स्टीलोकीलमलाँगीसीडा खा लेता है और अपने मुख से पानी निकलता है तो पानी में टीलिपोसिडिन समूह की टॉक्सिनों के साथ दो नवीन टॉक्सिने वर्तमान हो जाती हैं। इनकी रसायनिक संरचना डॉ० काटो ओरश्यूरर ने स्पष्ट की और इनको एप्लीसियाटॉक्सिन तथा इसके ब्रामीन संयुक्त यौगिक को डाईब्रोमोए-प्लीसियाटॉक्सिन का नाम दिया। सह-कैंसरकारी क्षमता परीक्षण में ये दोनों टॉक्सिने टीलियोसीडिन की अपेक्षा क्रमशः 83% एवं 53% सक्रिय हैं।

माईक्रोसिस्टिस एल० आर०

यह भी नील-हरित शैवाल की माईक्रोसिस्टिस, एनाबीना, आसीलाटोरिया, नॉस्टाक आदि प्रजातियों से प्राप्त की गयी है। यह एक साईक्लिक पेप्टाइड है और सहकैंसरकारी भी है। इस वर्ग की अनेक टॉक्सिने नील-हरित शैवालों से प्राप्त की गयी हैं—यथा, माईक्रोसिस्टिस से माईक्रोसिस्टिन, ऑसीलाटोरिया कैनीकोसा—जो मारशलद्वीप समूह में बहुतायत से पायी जाती है, से ऑसीलोटॉक्सिन ब्रोमोआसीलोटॉक्सिन तथा एप्लीसिया टॉक्सिन हैं हैं। यह सभी मानव त्वचा पर जलन तथा विपरीत प्रभाव डालती हैं एवं सभी सह-कैंसरकारी गुण से युक्त हैं।

पैलीटॉक्सिन

हवाई द्वीप समूह के वासी समुद्र में रहने वाले एक सीलेन्ट्रेट। जो कि पालीथोआ परिवार का जीव है, सागर के समीप उथले गड्ढे खोद कर, उसी में पानी भरकर, इसको डाल देते हैं। समुद्र में ज्वार के परिणामस्वरूप इन गड्ढों में और पानी भर जाता है तथा मछलियाँ भी आ जाती हैं। सीलेन्ट्रेटा एक विष पानी में छोड़ता रहता है, इसी के प्रभावस्वरूप मछलियाँ मूसित हो जाती हैं, और लोग इनको पकड़ कर भोजन के लिए उपयोग करते हैं। हवाई द्वीप के वासी इस सीलेन्ट्रेटा को अपनी भाषा में "माके—ओ—हाना" कहते हैं। इसकी टॉक्सिन मानव पर विष सा प्रभाव उत्पन्न करती है तथा तैराकों की त्वचा पर लाल चकत्ते उत्पन्न करने में सक्षम होती है।

प्रशान्त महासागर वाली कुछ केकड़े जैसे डेनामियाँरियनाउडी भ्रमवश जब इस सीलेन्ट्टा को खा जाते हैं तो उनका माँस विषाक्त हो जाता है। मछुवारे इन केकड़ों को पकड़ कर बाजार में लाकर बेच देते हैं। विष युक्त केकड़ों के भोजन करने से पेट में तीव्र पीड़ा, ज्वर और कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है। यह टॉक्सिन प्रभावशाली सहकैंसरकारी है तथा यह गुण इसके साईकिलिक असंतृप्त ऐलीफैटिक दीर्घ शृंखला के ईथर में उपस्थित ऐमाइड एवं हाईड्राक्सिल समूहों के कारण है।

डाईनोकाइसिस टॉक्सिन

समुद्र कीप माईटीउसइड्यूलिस जो सभी "सी-फूड" रेस्ट्राँ में, जापान में सुलभ हैं, से प्रथम बार प्राप्त की गयी है। यह टॉक्सिन एवं ओकाइक एसिड समूह के अन्य टॉक्सिन प्रशान्त महासागर के वासी डाइनोफलैजीलेट्स तथा स्पांजों में भी वर्तमान है। इसके शरीर में भोजनोपरान्त उपस्थित से, भोजनकर्ता के शरीर में तीव्र पीड़ा होती है। अतिसार का सा प्रकोप होता है तथा त्वचा में जलन बढ़ती जाती है। समुद्री भोजन-प्रिय लोग प्रति वर्ष जापान, चिली, नार्वे, हालैण्ड तथा स्पेन, फ्रान्स एवं हवाई द्वीप समूहों में प्रभावित होते रहते हैं। यह टॉक्सिन प्रभावशाली सह-कैंसरकारी है।

ओकाडाइक एसिड

इस प्रसिद्ध सह-कैंसरकारी विष-रसायन को सर्वप्रथम प्रशान्त महासागर वासी स्पांज हैलीकोनड्रिया ओकाडाई तथा हैलीकोनड्रिया मीलानोडोरिया से प्राप्त किया गया था। "शेल-फिश" जो इस स्पांजों का भक्षण करती है उसमें भी यह टॉक्सिन पायी गयी है। इसके संपर्क में आये मनुष्यों के प्रभावित होने की अनेक घटनाएँ हर वर्ष प्रकाश में आती रहती हैं। जापान में डॉ० हीरोता फुजीकी के अथक प्रयास से इस विष के सह-कैंसरकारी गुण प्रकाश में आये।

कैलक्यूलिन-ए

जापान के "सी-फूड" प्रिय लोग एक स्पान्ज, जिसे वैज्ञानिक शब्दावली में डिसकोडरमिया कैलिकस कहते हैं, के भोजन से अधिकतर बीमार हो जाते हैं। यह जापान की सागामी क्षेत्र की खाड़ी में पाया जाता है। इसका विष प्राणघातक है एवं सह-कैंसरकारी भी है।

संक्षेप में वातावरण में उपस्थित सह-कैंसरकारी पदार्थों की शृंखला में अभी तक यह पदार्थ शहद[1] में, कूराकाओं द्वीप वासियों की चाय में,[2] मछलियों में[3] तथा जले हुये भोज्य पदार्थों[4] में ही पाये गये थे, परन्तु अब इनकी उपस्थिति "सी-फूड" में भी स्थिर कर दी गयी है। इनमें नील-हरित शैवाल की अनेक प्रजातियाँ भी शामिल हैं।

भारत में इस दिशा में प्रयास करना बाकी है और आशा है कि निकट भविष्य में इन सह-कैंसरकारी पदार्थों की उपस्थिति अन्य स्वरूप में ज्ञात होगी तथा इनके निराकरण की भी प्रभावशाली विधि विकसित की जा सकेगी।

संदर्भ

1. उपाध्याय, आर० आर० सूसन इस्लामापनाह एवं अकरेम दाऊदो : जापानीज जरनल ऑव कैंसर-मान : 71 557, 1980.

2. वेवर० जे०, एवं हेकर० ई० : इक्सीपीरेन्शिया, 34, 679-82, 1978.

3. उपाध्याय, आर० आर० एवं स्वरूप, आनन्द: इन्डि० ज० कैंसर एवं वायो० रिसर्च 1, 15, 1988.

4. सुगीमूरा, ताकाशी: गान-जापानीज जर्नल ऑव कैंसर : 73, 499-507, 1982.

■ ■

प्रकृति का अनुपम उपहार : नीम

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

क्या आप किसी ऐसे वृक्ष का नाम बता सकते हैं, जो पौध-रोपण के 3-5 वर्षों के बाद फूल-फल देने लगे ? जो 7-10 वर्षों में अपना पूरा आकार प्राप्त कर ले और इसके बाद लगभग 50 किलोग्राम फल प्रतिवर्ष उत्पन्न करे ? जो कृषि और उद्योग में उपयोगी हो ? जिसमें जीटनाशक, कृमिनाशक गुण हों ? फोड़े-फुंसी की 'रामबाण' ओषधि होने के साथ ही साथ जिसमें कैंसर और 'एड्स' जैसे असाध्य और घातक रोगों के उपचार की भी संभावनायें विद्यमान हों ? अरे ! कहाँ सोच में पड़ गए ? यह वृक्ष तो जाना-पहचाना है। आप इससे भली भाँति परिचित भी हैं। क्या कहा ? नहीं याद आ रहा ऐसे वृक्ष का नाम ? तो लीजिए मैं ही बता देता हूँ। भला ऐसे विविध गुणों वाला वृक्ष नीम के अतिरिक्त और कौन-सा हो सकता है ?

नीम के गुणों को शहरों में रहने वाले लोगों से अधिक ग्रामवासी जानते-पहचानते हैं। और संभवतः यही कारण है कि भारतीय गाँवों में, जिसके पास भी थोड़ी जमीन होती है, एक वृक्ष नीम का अवश्य लगा लेता है। प्रातः उठते ही नीम का स्मरण हो जाता है। गाँवों के लोगों के लिए नीम का 'दातून' आज भी सर्वोत्तम है।

बीसवीं शती अवसान पर है। ज्ञान-विज्ञान उन्नति के शिखर पर है, फिर भी गाँवों में रहने वाले निर्धन लोग ऊनी कपड़ों की सुरक्षा के लिए उनके साथ नीम की सूखी पत्तियां रखते हैं। बच्चों को 'चेचक' का टीका लगने के बाद घाव के पक जाने पर नीम की पत्तियों को पानी में डालकर उबालते हैं और इस प्रकार उबले पानी से मवाद साफ करते हैं। यही नहीं, सूखी नीम की पत्तियों को जलाकर बनाई गई राख को घाव पर नारियल के तेल के साथ लगाते हैं। 'खसरे' अथवा 'चेचक' के रोगी के कमरे के दरवाजे और बिस्तर पर नीम की पत्तियों

संपादक, "विज्ञान" मासिक, विज्ञान परिषद् प्रयाग, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-2

युक्त हरी ताजी टहनी रखते हैं। मक्खियों को भगाने अथवा हवा झलने के लिए इसी टहनी का उपयोग पंखे की तरह करते हैं। नीम का तेल रोशनी करने के लिए दिए में जलाने के काम आता है। नीम की खली मवेशियों (जानवरों) को खिलाते हैं। नीम की सुखी पत्तियों का उपयोग अन्न-भण्डारण में भी करते हैं। नीम की पकी निम्बोलियों को चिड़ियाँ बड़े चाव से खाती हैं।

वनस्पति विज्ञानियों ने नीम को मीलियेसी (Meliaceae) कुल में रखा है और इसे वैज्ञानिक नाम दिया है एजैडिरेक्टा इण्डिका (Azadirachta indica)। वास्तव में इसके वैज्ञानिक नाम का अर्थ है—'आजाद दरख्त-ए-हिन्द' यानि 'स्वतंत्र भारतीय वृक्ष'।

पश्चिमी देशों की रहन-सहन की चकाचौंध में हम अपने प्राचीन अति-महत्वपूर्ण वृक्ष नीम को भूलते जा रहे थे, पर समय ने पलटा खाया और आज सारे संसार की आँखें नीम पर टिकी हैं। अमेरिका जैसा प्रभुतासम्पन्न देश तो इसे अपनी 'मिल्कियत' ही बनाना चाहता है।

वास्तव में नीम की ओर ध्यान आकृष्ट कराने का श्रेय है भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली के डॉ० प्रधान को। 1962 में डॉ० प्रधान द्वारा नीम पर किया गया शोध-कार्य 'मील का पत्थर' सिद्ध हुआ। बाद में इस शोध कार्य को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई इंग्लैण्ड के डॉ० मॉर्गन, जर्मनी के डॉ० शुमुटरेर और अमेरिका के डॉ० जैकॉबसन।

नीम बर्मा, आसाम और संभवत: शिवालिक, और दक्षिण भारत के कुछ अन्य भागों का निवासी है। भारतीयों को तो लगभग 4000 वर्ष पूर्व—वैदिक काल— से ही नीम और उसके उपयोगों का ज्ञान था।

नीम के घरेलू उपयोग के विषय में कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में भी उल्लेख मिलता है। 'आयुर्वेद' में तो इसे 'सर्व रोग निवारिणी' कहा गया है। नीम में पर्यावरण को शुद्ध रखने और पर्यावरण प्रदूषण कम करने की अद्‌भुत् क्षमता विद्यमान है। नीम की शाखा-प्रशाखा और पत्तियों की विशाल 'कैनोपी' (क्षत्र) के कारण इसमें प्रकाश-संश्लेषण की दर तेज होती है। शायद ही किसी ने नीम के वृक्ष को पर्णविहीन देखा हो। दिन के समय नीम का वृक्ष अन्य दूसरी प्रजातियों की तुलना में अधिक ऑक्सीजन (प्राणवायु) निकालता है। नीम के इसी विशिष्ट गुण के कारण इसे 'वायु को शुद्ध करने वाला' भी कहा गया है। नीम का वृक्ष पूरे वर्ष छायादार बना रहता है, इस दृष्टि से भी नीम अत्यधिक उपयोगी है।

वर्तमान में भारतीय उपमहाद्वीप में शुष्क, अर्धशुष्क, नम, शीतोष्ण, समशीतोष्ण स्थानों में नीम के वृक्ष अधिक संख्या में लगाये जा रहे हैं। नीम में विभिन्न प्रकार की जलवायु और भूमियों में उगने की क्षमता होती है। इसकी जड़ें जमीन में काफी गहरे तक जाती हैं। इस कारण जमीन में काफी नीचे से पोषक तत्वों का अवशोषण कर लेती हैं। बाद में मिट्टी की ऊपरी पर्त भी पोषक तत्वों से परिपूर्ण हो जाती है, जब इस वृक्ष की पत्तियाँ और टहनियाँ टूट कर नीचे गिरती हैं और सड़ कर मिट्टी में पोषक तत्वों की कमी को पूरी कर देती हैं। इस प्रकार नीम की सहायता से अनुपजाऊ भूमि को उपजाऊ भूमि में परिवर्तित किया जा सकता है। नीम का वृक्ष लगाना आसान होता है। यह शीघ्र बढ़ता है, तेजी से बढ़ता है और दूसरी प्रजातियों के वृक्षों की वृद्धि को कुप्रभावित नहीं करता।

एक अनुमान के अनुसार इस शताब्दी के अंत तक हमें लगभग 300 मिलियन टन जलावन की लकड़ी की जरूरत होगी। दूसरे उत्पादों के साथ-साथ नीम से ईंधन की समस्या का भी समाधान संभव है। वृक्षारोपण के 5 से 7 वर्षों के बाद ही इसकी लकड़ी काटने लायक हो जाती है। यह विडम्बना ही है कि हम जलावन की लकड़ी के लिए अनेक दूसरी प्रजातियों के वृक्षों को तो लगाते हैं, पर नीम पर हमारा ध्यान नहीं गया। संभवतः इसका कारण है परम्परागत चूल्हे, जिनमें नीम की लकड़ी इस्तेमाल करने से अधिक धूँआ निकलता है। चूल्हों की बनावट में सुधार करके धुंये से छुटकारा पाया जा सकता है। महाराष्ट्र में तो नीम को जलावन के लिए रोपित लिए जाने की संस्तुति भी की जा चुकी है।

मरुभूमि में प्राय: धूल भरी आँधियां आती रहती हैं, जिनके प्रभाव से कृष्य भूमि भी धीरे-धीरे अनुपजाऊ हो जाती है। नीम वृक्षों के सघन कतारों द्वारा इन आँधियों की गति को नियंत्रित किया जा सकता है। एक ताजी सूचना के अनुसार सहारा रेगिस्तान में आँधियों को रोकने के लिए नीम वृक्षों की लगभग 300 किलोमीटर लम्बी 3 कतारें लगाई गई हैं। इस ओर भारत में भी ध्यान देने की आवश्यकता है। नीम वृक्षों की सहायता से हम राजस्थान के रेगिस्तान के विस्तार पर अंकुश लगा सकते हैं।

नीम के बहुउपयोगी होने का ज्ञान तो हमें हजारों वर्षों से है, किन्तु यह अजीब विरोधाभास है कि हमने नीम के जंगल लगाने की दिशा में कभी कोई प्रयास नहीं किया। सच पूछिए तो वन विभागों को नीम के जंगल तैयार करने की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

भारत के विभिन्न राज्यों में कुल लगभग 25 मिलियन नीम वृक्ष होंगे। इनसे हमें लगभग 0.75 मिलियन टन बीज प्राप्त होते हैं। इसका मात्र एक चौथाई इस्तेमाल हो पाता है और तीन चौथाई बेकार चला जाता है। बीजों का अधिक से अधिक उपयोग हो सके, इस पर भी ध्यान देना होगा। बीज हमारे शरीर के लिए आवश्यक वसा, कार्बोहाइड्रेट और प्रोटीन का अच्छा स्रोत है। अतएव हमें बीजों को एकत्र करने और सुखाने की नई विधियाँ ढूंढनी होंगी। यहाँ एक तथ्य जान लेना आवश्यक है और वह यह कि निम्बोलियों के गूदे से मीथेन गैस प्राप्त की जा सकती है। गूदा कार्बोहाइड्रेट का भी अच्छा स्रोत है। नीम लगभग 150 यौगिकों का स्रोत है।

अतएव आवश्यकता है नीम के वनीकरण की ओर साथ ही इसके औषधीय एवं अन्य गुणों पर अधिक अनुसंधान की। नीम निश्चित रूप से इक्कीसवीं शती का 'कल्पवृक्ष' सिद्ध होगा। नीम प्रकृति का अनुपम उपहार है।

■ ■

छठवां प्रो० एन० आर० धर व्याख्यान सम्पन्न

शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद के पुस्तकालय कक्ष में विगत 19 अप्रैल 1995 को छठवां 'प्रो० एन० आर० धर व्याख्यान' सम्पन्न हुआ। व्याख्यानदाता थे—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कृषि रसायन एवं मृदा विज्ञान विभाग के प्रो० आर० सी० तिवारी। व्याख्यान का विषय—"अनुकूल पर्यावरण में टिकाऊ फसल उत्पादन हेतु समेकित पोषक तत्व प्रबन्ध" था।

कार्यक्रम की शुरुआत रसायन विभाग के अध्यक्ष तथा शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान के निदेशक प्रो० एच० पी० तिवारी जी द्वारा प्रो० धर के चित्र पर माल्यार्पण के साथ हुआ। शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान के पूर्व निदेशक एवं प्रो० एन० आर० धर स्मृति व्याख्यान के सचिव प्रो० शिवगोपाल मिश्र जी ने प्रो० एच० पी० तिवारी तथा प्रो० आर० सी० तिवारी को माला पहनाकर स्वागत किया तथा संस्थान और व्याख्यान के विषय में संक्षेप में बताया। डॉ० प्रभाकर द्विवेदी ने सरस्वती-वन्दना तथा स्वागत-गीत प्रस्तुत किया। कार्यक्रम के संचालक तथा प्रो० एन० आर० धर स्मृति व्याख्यान के संयोजक डॉ० दिनेश मणि ने व्याख्यानदाता का परिचय दिया तथा विषय-प्रवेश के पश्चात् प्रो० आर० सी० तिवारी जी को व्याख्यान देने के लिये आमंत्रित किया।

प्रो० आर० सी० तिवारी जी ने अपने रोचक व्याख्यान की शुरुआत कबीर दास जी की एक पंक्ति—"जस की तस धर दीनी चदरिया झीनी रे बीनी" से की तथा आगे बताया कि मिट्टी में बिना कार्बनिक पदार्थ मिलाये केवल रासायनिक उर्वरकों तथा कीटनाशी रसायनों के प्रयोग से मिट्टी की उर्वराशक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। बढ़ती हुयी जनसंख्या के लिए भोजन जुटाने हेतु हमें समेकित पोषक तत्व प्रबन्ध पर ध्यान देना होगा।

व्याख्यान के अन्त में विभागाध्यक्ष—प्रो० एच० पी० तिवारी जी ने व्याख्यान की प्रशंसा करते हुये प्रो० आर० सी० तिवारी जी को एक हजार रूपये का मानदेय प्रदान किया।

अन्त में प्रो० शिवगोपाल मिश्र जी ने विभागाध्यक्ष, व्याख्यानदाता तथा आये हुये सभी गणमान्य श्रोताओं के प्रति आभार व्यक्त किया।

प्रस्तुति : डॉ० दिनेश मणि
प्रवक्ता, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान,
इलाहाबाद-211002

परिषद् का पृष्ठ

विज्ञान परिषद की जोधपुर शाखा से

केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी परिषद्, नई दिल्ली द्वारा आयोजित 16वीं अखिल भारतीय विज्ञान एवं तकनीकी लेखन प्रतियोगिता में हमारी शाखा के दो वरिष्ठ सभ्यों को पुरस्कृत किया गया है।

डॉ० (श्रीमती) सुशीला राय को उनके लेख "विज्ञान के बढ़ते चरण-पृथ्वी से आकाश की ओर" के लिए महिला (प्रथम) पुरस्कार एवं डॉ० डी० डी० ओझा को उनके लेख "मरुस्थलीय मृदा" पर तृतीय पुरस्कार से 10 मार्च 1995 सायं 6.00 बजे 'गांधी मेमोरियल हाल, प्यारेलाल भवन', नई दिल्ली में नगद पुरस्कार एवं प्रशस्ति पत्रों से सम्मानित किया गया है। इन दोनों लेखों को केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी परिषद् द्वारा "विज्ञान गंगा" के आगामी अंक में प्रकाशित किया जायेगा। इस राष्ट्रीय सम्मान को प्राप्त कर इन सभ्यों ने विज्ञान परिषद् प्रयाग को भी गौरवान्वित किया है। दोनों व्यक्तियों को बहुत-बहुत बधाई।

प्रस्तुति—डॉ० रामगोपाल
सभापति, विज्ञान परिषद् जोधपुर शाखा
57-अ, रक्षा प्रयोगशाला
जोधपुर-342001

डॉ० सी० वी० रामन के योगदान पर विचार गोष्ठी

इलाहाबाद 2 मार्च। राष्ट्रीय विज्ञान दिवस के अवसर पर विज्ञान परिषद भवन में 'भारतीय विज्ञान के शलाका पुरुष रामन' विषयक एक विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया।

इस गोष्ठी के मुख्य अतिथि इलाहाबाद विश्वविद्यालय के वनस्पति विभाग के अवकाशप्राप्त अध्यक्ष डॉ० डी० डी० नौटियाल थे। अध्यक्षता डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने की और इसका आयोजन-संचालन विज्ञान पत्रिका के सम्पादक प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने किया।

उक्त सभी विद्वानों ने डॉ० सी० वी० रामन को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए भारतीय विज्ञान के उन्नयन में उनके योगदान पर प्रकाश डाला। गोष्ठी में डॉ० सुनील कुमार चतुर्वेदी डॉ० दिनेश मणि, डॉ० सुनील दत्त तिवारी, सुनील कुमार पाण्डेय, देवी दयाल पाण्डेय, गणेश प्रताप सिंह, अरुण कुमार सिंह (सीनियर) और अरुण कुमार सिंह (जूनियर) ने अपने विचार व्यक्त किये।

गोष्ठी के दौरान यह बात उभर कर सामने आयी कि लेसर की खोज के बाद 28 फरवरी 1928 को खोजे गये 'रामन प्रभाव' का महत्व और भी बढ़ गया है। अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त 'नोबुल पुरस्कार' से विभूषित

वैज्ञानिक, देश भक्त, लोकप्रिय अध्यापक, लोकप्रिय व्याख्यानदाता रामन ने हीरे जैसे रत्न, फूलों के रंग, दृष्टि की कायिकी, मृदंगम और तबले जैसे सुमधुर वाद्य यंत्रों पर सराहनीय शोध कार्य किया है। 17 नवम्बर 1988 को तमिलनाडु के एक मामूली से गांव में पैदा हुए रामन का निधन 1970 में 21 नवम्बर को हुआ।

वक्ताओं ने कहा कि रामन अपने पीछे अजस्र कीर्ति छोड़ गये है। उनका जीवन और उनका कार्य आने वाली पीढ़ियों को सदैव प्रेरणा देता रहेगा। (राष्ट्रीय सहारा 3.3.95).

विज्ञान परिषद् का स्थापना दिवस मनाया गया

इलाहाबाद 11 मार्च। हिन्दी भाषा के माध्यम से विज्ञान का प्रचार-प्रसार करने वाली देश की सर्वप्रथम संस्था 'विज्ञान परिषद प्रयाग' अपनी स्थापना के 82 वर्ष पूर्ण कर चुकी है। इस अवसर पर विज्ञान परिषद के पुस्तकालय कक्ष, में "परिषद की गतिविधियों उपलब्धियाँ एवं कमियों" विषय पर एक विचार गोष्ठी 10 मार्च को आयोजित की गयी जिसकी अध्यक्षता प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने की तथा संचालन विज्ञान परिषद् के संयुक्त मंत्री एवं सहायक सम्पादक डॉ० दिनेश मणि ने किया।

अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रेमचन्द्र ने कहा कि विज्ञान परिषद् प्रयाग देश की एक अग्रणी संस्था है जो स्वतंत्रता पूर्व से विज्ञान का प्रचार-प्रसार कर रही है। देश या विदेश में हिन्दी का शायद ही कोई ऐसा विज्ञान लेखक होगा जो कभी न कभी विज्ञान परिषद् से न जुड़ा रहा हो। आज देश के विभिन्न भागों में परिषद् की आधा दर्जन शाखायें हैं।

उन्होंने कहा कि आज के दिन तमाम कमियों को दूर करने पर विशेष ध्यान देने तथा नये संकल्प लेने की आवश्यकता है।

इस अवसर पर डॉ० सुनील दत्त तिवारी ने अपने विचार प्रस्तुत करते हुये अधिकाधिक युवा वैज्ञानिकों तथा विज्ञान लेखकों से विज्ञान परिषद् से जुड़ने को सलाह दी। सुनील कुमार पाण्डेय ने विज्ञान से सम्बन्धित जानकारियाँ आम आदमी तक पहुँचने की आवश्यकता पर बल दिया और अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए संस्था की प्राचीनता व गरिमा को अक्षुण्ण रखने में सभी लोगों से सहयोग करने का आग्रह किया। (दैनिक जागरण 12 मार्च 1995)

116वें जन्म दिन पर गोष्ठी

आइंस्टीन युद्ध विरोधी थे

इलाहाबाद 15 मार्च। विश्व प्रसिद्ध वैज्ञानिक एल्बर्ट आइंस्टीन के 116वें जन्म दिन पर गत दिवस "ऐल्बर्ट आइंस्टीन : वैज्ञानिक भी, संत भी" विषय पर एक विचार गोष्ठी सम्पन्न हुई। वक्ताओं ने आइंस्टीन को बीसवीं शदी का महानतम मानवतावादी वैज्ञानिक बताते हुए उन्हें श्रद्धासुमन अर्पित किए।

विज्ञान पत्रिका के सम्पादक प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने उक्त विषय पर बोलते हुए आइंस्टीन के विनोदी स्वभाव, विश्वशांति की दिशा में उनके द्वारा किए गये प्रयासों और उनकी यूनीफाइड फील्ड थियरी के संबंध में बलों के एकीकृत करने की दिशा में उनकी आंशिक सफलता का उल्लेख करते हुए बताया कि यदि आइंस्टाइन थोड़े और वर्ष जीवित रहते तो चारों बलों-गुरुत्व, विद्युत-चुम्बकत्व, क्षीण नाभिकीय बल और प्रबल नाभिकीय बल-को एकीकृत कर दिया होता।

डॉ० सुनील दत्त तिवारी ने उनके बचपन की उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हुए बताया कि विद्यार्थी जीवन में ही पुस्तकों के माध्यम से उन्होंने यूक्लिड, स्पिनोजा, न्यूटन और डेकार्ट से मित्रता कर ली थी।

सुनील कुमार पाण्डेय ने सापेक्षतावाद सिद्धान्त के विषय में बताते हुए कहा कि हिरोशिमा और नागासाकी पर एटम बम गिराये जाने के बाद आइंस्टीन को लोग नाहक दोष देते हैं कि उन्होंने एटम-बम बनाने के सिद्धान्त की खोज की। वास्तव में वे युद्ध के सदैव विरोधी रहे।

राजेश केशरी ने उनके विनोदी स्वभाव पर प्रकाश डालते हुए बताया कि एक बार वे एक मित्र के घर खाने गए और भोजनोपरान्त अधिक रात तक बैठे रहे, इस संकोच में कि मेहमान (जो वास्तव में मेजमान थे) से कैसे कहें कि अब उठा जायें। आइंस्टीन समझ रहे थे कि वे मेजबान हैं।

गणेश प्रताप सिंह ने आइंस्टीन को धार्मिक व्यक्ति बताया और कहा कि उनका जीवन संतों जैसा था। धन का उन्हें मोह नहीं था।

डॉ० बी० पी० त्रिपाठी ने कहा कि वैज्ञानिकों को ऐसे शोध कार्य को हाथ में लेना चाहिए जो कि मानव के लिए कल्याणकारी हो।

अंत में विचार गोष्ठी के आयोजक और संचालक प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने सभी वक्ताओं और श्रोताओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की। (अमर उजाला)

गोष्ठी में बंजर जमीन पर वृक्षारोपण करने पर बल

इलाहाबाद 23 मार्च। विश्व वानिकी दिवस के अवसर पर विज्ञान परिषद् में आयोजित एक गोष्ठी में बंजर भूमि में वृक्षारोपण पर बल दिया गया।

गोष्ठी की अध्यक्षता "विज्ञान" मासिक पत्रिका के सम्पादक प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने की तथा संचालन विज्ञान परिषद् के संयुक्त मन्त्री व विज्ञान पत्रिका के सहायक सम्पादक डॉ० दिनेश मणि द्वारा किया गया।

गोष्ठी के शुरुआत में डॉ० सुनील दत्त तिवारी ने कृषि वानिकी तथा सामाजिक वानिकी की व्याख्या करते हुए उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला तथा उन्होंने सामाजिक स्थलों यथा विद्यालय कब्रिस्तान, न्याय पंचायत आदि स्थानों के आस-पास उपलब्ध बंजर भूमि में वृक्षारोपण करने पर बल दिया।

सुनील कुमार पाण्डेय ने बढ़ती जनसंख्या व घटती भूमि के परिप्रेक्ष्य में बंजर व दलदली भूमियों को पौध

रोपण के उपयोग पर बल देते हुए कहा कि इसके लिए किसानों को ऐसे वृक्षों का चयन करना चाहिए जिससे कि उनकी आर्थिक दशा सुधर सके तथा समाज को भी लाभ हो सके।

डॉ० दिनेश मणि ने मृदा उपयोग क्षमता से सम्बन्धित वर्गीकरण की व्याख्या करते हुए बताया कि हमें इस कार्य के लिए सदैव उन वर्गों की भूमियों का उपयोग करना चाहिए जिनका फसलोत्पादन हेतु उपयोग नहीं किया जा सकता। उन्होंने यह भी बताया कि वृक्षों की असली उपज जल है। हरिओम सिंह ने कहा कि वृक्षों की उपयोगिता को हमें लोगों को समझाना होगा अन्यथा वांछित सफलता नहीं प्राप्त की जा सकती है।

श्री चन्द्रभान सिंह एवं श्री राजाराम ने पौधों के धार्मिक व सामाजिक महत्व पर प्रकाश डालते हुए अधिकाधिक वृक्षारोपण पर बल दिया।

गोष्ठी के अध्यक्ष प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने पौधों के आर्थिक, सामाजिक व धार्मिक महत्व पर विस्तार से प्रकाश डाला तथा सामाजिक वानिकी की प्रासंगिकता को यथार्थपरक बनाने की अपील की। उन्होंने यह भी बताया कि भगवान कृष्ण द्वारा भी वृक्षारोपण का कार्य किया गया था।

अंत में गोष्ठी के संचालक डॉ० दिनेश मणि ने गोष्ठी में उपस्थित सभी आगन्तुकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की। (अमर उजाला)

तपती धरती : बदलता परिदृश्य पर गोष्ठी सम्पन्न

विज्ञान परिषद् 22 अप्रैल को 'विश्व पृथ्वी दिवस' के अवसर पर डॉ० शिवगोपाल मिश्र की अध्यक्षता में एक विचार गोष्ठी सम्पन्न हुई। विचार गोष्ठी के संचालक और आयोजक, 'विज्ञान' पत्रिका के सम्पादक प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने विषय प्रवर्तन करते हुए बताया कि धरती के लगातार गर्म होते जाने के परिणाम अत्यंत विध्वंसकारी होंगे। इससे समुद्रों में बर्फ की विशाल चट्टानों और उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों की हिम टोपियों के पिघलने से सागरीय जलस्तर ऊपर उठेगा। मात्र 90 सेंटीमीटर जल स्तर में वृद्धि से फिलीपीन्स फिजी, बांग्लादेश, थाईलैण्ड, इन्डोनेशिया, मलेशिया, सिंगापुर, मिक्रोनेसिया और भारत के समुद्र तटीय क्षेत्र जलमग्न हो जायेंगे। उदाहरण के लिए पश्चिमी जावा के 11,000 हेक्टेयर चावल के खेत और थाईलैण्ड 32.5 वर्गकिलोमीटर चावल के खेत प्रभावित होंगे।

'नेचर' नामक विश्वविख्यात पत्रिका के हवाले से उन्होंने बताया कि सागर के जलस्तर में वृद्धि का एक नया और चौंकाने वाला कारण ज्ञात हुआ है, और वह यह कि पम्पों द्वारा धरती से खींचे गए जल का अत्यधिक उपयोग खेतों की सिंचाई और पीने के काम में लाया जाता है। इससे एक ओर तो धरती का जलस्तर नीचे जा रहा है, और दूसरी ओर इस जल का काफी भाग नदियों के माध्यम से सागरों में जा रहा है। वैज्ञानिक डोर्क सहागलन के अनुसार प्रतिवर्ष 1.5 से 2 मिली मीटर तक समुद्र के जलस्तर में होने वाली वृद्धि का एक तिहाई भाग इसी जल का है।

डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने अपने अध्यक्षपदीय उद्बोधन कहा कि भारत के कुछ भागों में पहले से अपेक्षाकृत पिछले 90 वर्षों में धरती का ताप 0.4 डिग्री बढ़ा है। यह अधिक नहीं है। वैज्ञानिक सतर्क हैं, कारण अनेक हैं। यह ताप अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। मिट्टी सिंक (कूड़ादान) की तरह इस्तेमाल की जाती है। कार्बन का सिंक समुद्र और मिट्टी है। समुद्र की क्षमता समाप्त हो गई हैं। विश्व में ऐसे भी समुद्र हैं जहाँ क्षारीयता के कारण कार्बन का शोषण होता है। धरती पर कार्बनडाइऑक्साइड अधिक होने से बायोमास अधिक बनेगा। अधिक ताप से पत्तियाँ आदि शीघ्र डिकम्पोज होंगी। आज कार्बन की कमी नजर आती है। पोषक तत्व नीचे धरती में अभी भी सुरक्षित हैं। कचरा ठीक से मिट्टी में मिले तो पोषक तत्व वापस धरती में जा सकते हैं।

भारत में जुगाली करने वाले पशुओं की संख्या बहुत अधिक है। जानवर जुगाली करते हैं और मल-मूत्र त्याग करते हैं, तो मीथेन गैस निकलती है। इसकी उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता है। धान के खेत से भी अधिक मीथेन निकलती है। पर धान की खेती और पशुओं की जुगाली पर आरोप निराधार है। मीथेन ऑक्सीडाइजिंग बैक्टीरिया से नष्ट हो जाती है। प्रकृति ने अपनी व्यवस्था कर रखी है। इसीलिए घबड़ाना नहीं चाहिए।

इस अवसर पर डॉ० दिनेश मणि, डॉ० सुनील दत्त तिवारी, श्री देवी दयाल पाण्डेय और श्री० चन्द्रभूषण पाण्डेय ने आलेख प्रस्तुत किए और धरती के ताप के बढ़ने के कारणों-हवा में कार्बनडाइऑक्साइड, नाइट्रस ऑक्साइड मीथेन और क्लोरोफ्लोरोकार्बन्स के अत्यधिक मात्रा में मिलने, धरती के रक्षा कवच ओजोन की चादर के झीनी होने से कैंसर जैसे घातक रोगों की विभीषिका की ओर-श्रोताओं का ध्यान आकृष्ट करते हुए बताया कि इन गैसों के हवा में उत्सर्जन पर नियंत्रण से समस्या पर काबू पाया जा सकता है। समाधान तो केवल विज्ञान ही प्रस्तुत कर सकता है। अंत में प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की।

प्रस्तुति : प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
सम्पादक "विज्ञान"

जल शुद्धि यंत्र

डॉ० रामगोपाल

संसार के सबसे पुराने ग्रंथ ऋगवेद ने जल की बहुत महिमा गायी है। जल पाँच महाभूतों में से एक है। ऋषियों ने इसे जीवन व अमृत कहा है एवं इसे शुद्ध व पवित्र बनाये रखने के लिए अधिक सूक्तियाँ रची हैं। हम सभी यह जानते हैं कि पेयजल शुद्ध होना चाहिये। शुद्धता या स्वच्छता से अभिप्राय यह होता है कि जल रंगहीन गंधहीन व पारदर्शी हो, परन्तु शुद्ध पीने वाले पानी में इन बातों के अलावा यह भी अत्यंत महत्वपूर्ण है कि उसमें घुलनशील रासायनिक पदार्थ निर्धारित मात्रा से अधिक न हों तथा उसमें किसी प्रकार के विशेषकर रोग फैलाने वाले जीवाणु न हों। बढ़ती हुई जनसंख्या, औद्योगिकीकरण, जल मल का खुला निष्कासन और खेतों से प्रवाहित होने वाले

संयुक्त निदेशक व संयोजक, पश्चिमी अंचल क्षेत्रीय केन्द्र, राष्ट्रीय पेयजल मिशन, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर-342 011 (राजस्थान)

क़ीटाणु-नाशक एवं उर्वरक हमारे जल संसाधनों को दिन प्रतिदिन दूषित कर रहे हैं। अतः जल के शुद्धीकरण की जाँच करने के लिए एक सुदृढ़ व्यवस्था की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए केन्द्र व राज्य सरकार के अंतर्गत् पानी की जाँच के विभिन्न कार्यक्रम किये जा रहे है। पानी की जाँच के अंतर्गत् प्रायः भौतिक, रासायनिक और सूक्ष्मजीवीय परीक्षण सम्मिलित हैं। भौतिक परीक्षणों के अंतर्गत् रंग, गंध, स्वाद, गंदलापन, अम्लीयता व क्षारीयता एवं घुलनशील लवणों की मात्रा है। रासायनिक परीक्षणों के अंतर्गत सभी प्रकार के कार्बनिक यौगिक, अकार्बनिक लवण व धातु पदार्थ सम्मिलित हैं। जैवीय और सूक्ष्मजीवीय परीक्षणों में मल प्रदूषण को प्रकट करने वाला ई० कोलाई जीवाणु परीक्षण, लौह जीवाणु और सल्फाइड अपचायी जीवाणु तथा विभिन्न कृमी जैसे कि बाला, टेपवर्म, हुकवर्म आदि हैं।

जल शुद्धीकरण की विधियों के अंतर्गत् प्रमुख विधियाँ इस प्रकार है :—

(1) प्रथम विधि भंडारण की है। विविध प्रकार के टैंकों, घड़ों, मटकों आदि में जब जल को रखा जाता है तो पानी में तैरने वाले कण और बहुत संख्या में जीवाणु तली में बैठ जाते हैं। इसीलिए तली में बचे पानी का प्रयोग प्रायः नहीं किया जाता है।

(2) द्वितीय विधि के अंतर्गत् तलछटीकरण और पानी का छानना सम्मिलित है। छानने के लिए कपड़ा, सूक्ष्म छननी, बालू आदि का प्रयोग किया जाता है। पानी में उपस्थित महीन कणों व अधिक मात्रा में जीवाणुओं को तलछट के रूप में तली में एकत्र करने के लिए प्रायः फिटकिरी का उपयोग करते हैं। अनेक जैन साधु चूना व राख द्वारा भी इस विधि के प्रयोग से जल शुद्ध करते है।

(3) तीसरी जल शुद्धि विधि के अंतर्गत् वायु को जल में मिश्रित करना है। आप लोगों ने विशेषकर शहरों में जलदाय विभागों में पानी के फौवारे देखे होंगे। पानी से यह रोगाणु और लौह तत्व निकल जाते है तथा जल गंध मुक्त होकर सुस्वाद हो जाता है।

(4) चौथी विधि के अंतर्गत् जल को रोगाणुओं से मुक्त करना सम्मिलित है। जल सम्बन्धित रोग पैदा करने वाले जीवाणु रोगी मनुष्य और जीवों के पेट में ही पाये जाते हैं। भूजल, झरने के जल व अन्य जल स्रोतों में जहाँ रोगी मनुष्य व जीवों का सम्पर्क नहीं होता है, वे जल पूर्णतया शुद्ध होते हैं। प्रमुखकः शहरों व गाँवों में मल-जल और रोगी मनुष्यों के सम्पर्क में आने के कारण जल प्रदूषित होता है और हैजा टाइफाइड, दस्त, पेचिश, पीलिया आदि रोगों का कारण बनता है। इस प्रकार के दूषित जल को शुद्ध करने के लिए विभिन्न जल शुद्धि यंत्रों का उपयोग किया जाता है, जिनमें क्लोरीन, ब्लीचिंग पाउडर, हाइपोक्लोराइड, कुंए की लाल दवा या पोटेशियम परमैंगनेट, ओजोन, पराबैंगनी किरणें, हैलोजन युक्त रेजिन, जल उबालना व विशिष्ठ फिल्टरीकरण भी सम्मिलित है।

(5) पाँचवी विधि के अंतर्गत् आयन विनिमय रेजिन जिन्हें अंग्रेजी में आयन एक्सचेंज रेजिन कहते हैं, का उपयोग है। मनुष्य द्वारा निर्मित यह जटिल यौगिक प्राकृति में पाये जाने वाले जियोलाइट पदार्थों के स्थान पर अत्यंत प्रभावकारी सिद्ध हुए हैं। इनके उपयोग से घुलनशील लवण दूर किये जाते हैं।

(6) छटी महत्वपूर्ण जल शुद्धि विधि के अंतर्गत् निर्लवणीकरण की विधियाँ हैं। जिनमें प्रमुल आसवन विधियाँ, विद्युत् डायलेसिस या इलेक्ट्रोडायलेसिस और विपरीत परासरण या रिवर्स ऑसमोसिस की विधियाँ हैं। इलेक्ट्रो डायलेसिस् संयंत्रों में घुलनशील लवणों के रूप में विद्यमान धन व ऋण आयनों को दूर करने के लिए दो प्रकार की झिल्लियों का प्रयोग होता है। जब विद्युत् प्रवाहित की जाती है तो सोडियम, पोटेशियम, कैल्सियम व

मैगनीशियम आदि के धन आयन इनसे सम्बन्धित झिल्ली से दूर हो जाते है। इसी प्रकार साथ साथ क्लोराइड, सल्फेट कार्बोनेट, बाई-कार्बोनेट आदि ऋण आयन इनसे सम्बन्धित झिल्लियों द्वारा दूर कर दिये जाते हैं। रिवर्स ऑसमोसिस संयंत्रों में अर्द्ध पारगम्य झिल्ली (Semipermeable membrane) प्रयोग में लायी जाती है। इस झिल्ली के एक ओर से खारे जल पर दवाव डालकर दूसरी ओर से शुद्ध जल निकालते हैं। इस प्रक्रिया में शुद्ध मीठा जल बिना लवणों का बाहर निकलता है और लवण एक ओर अत्यधिक खारे जल के साथ निकलते हैं। यह बात इस उदाहरण से अच्छी तरह समझी जा सकती है "जब हम किसमिस को नमकीन जल में भिगोकर रखते हैं तो फूलने पर उसमें नमक प्रवेश न करके मात्र जल ही ऑसमोसिस द्वारा प्रवेश करता है"।

उपरोक्त विधि में विपरीत दिशा में दबाव डालकर रिवर्स ऑसमोसिस विधि द्वारा जल शुद्ध करते हैं।

जल शुद्धीकरण की इन विधियों पर आधारित विभिन्न संयंत्रों का विकास भाभा अणु अनुसंधान केन्द्र-बम्बई, केन्द्रीय लवण व समुद्री रसायन अनुसंधान संस्थान, भावनगर व रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर द्वारा किया गया है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में जहाँ खारेपन की समस्या है, इन जल शुद्धिकरण संयंत्रों को राष्ट्रीय पेयजल मिशन कार्यक्रम के अंतर्गत् लगाया जा रहा है।

राष्ट्रीय पेयजल मिशन के अंतर्गत् जल शुद्धिकरण कार्यक्रमों में दूषित अपेय जल से खारापन, लौह, फ्लोराइड और बालाकृमि दूर करने, नये जल स्रोतों का पता लगाने और जल गुणवत्ता परीक्षण को प्राथमिकता दी गयी है। जल गुणवत्ता जाँच और पेयजल व्यवस्था से सम्बन्धित कार्यक्रमों को लागू करने के लिए देश में 5 क्षेत्रीय केन्द्र स्थापित किये गए हैं। रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर पश्चिमी अंचल का क्षेत्रीय केन्द्र है। इसके अंतर्गत् राजस्थान, गुजरात, दमन और द्वयू के क्षेत्रों को वैज्ञानिक व तकनीकी सहयोग, प्रशिक्षण और जानकारी उपलब्ध कराना है। रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर के अनुसंधान व विकास कार्यक्रमों के अंतर्गत् अनेक जल शुद्धि संयंत्रों का विकास किया गया है। सर्वेक्षण के अंतर्गत भूजल में खारापन, फ्लोराइड, नाइट्रेट, क्षारीयता और अनेक सतही जल स्रोतों में जल से सम्बन्धित रोगों के कीटाणु पाये जाते हैं। रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर द्वारा विकसित जल परीक्षण किट द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में भी सेकेण्डरी उत्तीर्ण व्यक्ति भी भौतिक, रासायनिक व जीवाणु परीक्षण आसानी से कर सकता है। पेयजल मिशन के कार्यक्रमों के अंतर्गत् एक चल प्रयोगशाला द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में जल का परीक्षण भी शुरू किया गया है। यह क्षेत्रीय केन्द्र जल गुणवत्ता जाँच पर लगातार समाजसेवी संस्थाओं, चिकित्सकों, इन्जीनीयरों और अन्य स्वास्थ्य कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण शिविर आयोजित करते रहते हैं।

■ ■

आँखों में पानी रखते हो

○डॉ० दिनेश मणि

आँखों में पानी रखते हो,
फिर भी जिन्दगी को मरुस्थल कहते हो।
क्यों ? आखिर क्यों ?
शायद इसलिये कि
तुम्हारी आँखों का पानी खारा है
और तुम इस खारे पानी से
अपने खेत यानि जिन्दगी को
सींचना नहीं चाहते।
क्योंकि तुम्हें डर है कि
कहीं तुम्हारी जिन्दगी
लवणीय-ऊसर-खेत की तरह न हो जाये।
यही न ?
पर तुम्हारा यह सोचना गलत है,
बिल्कुल आधारहीन है।
तुम यह तो जानते ही हो कि
जीवन के आधार सुख-दुख हैं
सुख की वजह से आँखों में
खुशी के आँसू आते हैं
और दुख की वजह से
गम के।
लेकिन क्या तुमने
कभी यह अनुभव किया है कि
इन दोनों तरह के
आँसुओं का स्वाद
खारा ही होता है
और इससे तुम्हारी जिन्दगी
लवणीय नहीं होने पायेगी
क्योंकि सुख-दुख की अनुभूतियाँ
तुम्हारी जिन्दगी में
पाइराइट, जिप्सम की तरह
'एमेण्डमेण्ट' का काम करेंगी।

■■

पौधों में विषाणु रोगों का प्रबन्ध

रविन्द्र कुमार सिंह, राजा राम एवं एजाज़ असगर जैदी

कृषि-उद्यान, बागानी फसलों और वानिकी के क्षेत्रों में पौध विषाणु रोग लगातार महामारी के समान फैल रहे हैं। विषाणु संसार में भयंकर आर्थिक क्षति के लिए उत्तरदायी हैं। पौध विषाणुओं द्वारा प्रत्येक वर्ष पूरे विश्व में लगभग 15 बिलियन डॉलर की आर्थिक क्षति हो जाती है। इस क्षति को रोकने के लिए युद्ध-स्तर पर जो प्रभावी कदम उठाये गये हैं उनमें से प्रमुख हैं :—विषाणुओं के पता लगाने की विधि, पहचान, रोगग्रस्त प्रवर्धकों से विषाणुओं को निकालना और विषाणु प्रतिरोधी फसलों का विकास।

जिस प्रकार मनुष्यों औ जानवरों में विषाणुक रोगों का नियन्त्रण नहीं हो पाया है उसी प्रकार पौधों में विषाणु रोग का नियन्त्रण नहीं हो सका है। विषाणु द्वारा संक्रमित पौधे सामान्य तरीके से रोगमुक्त नहीं हो पाते हैं। ऐसे पौधे रसायनिक उपचार या सूई लगाकर सुरक्षित नहीं रखे जा सकते हैं क्योंकि विषाणु गुणन क्रिया के विरूद्ध अभी तक प्रयोगिक उपचार विषाणुघाती द्वारा संभव नहीं हो पाया है। विषाणु रोग प्रबन्ध कार्यक्रम के आर्थिक आधार पर विषाणुओं द्वारा फसल-क्षति का मूल्यांकन सोचनीय है। क्षति के प्रकार जैसे वृद्धि में कमी, ओज में कमी, गुणों में कमी अथवा अप्रत्यक्ष क्षति फलन स्वास्थ्य रक्षा की कीमत से संबन्धित है। विभिन्न फसलों में औसत क्षति लगभग 5-20 प्रतिशत होती है, जबकि कुछ फसलों में 80-90 प्रतिशत तक यह क्षति हो जाती है। विषाणु से संक्रमित विभिन्न भोजन, चारा और ईंधन वाली फसलें, जिनमें आर्थिक क्षति तो होती है फिर भी उन्हें उपयोग में लाया जा सकता है, परन्तु अधिक व्यावसायिक महत्व आभूषक फसलें जैसे ऑकिड पूरी तरह नष्ट हो जाती है। अलंकृत फसलों में अन्य लक्षण हैं कलर ब्रेकिंग और वाह्यदल और फलियों का चितकबरापन, जिससे उनका बाजार मूल्य कम हो जाता है।

एक बड़ी समस्या विषाणु संक्रमित पौधों का उन क्षेत्रों में प्रवेश व वितरण का है जहां वे नहीं पाये जाते। जनन द्रव्य का संरक्षित प्रचलन विषाणु पता करने की विश्वसनीय विधि और प्रभावी चिकित्सा विधि पर निर्भर है। इसलिए आनुवंशिक द्रव्य साधन के संरक्षण के लिए अधिक क्षमता की विषाणु निकालने की तकनीकी का प्रयोग करते हैं। वर्षों से विषाणु पता करने की उन्नतशील विधि की आवश्यकता महसूस की जा रही थी। रोग वाहकों के नियन्त्रण के लिए तथा कीटनाशक का प्रयोग कम करने हेतु यह आवश्यक है कि रोग का पता पहले ही कर लिया जाये। उसके लिए रोग निदान सूचक विधियों मे अच्छा विकास हुआ है जिसमें सचेतक सेरोलॉजिकल तकनीकी (इ० एल० आई० एस० ए०, आई० एस० ई० एम०, डी० आई० बी० ए०. आर० आई० ए०) द्वारा इसकी प्रमाणिका और विषाणु का आगामी परीक्षण, पौध विषाणु तकनीकी में एक प्रमुख क्रम है। विषाणु पता करने की विश्वसनीय विधि जो हाल ही में उन्नत हुई है उनमें सेरोलॉजिकल तकनीकी, न्युक्लिक अम्ल संकरण तकनीकी और जैव तकनीकी में आणविक जीव शास्त्र अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो रही है।

वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् संकुल पालमपुर, हिमाचल प्रदेश

आनुवंशिकी अभियान्त्रिकी के उपयोग से प्रतिरोधक जीन समावेश करना बहुत ही अच्छा उपाय है, किन्तु जीन को सुविधापूर्वक प्राप्त करना अपेक्षाकृत बहुत कठिन है। 1985 में बीची और उनके सहयोगियों ने विषाणु रोग के विकास और विषाणु संक्रमण से छुटकारा पाने की एक अनोखी विधि का प्रयोग किया। उन्होंने तम्बाकू मोजेक वायरस (टी० एम० वी०) के विषाणु आवरण प्रोटीन से ट्रान्सजेनिक पौधे बनाये। इस तरह के प्रवेशन के लिए फलस्वरूप रोग लक्षण कुछ दिन देर से आये। आवरण प्रोटीन के अतिरिक्त अन्य उपायों जैसे-सैटेलाइट, मेडिएडेट प्रतिरोध, एन्टीसेन्स आर० एन० और राइबोजाइम को विभिन्न पौधों और विषाणुओं में विषाणु प्रतिरोध के लिए परीक्षित किया गया है।

वर्तमान द्रष्टिकोण में विषाणु निरन्त्रक उपायों, साथ-साथ रोग निदान विधियां, विषाणु पता करने की विधि, जिस पर हाल ही में प्रयोग किया गया है, का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है। यह विधियां सामान्यत: आठ प्रकार की हैं :—

1. विषाणु रोग का निदान
2. अन्योन्य प्रतिरोध
3. संक्रमण के स्त्रोत का निराकरण और कृषि क्रियाओं का परिवर्तन
4. विषाणु मुक्त प्रवर्धन पदार्थों का उपयोग
5. रोग वाहक का नियन्त्रण.
6. विषाणु प्रतिरोधक जीन का जैव प्रोद्योगिक उपयोग और प्रतिरोधी किस्मों का प्रजनन
7. ट्रान्सजेनिक पौधों का विकास
8. संगरोध प्रबन्ध

विषाणु रोग का निदान

विषणु रोगों का प्रबन्ध निवारण द्वारा किया जाता है इसलिए विषाणु का पता लगाना बहुत ही महत्वपूर्ण है। विषाणु पता करने की प्रबल विधियां जैसे लक्षण देखकर मूल्यांकन करना, जैव जांच, इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी द्वारा सेरोलॉजी अथवा न्युक्लिक अम्ल के आधार पर जांच सूचक-पादप का प्रयोग और दृष्टि मूल्यांकन के लिए विषाणु पता करना और निदान दोनों निर्भर करने योग्य नहीं हैं और इसमें अधिक समय और जगह की आवश्वकता होती है। इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी विधि खर्चीली है और नियमित विषाणु सूचकांक विधि के लिए अयोग्य है। मुख्य रूप से इसका उपयोग विषाणु पहचान और विषाणु प्रकृति निर्धारण में होता है। विषाणु सूचकांक वाले सभी पौधे एक दूसरे रूप में सीरम सम्बन्धी परख पर मुख्य रूप से आश्रित हैं। अब पौध विषाणु वैज्ञानिक अधिक मात्रा में एलिजा के माध्यम से विषाणुओं का खेत में परीक्षण कर सकते हैं। विषाणुओं के इस तकनीकी सर्वेक्षण के साथ फसलों, जंगली पौधों में बहुत आवरण से विषाणु प्रतिरोधक क्षमता की बहुत अधिक संभावना हो गई है। यह परीक्षण कम मेहनत और निश्चित और कम समय में हो सकता है। कीट रोग वाहकों और बीजों के विषाणुओं का पता करने में भी एलिजा का प्रयोग सफलता पूर्वक किया गया। इस परीक्षण से उत्पादकों को समझने मे भी काफी सुविधा होगी कि किस प्रकार इन क्रियाओं जैसे रसायनों, कृषि संबंधी, आणविक और जैवप्रोद्योगिकी द्वारा रोग प्रबन्ध का उपाय करके स्वास्थ्य फसल का उत्पादन कर सकते हैं।

2. अन्योन्य प्रतिरोध

यह अधिक विषाणु संक्रमण के विरूद एक सुरक्षात्मक उपाय है। पौधों में अधिक संक्रमित करने वाले विषाणुओं से बचने के लिए कम संक्रमित करने वाले विषाणु को पौधों के ऊपर स्थापित कर देते हैं जिससे पौधा अधिक संक्रमण से बच जाता है। इस विधि की बहुत ही कमियां हैं, जैसे कभी-कभी कम संक्रमण करने वाला विषाणु उत्परिवर्तन के कारण अधिक संक्रमण करने वाले विषाणु में बदल जाता है।

3. संक्रमण के स्त्रोत का निराकरण एवं कृषि क्रियाओं में परिवर्तन

साधारणतया यदि फसल को विषाणु मुक्त रखना है तो खेत और उसके आस पास संक्रमण का कोई स्त्रोत नहीं होना चाहिए। इस प्रकास विषाणु रोग समस्या का निदान हो सकता है। सिद्धान्त रूप से रोग फैलाने वाले स्त्रोतों को जैसे—एकवर्षीय खर-पतवार या बहुवर्षीय खर-पतवारों और असंबधित फसलों को खेत से निकालकर रोगों से फसल की रक्षा करते हैं। मिश्रित फसलों में यह विधि अपेक्षाकृत कठिन है। मिट्टी में पौधों के अवशेषों पर विषाणु निवास करते हैं जो पत्तियों के रगड़ द्वारा फैलते हैं ओर फसलों को हानि पहुँचाते हैं।

फसल-चक्र और खेत की देर से जुताई द्वारा नयी फसल में विषाणु संक्रमण को कम किया जा सकता है। संक्रमित पौधों और खर-पतवारों को खड़ी फसल से निकालना विषाणु नियंत्रण की एक प्रभावित विधि है। इस परीक्षण द्वारा देखा गया कि ग्लेडियोलस की फसल में बी० वाई० एम० वी० पाया जाता है और उस फसल से तिपतिया चारा को निकालने के बाद रोग का संक्रकंण कम हो गया। इसी प्रकार तम्बाकू, पोदीना, मकोय इत्यादि कुकम्बर मोजेक वाइरस को आश्रय देते हैं और इसे अन्य पौधों पर फैलाने में योगदान देते हैं। ज्वार और मक्क की फसलों का उपयोग भी कुछ कीटों को संकेत के लिए किया गया है। इसमें यह आवश्यक है कि ये कीट इन पर कोई रोग न फैलाते हों।

4. विषाणु-मुक्त प्रवर्धन पदार्थों का उपयोग

विषाणु मुक्त प्रवर्धित पदार्थों जैसे-शल्क कन्द, घनकन्द, अन्तः भूस्तारी और बीजों का प्रयोग करके आगामी विषाणु संक्रमण को कम करते हैं। ऐसी अवस्था में जहाँ प्रवर्धित पदार्थों का मूल पौधा संक्रमित है, तब उनकी संततियों में भी संक्रमण हो जाता है। कायिक प्रबन्धन में ऐसी स्थितियों का पाया जाना एक सामान्य बात है। इस प्रकार से एक पीढी से दूसरी पीढी में विषाणु का प्रवेश रोग का महत्वपूर्ण कारण होता है। फसल की प्रारम्भिक अवस्था में विषाणु संख्या में बढ़ता है और अन्य पौधों में फैलता है। जैव प्रौद्योगिकी प्रयत्नों में विषाणु मुक्त पौध पदार्थ प्राप्त करने में विभिन्न स्तर हैं। उत्तर और कोशिका सवर्धन में विभज्योतकसिरा सम्वर्धन द्वारा विषाणु मुक्त पौधे का विकास करते हैं। विभज्योतक सिरा सम्वर्धन, विषाणु मुक्त पौधे के उत्पादन की अच्छी विधि है किन्तु इसे विभिन्न पौधशालाओं और एजेन्सियों को वितरित करने से पहले अच्छी प्रकार सचेतक सेरोजलॉजिकल विधि जैसे एलिजा, डिबा, आइसेम से परीक्षण कर लेना चाहिए।

5. रोग वाहक का नियन्त्रण

यह वाहकों द्वारा फैलने वाले विषाणुओं के नियन्त्रण की अप्रत्यक्ष विधि है।

एफिड्स, सफेद मक्खी और माइट्स वायु आश्रित रोग वाहक कहलाते हैं। जबकि सूतकृमि और कवक मृदा आश्रित रोगवाहक कहलाते हैं। कीटनाशक कवकनाशक और सूतकृमि नाशक का प्रयोग करके रोगवाहकों की जनसंख्या को कम किया जा सकता है।

नयी कीट नियन्त्रण विधि में जिसमें कीट नाशक उपचार का कम प्रयोग करते हैं, पॉलीथीन का उपयोग भी है। जैसे कुछ एफिड्स पीले और हरे रंग की और आकर्षित होते हैं। विभिन्न विषाणु वाहक एफिड को पीले पॉलीथीन चद्दर जिस पर चिपचिपा पदार्थ लगा होता है, द्वारा एफिड को फंसाते हैं। अब विषाणु अवरोधक जाल भी उपलब्ध है जो विभिन्न प्रकार के छिद्र वाले होते हैं; जिसका उपयोग कीट वाहकों के नियंत्रण के लिए किया जाता है। अन्य तरीके में मृदा छीजन के द्वारा वाहकों का नियन्त्रण किया जाता है। एफिड को तेल के छिड़काव, रोगवाहक नियन्त्रण की एक लाभदायक विधि है। इसे शल्ककन्द आभूषक फसलों में कीट रोग वाहक द्वारा फैलने वाले विषाणुओं के नियन्त्रण के लिए सफलता पूर्वक प्रयोग किया गया है।

6. विषाणु प्रतिरोधक जीन, जैव प्रौद्योगिकी का उपयोग और प्रतिरोधक किस्मों का प्रजनन

प्रजनन कार्यक्रम का उद्देश्य पौधों में अधिक से अधिक प्रतिरोधकता पैदा करना है प्रायोगिक दृष्टिकोण से संक्रमण और अधिक सचेतकता का प्रबन्ध फसल में रोगों के प्रतिरोध के लिए करते हैं।

अधिक सचेतकता प्राय अकेले जीनद्वारा नियन्त्रित होती है, जबकि प्रतिरोधकता एक या अधिक जीन से नियन्त्रित की जा सकती है। सामान्य रूप से ये सब जीन विषाणु के नस्ल के विरुद्ध प्रभावी हैं।

पौध विषाणुओं के प्रतिरोधक जीन, जो प्राकृतिक रूप से पाये जाते हैं के उपयोग से पादप प्रजनक नयी उन्नतशील किस्मों का विकास करके लाभ उठा सकते हैं। विषाणु रोग के विरुद्ध पादप प्रजनन का सफलता पूर्वक प्रयोग प्रतिरोधक फसल किस्म के विकास पर किया गया प्रोटोप्लास्ट प्रवर्धन भी विषाणु प्रतिरोधक के विकास में सहायता कर सकता है।

7. ट्रान्सजेनिक पौधे का विकास

एक और उपाय है आनुवंशिक अभियांत्रिकी द्वारा विषाणु प्रतिरोधक पौधे का विकास करना भविष्य में इसका उपयोग प्राकृतिक रूप से पायी जाने वाली पौधजीनों को दो भागों में बांट सकते हैं—विषाणु प्रतिरोधक जीन और परपोषी रक्षक जीन। पहले प्रकार के जीन द्वारा संक्रमण को समाप्त करते हैं और दूसरे प्रकार के जीन द्वारा पौधे में रोग के प्रति सुग्राहयता का विकास करते हैं। इस श्रेणी में कुछ पैथोजेनेसिस प्रोटीन्स जीन का उत्पादन हो सकता है।

विषाणु कोट प्रोटीन जीन का उपयोग करके विषाणु प्रतिरोधक पौधा सर्वप्रथम पावेल-एवेल और औ साथियों (1986) द्वारा उत्पन्न किया गया। टोबैको मोजेक विषाणु के नान-स्ट्रक्चरल कोडिंग क्षेत्र से विषाणु प्रतिरोधक पौधे का विकास किया। सैटेलाइट आर० एन० ए० द्वारा भी विषाणु प्रतिरोधक पौधे उत्पन्न किए गए। विषाणु गुणन के नियन्त्रण के लिए राइबोजाइम लाभकारी हो सकता है। यथाक्रम प्लान्ट न्युक्लियर जीन्स इनकोडिंग रेजिस्टेन्स का उपयोग विषाणु रोग नियन्त्रण के लिए साथ ही आनुवंशिक अभियान्त्रिकी की सहायता के लिए हो सकता है। विषाणु प्रतिरोधक किस्मों के बिकास का कार्य आनुवंशिक अभियांत्रिकी तथा पारम्परिक पादप प्रजनन के द्वारा हो रहा है।

8. **संगरोध प्रबन्ध**

वास्तव में विषाणु संगरोध उन क्षेत्रों में प्रवेश को रोकने में उत्तरदायी है जहाँ पर वे विषाणु नहीं पाये जाते हैं। जनन द्रव्य के अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की अवस्था में रोग नियंत्रण हर तकनीकी का उपयोग करके किया जा सकता है। कुछ फसलें एजेन्सियों द्वारा प्रस्तावित व विस्तारित होती हैं, वे एजेन्सियाँ जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ का कृषि तथा खाद्यसंगठन और पादप आनुवंशिक स्रोत के लिए अन्तर्राष्ट्रीय परिषद्। केला, नीबू वर्गीय पौधे, अंगूर की बेल, दलहनी फसलें, शकरकन्दी के लिए प्रकाशित मार्ग दर्शन उपलब्ध हैं। उस स्थिति में जहाँ मार्ग दर्शन नहीं हैं, प्रवेश की आज्ञा के लिए उपलब्ध अधिकतम संभावित आंकडे एकत्र कर लेना चाहिए। इन विट्रोकलचर में विषाणु प्रशिक्षण का उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन के लिए उपयुक्त जननद्रव्य के चुनने में हो रहा है।

निष्कर्ष

पादप विषाणु रोग फसलों के उत्पादन और गुणवत्ता दोनों को प्रभावित कर सकता है। परिणामस्वरूप फसल का उत्पादन कम हो जाता है। विषाणुरोगों के नियन्त्रण के लिए विभिन्न पर्यावरण हितैषी उपायों का प्रयोग हो सकता है जैसे विषाणु मुक्त बीज और विषाणु प्रतिरोधक पौधे, रोगवाहक कीटों, खर-पतवारों का परित्याग और नियन्त्रण है।

नये उपायों में निदान सूचक विधियों में आधुनिकता जैसे-डाट एलिजा, नई एन्टीबॉडीज की तैयारी इम्युनो ब्लॉटिंग और इम्यूनों इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी, कृत्रिम पेप्पटाइड, एन्टी-बाडी रियेजेन्ट और न्यूक्लिक अम्ल संकरण परीक्षण का उत्पादन और प्रयोग है।

संभवत: विषाणु जैव तकनीकी, विषाणु आणविक जीवशास्त्र, सेरोलॉजी और न्यूक्लिक अम्ल संकरण तकनीकी के द्वारा विषाणु निदान और विषाणु प्रतिरोधक पौधों का विकास ही विषाणु रोगों के प्रबन्ध में अन्ततः लाभदायक सिद्ध होगा।

कृतज्ञता-ज्ञापन

लेखक द्वय प्रोफेसर अक्षय कुमार गुप्ता, निदेशक एवं देवाशीष मुखर्जी, पुष्प विज्ञान विभागाध्यक्ष, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् संकुल पालमपुर, के आभारी हैं जिनके सहयोग तथा उत्साहवर्धन के फलस्वरूप यह प्रपत्र तैयार हो सका और आवश्यक सुविधाओं का हम उपभोग कर सके। डॉ० राकेश देव शरण सिंह के अमूल्य सुझावों के लिए और श्री राज कुमार रकवाल जिन्होंने इस प्रपत्र को टंकण करने में विशेष रुचि से सहयोग दिया, इन सबके प्रति हम सब आभार व्यक्त करते हैं।

संदर्भ

1. बीची, आर० एन० पावेल-एवेल, पी० ओलिवर, एम० जे० डी०, वी०, फ्रेले, आर० टी० रोगर्स, एस० जी० तथा हासर्च, आर० बी० (1985) इन बायोटैक्नोलोजी इन प्लांट साइंस (एम० जैटथिन, पी० डे० तथा एह्लेन्डेव इडीएस) पी० पी० 265-275 अकादामिक प्रेस ऑरलैन्डो, फ्लोरिडा।
2. पावेल-एवेल पी०, नेलसन आर० एस०, डी० बी , हाफमैन एन०, रोगर्स एस० जी०, फ्रेले आर० टी० तथा बीची आर० एन० (1986) साइंस 232 : 738-743।

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठकगण !

आपके हाथों में "विज्ञान" का जून 1995 अंक देते हुए मैं विशेष प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। और यह प्रसन्नता मै आपके साथ बाँटना चाहता हूँ।

'विज्ञान परिषद् प्रयाग' के पूर्व सभापति (1977-79) और प्रधान मन्त्री (1972-77), इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग के अवकाशप्राप्त अध्यक्ष और अवकाशप्राप्त प्रोवीसी प्रो०कृष्ण जी को हिन्दी संस्थान (लखनऊ) ने उनके द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से विज्ञान की विशिष्ठ सेवाओं के लिए पच्चीस हजार रूपयों के पुरस्कार से सम्मानित किया है। यह हम सभी के लिए गौरव का विषय है। प्रो० कृष्ण जी को परिषद् परिवार की भावभीनी बधाई।

एक और शुभ समाचार। प्रसिद्ध हिन्दी विज्ञान लेखक और सम्पादक श्री शुकदेव प्रसाद को हिन्दी संस्थान ने ग्यारह हजार रूपयों के पुरस्कार से सम्मानित किया है। श्री शुकदेव प्रसाद "विज्ञान" पत्रिका के सहायक संपादक भी रह चुके हैं। परिषद् परिवार की स्नेहयुक्त बधाई।

इस बीच विज्ञान के क्षेत्र में कुछ उल्लेखनीय अनुसंधान हुए हैं जो आगे चलकर निश्चित रूप से 'मील का पत्थर' सिद्ध होगा। न्यूयार्क से प्राप्त एक ताजे समाचार के अनुसार कैलिफोर्निया पॉलीटेक्निक स्टेट यूनिवर्सिटी, सैन लुई ऑबिस्पो के प्रोफेसर डॉ० राउल जे० कानो ने 'साइंस' (Science) नामक पत्रिका में प्रकाशित एक लेख के हवाले से बताया है कि उन्होंने 100 से अधिक किस्म के जीवाणुओं को, जो लगभग 30 मिलियन वर्ष पुराने थे, पुनर्जीवित करने में सफलता प्राप्त कर ली है। डॉ० कानो ने आगे बताया कि इन जीवाणुओं को उन्होंने उन मक्खियों के पेट से निकाला था जो आज से 25 से 40 मिलियन वर्ष पुराने चट्टानों के बीच अम्बर में जीवाश्म के रूप में सुरीक्षत थीं। पत्थर के ये नमूने ऑलिगोसीन काल के बताये गए हैं और इन्हें मेक्सिको से प्राप्त किया गया था।

जीवाणुओं से ही संबंधित एक और विज्ञान समाचार। आस्ट्रेलिया के सूक्ष्मजीव विज्ञानियों को 5,300 वर्ष पुराने हिम मानव (आइसमैन) के बर्फ में सुरक्षित शव, जिसे तीन वर्ष पूर्व उत्तरी इटली के बर्फीले पहाड़ों से ढूँढा गया था, से प्राचीन जीवाणु और कवक मिले। पूर्व उल्लखित वैज्ञानिक कानो अक्टूबर 1994 से ही हिम मानव के शरीर के टिशू पर शोध कर रहे थे, अंततः हिममानव के फेफड़े से निकाले गए डी एन ए (DNA) जेनेटिक मैटीरिल को फिर से जीवित करने में सफल हो गए। ये डी एन ए जीवाणु और कवक के थे। इन खोजों से डॉ० कानो इस नतीजे पर पहुँचे कि आज से हजारों हजार वर्ष पूर्व भी जीवाणु और कवक मानव शरीर में घातक रोग उत्पन्न करते थे।

और अब दो नई पत्रिकाओं को चर्चा के बिना यह विज्ञान वक्तव्य अधूरा रहेगा। इन पत्रिकाओं में पहली है "राष्ट्रीय पर्यावरण अभियांत्रिकी अनुसंधान संस्थान, नेहरू मार्ग, नागपुर-440020 द्वारा प्रकाशित "पर्यावरण पत्रिका" (वर्ष 4, अप्रैल 1995' अंक-1)। यह अंक 'नीरी' स्थापना दिवस पर्यावरण नीति विशेषांक है। इसमें 6 कवितायें, एक गीत सहित कुल 24 आलेख हैं। यह अंक 'गागर में सागर' जैसा लगा। दूसरी पत्रिका है स्थानीय संस्थान 'क्योर' द्वारा प्रकाशित 'क्योर' प्रवेशांक।

शुभकामनाओं सहित।

आपका
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1995

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।
(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।
(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।
(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।
(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1995 से दिसम्बर 1995 माह के बीच प्रकाशित हो।
(6) लेखक को लेख के साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।
(7) विज्ञान परिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।
(8) वर्ष 1995 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1996 है।
(9) पुरस्कार के लिए पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागियों को इस प्रतियोगिता के लिए उपयुक्त नहीं समझा जायेगा।

लेख निम्न पते पर भेजें—

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जावें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पत्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं।

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु० चौथाई पृष्ठ 50.00
आवरण द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०
प्रति अंक : 3 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

ISSN 0373-1200

जुलाई 1995 अंक
मूल्य : 3 रु० 50 पैसे

कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च
नई दिल्ली के
आर्थिक अनुदान द्वारा प्रकाशित

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913; विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
जुलाई 1995; वर्ष 81 अंक 4

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०, वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 3 रु० 50 पैसे

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक
डॉ० डी० डी० नौटियाल
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
सहायक संपादक
डॉ० दिनेश मणि

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7 ए-बेली एवेन्यू, इलाहाबाद

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

कलौंजी और सौंफ भी पैदा करें

दर्शना नन्द

कलौंजी और सौंफ उपयोगी और बड़े महत्वपूर्ण मसाले हैं। कलौंजी के दाने प्याज के बीज की भांति काले रंग के होते हैं। कलौंजी को मंगरैल भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसे ब्लैक क्यूमिन या स्मॉल फेनेल (Cumin or Small fennel) कहते हैं। यह रेननकुलेसी (Ranunculaceae) कुल का एकवर्षीय शाकीय पौधा है, जिसका वानस्पतिक नाम नाइगेला सैटाइवा (Nigella sativa) है। इसके दाने मठरी, सोहाल, नमकीन पराठे, नमक पारा, सेवड़ा आदि बनाने में उपयोगी होते हैं। कलौंजी या मंगरैल के दाने ऊनी कपड़ों को कीड़ों से सुरक्षित रखने की क्षमता भी रखते हैं।

संस्कृत में मंगरैल को काला जाजी, उपकुंचिक, कलिका, बृहज्जरिक और पृथ्वीका तथा गुजराती में कलौंजी जोर और मराठी में कलौंजी जीरे कहते हैं। बंगला में इसे मुगरैला या मोटा कालजीरो कहते हैं। कलौंजी के बीज केश वृद्धि और केशों का झड़ना बंद करने के लिए भी उपयोगी होते हैं। इसके लिए इन्हें पानी के साथ पीसकर और छान कर बालों में लगाना चाहिए।

सौंफ के दाने जीरे के आकार के परन्तु कुछ बड़े हरे रंग के होते हैं, जिनकी लम्बाई मे उभरी हुई धारियां होती हैं। भोजन के पश्चात् अथवा अन्य शुभ अवसरों पर सौंफ के दाने आदर स्वरूप भेंट किए जाते हैं। ग्रीष्म काल में शीतलता प्रदान करने के लिए सौंफ का ठंडा शर्बत बनाते हैं। पेट का दर्द दूर करने के लिए बनाए जाने वाले विभिन्न प्रकार के चूर्णों में सौंफ का विशेष योगदान रहता है। इसके बीजों में मनमनमोहक सुवास व सुगंध होता है, जो अनेक औषधीय उपयोगों में लाए जाते हैं। इसके बीज से सुगंधित तेल भी निकाला जाता है, जिसे सुगंध वाले पदार्थों में मिलाने तथा औषधियां बनाने में प्रयोग करते हैं। सौंफ को अंग्रेजी में फेनेल (Fennel) कहते हैं। इसका वनस्पतिशास्त्रीय नाम फोनिकुलम वलगेयर (Foeniculum vulgare या फीनिकुलम ऑफिसिनेल (F. officinale) है। यह अम्बेलिफेरी (Umbelliferae) कुल का एकवर्षीय शाकीय पौधा है। इसी कुल में धनिया, जीरा और अजवाइन के पौधे भी आते हैं।

अचार बनाने के लिए विभिन्न मसालों के अतिरिक्त सौंफ और मंगरैल की विशेष भूमिका रहती है। इन्हें सिर्के के साथ बनाए जाने वाले अचारों में भी डालते हैं। सौंफ व मंगरैल के चूर्ण व दाने बैगन, मिर्च व करेला आदि की भरवां सब्जी बनाने में प्रयोग करते हैं।

जलवायु और मिट्टी

सौंफ और मंगरैल दोनों ही जाड़े के मौसम के पौधे हैं। इनके बीज के अंकुरण के समय कुछ गर्म

अवकाश प्राप्त, उपनिदेशक उद्यान, इलाहाबाद मण्डल सी-67, गुरु तेज बहादुर नगर (करेली हाउसिंग स्कीम), इलाहाबाद-211016 (उत्तर प्रदेश)

वातावरण की आवश्यकता होती है। ऐसा ही वातावरण दाने पकने के समय भी होना चाहिए। पौधों की वृद्धि के समय वातावरण ठंडा होना चाहिए। इनकी अच्छी पैदावार लेने के लिए उत्तम जल निकास वाली मटियार, दोमट या बलुई दोमट मिट्टी उपयुक्त रहती है।

बीज की मात्रा

एक हेक्टेयर भूमि में बोने के लिए मंगरैल की 7-8 और सौंफ की 4-5 किग्रा० बीज की आवश्यकता होती है।

भूमि कैसे तैयार करें

पहले भूमि की एक या दो जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से और फिर 2 जुलाई देशी हल से करनी चाहिए। हर जुताई के बाद पाटा अवश्य चलाना चाहिए, जिससे कि मिट्टी महीन हो जाए। अंतिम जुलाई के पूर्व प्रति हेक्टेयर 200 से 256 क्विन्टल गोबर की खाद भी मिला देना चाहिए। मंगरैल के लिए इसके अतिरिक्त प्रति हेक्टेयर भूमि में 15-15 किग्रा० प्रत्येक नाइट्रोजन, फॉस्फोरिक अम्ल और पोटाश तत्व भी उर्वरकों के रूप में पूरी भूमि में फैला देना चाहिए।

बीज बोने के पूर्व तथा भूमि की तैयारी के समय ही यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि भूमि में पर्याप्त नमी है। यदि नमी की कमी हो तो पलेवा कर के जुताई करनी चाहिए।

किस्में

अभी इनकी विशेष किस्में विकसित नहीं हुई हैं। केवल सौंफ की जी० एफ० 1 और वी० सी० 14-33 विकसित हैं। फिर भी बुवाई करने के लिए सौंफ व मंगरैल के स्वस्थ, मोटे और चमकदार बीज का चयन करना चाहिए।

बीजाई

मंगरैल की बीजाई मध्य अक्टूबर से मध्य नवम्बर तक सीधे खेत में करते हैं। पहले बीज को 10-12 घंटे पानी में भिगो लेना चाहिए। फिर छाये में इन्हें फैला कर 2-3 घंटा सुखाना चाहिए। इसके पश्चात् बीज को छनी हुई राख में मिला कर बीजाई करनी चाहिए। बीज को 30 सेमी० की दूरी पर बनाई गई पंक्तियों में 3 सेमी० की गहराई में बोना चाहिए। बीज बोने के बाद सावधानी के साथ पाटा चला देना चाहिए। लगभग 8-10 दिन में बीज जम जाते हैं। फिर हर पंक्ति में से जमें हुए पौधों की इस प्रकार छंटाई कर देनी चाहिए कि पौधे से पौधे के बीच की दूरी 15 सेमी० हो जाए। उचित देख भाल व अन्य कर्षण क्रियाएं करने के दृष्टिकोण से खेत को क्यारियों में बांट लेना चाहिए।

सौंफ के बीज को पौधशाला की खादयुक्त क्यारियों में अंतिम अगस्त अथवा सितम्बर के आरम्भ में 3 सेमी० की गहराई में बोना चाहिए। ये क्यारियों भूमि धरातल से 10-12 सेमी० ऊंची बनानी चाहिए। लगभग 7 या 8 दिन में सौंफ के बीज अंकुरित हो जाते हैं। सौंफ की बीजाई के लगभग डेढ़ महीने पर अक्टूबर के प्रथम या

द्वितीय सप्ताह में 60 सेमी० की दूरी पर बनाई गई पंक्तियों में 45-45 सेमी० के फास्ले पर पौधों की रोपाई कर देनी चाहिए। कभी-कभी इसे सीधे खेत में भी बो देते हैं।

सिंचाई

सौंफ में पौधों के प्रतिरोपण के पश्चात् एक हल्की सिंचाई तुरन्त करनी चाहिए। मंगरैल में पहली सिंचाई पौधों के 10-15 सेमी० ऊंचे हो जाने पर करनी चाहिए। यह सिंचाई भी हल्की ही होनी चाहिए। इसके बाद दोनों ही फसलों में आवश्यकतानुसार 10-15 दिन पर सिंचाई करते रहना चाहिए।

आरम्भिक अवस्था में समय-समय पर निराई-गुड़ाई भी करते रहना चाहिए। ऐसा करने से खर-पतवार नियंत्रण भी होता रहेगा और भूमि में वायुसंचार भी होता रहेगा। इस प्रकार पौधों की बढ़वार सुचारु रूप से होती रहेगी।

उर्वरक भुरकाव

मंगरैल की खड़ी फसल में प्रति हेक्टेयर 15 किग्रा० नाइट्रोजन का भुरकाव दो बार में आधा-आधा करना चाहिए। पहला भुरकाव बीज बोने के एक महीने पर और दूसरा भुरकाव बीज बोने के दो महीने पर करना चाहिए।

सौंफ की खड़ी फसल में फी हेक्टेयर 46 किग्रा० नाइट्रोजन को आधा-आधा दो भाग में बांट कर दो बार भुरकाव करें। पहला भुरकाव अक्टूबर के अंत में तथा दूसरा भुरकाव अंतिम नवम्बर में करना चाहिए।

पौधों पर मिट्टी चढ़ाना

सौंफ के पौधों में चारों ओर शाखें, फूलों और दानों के गुच्छे निकल आने से बाद पौधे काफी भारी हो जाते हैं। इस कारण पौधे गिरने लगते हैं। अतः इन्हें सीधा रखने के लिए तनों के चारों ओर मिट्टी चढ़ा देनी चाहिए। मिट्टी चढ़ाने का काम नाइट्रोजन के दूसरे भुरकाव के तुरंत बाद अंतिम नवम्बर में करना चाहिए।

पुष्पण-फलन

मंगरैल के पौधों में बुवाई के दो या ढाई महीने में दिसम्बर के मध्य तक फूल और फल लग जाते हैं फसल मार्च से महीने में तैयार होती है। पकने पर कलौंजी के फल पीले या बादामी रंग के हो जाते हैं। इन्हीं के भीतर कलौंजी से छोटे-छोटे काले दाने मौजूद रहते हैं।

सौंफ के पौधे दिसम्बर के महीने से गुच्छों में फूल लगते हैं। फूलों के एक मास पर सौंफ के हरे दानों के गुच्छे काटने लायक हो जाते हैं, जो खाने योग्य होते हैं।

फसल की कटाई

कलौंजी की फसल तैयार हो जाने पर पौधों को नीचे से काट कर किसी साफ-सुथरे चिकने और पक्के स्थान पर धूप में फैला देना चाहिए, जिससे कि वे सूख कर टूटने योग्य हो जाएं। फसल की कटाई करने में यह

देख लेना आवश्यक है कि मंगरैल के फल कटाई के पूर्व फटने न पाएं, अन्यथा दानों से खेत में गिरने का अधिक भय बना रहता है। कटाई सुबह के समय करनी चाहिए, क्योंकि रात में ये मुलायम हो जाते हैं, जिससे दाने गिरने नहीं पाते। खलियान में जब ये खूब सूख जाएं तब इन्हें डंडों से पीट कर और फटक कर साफ कर लेते हैं। फिर दानों को बोरियों में भर लेते हैं।

सौंफ के दानों वाले गुच्छे दो प्रकार से काटे जाते हैं। पहला तो वह है जब कि फूलने के एक मास बाद हरे दाने गुच्छों सहित काट लिए जाते हैं। इन्हें छाये में 4-5 दिन तक फैला कर सुखा लेते हैं। सौंफ के ये दाने सूखने पर भी हरे और पतले तथा मुलायम रहते हैं। इनकी धारियां भी मगभग समतल रहती हैं। इसे ऐसे ही खा सकते हैं। इसके खाने से मुँह में कोई रेशा नहीं बच पाता। यही सौंफ आमतौर से लखनऊ की सौंफ के नाम से जानी जाती है। यह सौंफ खुशबूदार, स्वादिष्ट और मिठासयुक्त होती है।

मसाले के रूप में प्रयोग की जाने वाली फसल के लिए यह आवश्यक है कि सौंफ के दाने गुच्छों में ही पक जाएं। यह अवस्था फूलने के दो मास बाद आती है। इस प्रकार सौंफ की फसल फरवरी-मार्च तक पक कर तैयार होती है। पकने पर दानों में कुछ पीलापन आ जाता है। इस फसल के दानों में उभरी हुई धारियां रहती हैं। पक जाने पर मंगफैल की ही भाँति सौंफ के फसल की भी कटाई कर के दाने अलग कर के बोरियों में भर लें।

उपज

प्रति हेक्टेयर कलौंजी (मंगरैल) के 20 क्विन्टल और सौंफ के 15 क्विन्टल दाने निकल आते हैं।

रोग व कीड़े मकोड़े

मंगरैल की फसल में कोई विशेष रोग या कीट नहीं लगते। किन्तु सौंफ की फसल प्रायः माहू के प्रकोप से क्षतिग्रस्त हो जाती है। माहू फूल और दानों के गुच्छों में लग जाते हैं जिससे वे इनका रस चूस लेते हैं और उपज कम हो जाती है। इस प्रकोप से बचाव के लिए प्रति हेक्टेयर मैलाथियान 50 ई० सी० का 2.5 लीटर या डाइजनान 20 ई० सी० का 1.650 लीटर 1000 लीटर पानी में घोल कर 15-15 दिन पर आवश्यकतानुसार 2-3 छिड़काव करना चाहिए। इनके स्थान पर कारबराइल 10% धूप या मैलाथियान 5% धूप का धूलिमार्जन भी किया जा सकता है। एक हेक्टेयर के लिए 25 किग्रा० धूल पर्याप्त रहता है। इसी प्रकार बुकनी रोग (Powdery Mildew) का प्रकोप भी हो जाता है, जिससे गुच्छों पर सफेद चूर्णीय पदार्थ जम जाते हैं। इसके बचाव के लिए प्रति हेक्टेयर 15 किग्रा० गंधक की धूल 15-15 दिन पर भुरकाना चाहिए। धुलनशील गंधक भी समान रूप से इसके लिए उपयोगी होता है। इसका छिड़काव करने के लिए 3 किग्रा० घुलनशील गंधक को 1000 लीटर पानी में मिला कर घोल तैयार करना चाहिए जो एक हेक्टेयर फसल के लिए पर्याप्त रहता है। ऐसा करने से सौंफ की अच्छी फसल प्राप्त होती है।

■ ■

रावतभाटा क्षेत्र में परमाणु ऊर्जा संयंत्र व जन-सुरक्षा

दिलीप भाटिया

रावतभाटा क्षेत्र में परमाणु ऊर्जा विभाग के कई संयंत्र हैं। राजस्थान परमाणु बिजलीघर की पहली व दूसरी इकाई अभी तक 8289 और 15001 मिलियन यूनिट विद्युत्-उत्पादन कर चुकी है। भारतीय परमाणु बिजलीघरों से कुल विद्युत्-उत्पादन का औसतन 25 प्रतिशत उत्पादन का श्रेय राजस्थान परमाणु बिजलीघर के योगदान को जाता है। इकाई तीन व चार का निर्माण कार्य प्रगति पर है व इस शताब्दी के अंत तक इस परियोजना का कार्य पूरा होकर इनसे भी विद्युत-उत्पादन प्रारंभ हो जाएगा। अणुशक्ति (कोटा) का भारी पानी संयंत्र भी भारी पानी उत्पादन नियमित रूप से उच्च क्षमता पर कर रहा है। इस राष्ट्र के लिए यह गौरव की बात है कि हमने परमाणु बिजलीघरों के लिए भारी पानी के उत्पादन में मात्र तकनीकी दक्षता व आत्म निर्भरता ही प्राप्त नहीं की है परन्तु विदेशों को निर्यात करने के लिए भी हम भारी पानी का उत्पादन करने में सक्षम व समर्थ हैं। भारत की वर्तमान कार्यरत परमाणु बिजलीघरों की आवश्यकता के लिए हमारे पास प्रचुर भारी पानी है व रावतभाटा की इकाई तीन व चार व कैगा परियोजना के लिए भी हमारे पास भारी पानी का भंडार है।

सुरक्षा व संरक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। परमाणु ऊर्जा नियामक परिषद् को हम सभी पूर्ण सम्मान देते हुए उनके निर्देशों का कड़ाई से पालन करते हैं। तकनीकी प्रावधान व दिशा निर्देश है। संयंत्र में उपकरणों की सुरक्षा व उच्च कार्य क्षमता परम आवश्यक है। परमाणु बिजलीघर हो या भारी पानी संयंत्र, कर्मचारियों की संरक्षा व सुरक्षा का पूरा ध्यान व खयाल रखना प्रबंधन वर्ग का प्रथम उद्देश्य है। आसपास निवास करने वाली जनता के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव न हो, यह ध्यान रखना भी परम आवश्यक है। रावतभाटा क्षेत्र में पर्यावरण सर्वेक्षण प्रयोगशाला स्थापित है व यह प्रयोगशाला सम्पूर्ण कार्यकुशलता से पर्यावरण जांच व संरक्षण का कार्य कर रही है। भारी पानी संयंत्र से हाइड्रोजनसल्फाइड गैस का विसर्जन वायुमण्डल में निर्धारित सीमा के अंदर हो, इस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इस हानिकारक गैस के दुष्प्रभाव से हम सभी परिचित हैं व आपात-कालीन परिस्थिति में हमें स्वयं को बचाने के लिए क्या उपाय करने हैं यह भी सर्वविदित है।

परमाणु बिजलीघर व भारी पानी संयंत्र का एक मजबूत रिश्ता है। परमाणु बिजलीघर से विद्युत्-उत्पादन होता है, जो घर-परिवार, कल-कारखाने, संयंत्र व व्यावसायक प्रतिष्ठान सभी जगह काम आती है। परन्तु हमारे इन परमाणु बिजलीघरों से विद्युत्-उत्पादन संभव हो ससे, इसके लिए भारी पानी की आवश्यकता होती है। जिसकी पूर्ति हमारे भारी पानी संयंत्र कर रहे हैं। ये दोनों ही संयंत्र पर्यावरण संरक्षण व जन-सुरक्षा का पूरा ध्यान रखें ताकि साधारण जनता इन्हें शत्रु नहीं, मित्र समझे व उनके मन में शंका न आने पाये। सही माध्यम से सरल भाषा में लोक जानकारी का विशिष्ट महत्व है। हमें अपना उत्पादन लक्ष्य अवश्य पूरा करना है।

दिलीप भाटिया, वैज्ञानिक अधिकारी एस एफ, राजस्थान परमाणु बिजलीघर, अणुशक्ति,
टाइप 5/5 अणुकिरण कॉलोनी, रावतभाटा, भाभानगर-323307, कोटा, राजस्थान

अपने संस्थान के उपकरणों को अधिकतम क्षमता तक संचालित करना है। समय-समय पर अनुरक्षण करना है व हर कार्य में गुणवत्ता का पूरा ध्यान रखना है। परन्तु पर्यावरण संरक्षण व जन-सुरक्षा को सर्वोपरि मानना है। प्रत्येक औद्योगिक संस्थान से अपशिष्ट निकलते हैं, परन्तु इनका विसर्जन व निष्कासन इस प्रकार हो कि पर्यावरण न्यूनतम प्रभावित हो।

विकिरण हमारे वायुमंडल में प्राकृतिक रूप से है, यह सत्य है किन्तु परमाणु बिजलीघरों से निकलने वाला विकिरण तो आंशिक वृद्धि मात्र 2 प्रतिशत भर ही करता है, जो अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा सीमाओं की निर्धारित लक्ष्य से बहुत ही कम है। भारी पानी संयंत्र से निकलने वाली हाइड्रोजनसल्फाइड गैस का रिसाव कम से कम मात्रा में हो, इसके लिए हमारे पास आवश्यक प्रावधान व प्रबंध है, उपकरण हैं व इनके अनुरक्षण, रखरखाव के लिए भी निर्धारित कार्यक्रम हैं। इनका पालन करना परम आवश्यक है। जनता का नैतिक समर्थन उनका विश्वास प्राप्त करने पर ही मिलेगा। रावतभाटा की परमाणु नगरी कोटा ही नहीं पूरे राजस्थान में लोकप्रिय है। परन्तु हमें उच्च क्षमता का उत्पादन व संरक्षा दोनों ही सिद्ध व प्रमाणित करके दिखलाना होगा। जन संपर्क प्रभाव को इस ओर विशेष सजग व सचेत रहना चाहिए। क्षेत्रीय समाचार-पत्रों में हमें अपने कार्यकलाप की सही जानकारी देते रहना चाहिए व गलत समाचारों का निष्पक्षता से खण्डन करना चाहिए। भ्रम, संदेह, शंका व गलत प्रचार को समय रहते सावधानी से सही करने का प्रयास करना चाहिए। यह एक महत्वपूर्ण कार्य है, जिस पर हमें अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है।

विद्युत्-उत्पादन में बढ़ोतरी की हमारी गति निरन्तर प्रगति पर है। नरौरा की पहली इकाई को पुनः प्रारंभ कर दिया गया है। काकरापार की दूसरी इकाई को क्रान्तिक कर दिया गया है व शीघ्र ही इससे विद्युत्-उत्पादन प्रारंभ हो जाएगा। रावतभाटा परियोजना की इकाई तीन एवं चार ने गत वर्ष सुरक्षा शील्ड का पुरस्कार प्राप्त कर इस क्षेत्र का गौरव बढ़ाया है। इकाई एक व दो में कर्मचारियों को मिलने वाली विकिरण मात्रा गत तीन वर्षों में अभूतपूर्व रूप से कम करके एन० पी० सी० में एक रिकार्ड कायम किया गया है। अणुशक्ति के भारी पानी संयंत्र में संरक्षा उच्च कोटि की है। हमारी ये उपलब्धियां नगण्य नहीं, महत्वपूर्ण है। हम इस क्षेत्र को अच्छा नाम देने के लिए और भी कई कीर्तिमान स्थापित करेंगे। परन्तु आवश्यकता है निरन्तर व अनवरत रूप से लगन, निष्ठा व सम्पूर्ण कर्तव्य परायणता से उत्पादन बढ़ाने व संरक्षा उपाय अपनाने की। ऐसा ही हो, यही कामना है।

■ ■

आधुनिक कृषि : मितव्ययता जरूरी

डॉ॰ दिनेश मणि

यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि वैज्ञानिकों द्वारा किये जा रहे अनुसंधान तब तक व्यर्थ हैं जब तक वे प्रयोगशालाओं की चारदीवारी तक ही सीमित हैं। इन अनुसंधानों की सार्थकता तो इसी में है कि ये उन तक पहुँचे जिन्हें इनकी जरूरत है।

आज निरन्तर बढ़ती जनसंख्या को भोजन उपलब्ध कराने के लिए अनुसंधानकर्ताओं तथा किसानों, सभी को तालमेल के साथ एक जुट होकर कार्य करने की आवश्यकता है। खाद्य एवं कृषि संगठन द्वारा वर्ष 1980-81 में किये गये विश्व खाद्य सर्वेक्षण के अनुसार लगभग 50 करोड़ लोग ऐसे थे जो अल्पपोषी थे और विकासशील देशों में रहते थे। यद्यपि पिछले दशक में विश्व स्तर पर खाद्य उत्पादन में जनसंख्या की अपेक्षा थोड़ी सी अधिक वृद्धि हुयी है और जिन लोगों के पास खाने को कुछ न था उन्हें भोजन मिला है परन्तु स्थिति अच्छी नहीं कही जा सकती। सभी लोगों के लिये भोजन जुटाने के लिये भूमि तथा जल जैसे बुनियादी संसाधनों का बुद्धिमत्तापूर्ण उपयोग करना है। सन् 2000 की स्थिति को देखते हुये उत्पादन की दर लगभग 40-45 प्रतिशत बढ़ानी होगी।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बढ़ती जनसंख्या का सबसे अधिक दबाव हमारे भूमि और जल संसाधनों पर पड़ रहा है। सभी जानते हैं कि उपजाऊ मिट्टी की मात्रा 1 से॰ मी॰ मोटी ऊपरी परत बनने में प्रकृति को लगभग 300 वर्ष लगते हैं, जबकि हमारे यहाँ हर साल 600 करोड़ टन मिट्टी कटाव के कारण बह जाती है और इसके साथ 84 लाख टन पोषक तत्व भी बह जाते हैं।

हमारी लगभग साढ़े सत्रह करोड़ हेक्टेअर जमीन कई तरह से बरबादी की ओर अग्रसर है (देखें तालिका 1)। हमें भूमि के कुल प्रबन्ध हेतु अविलम्ब उचित कदम उठाने की आवश्यकता है ताकि और अधिक मिट्टी बरबाद होने से बच सके तथा जो मिट्टी समस्याग्रस्त हो गयी है उसे सुधारने के लिए प्रभावी कदम उठाये जा सकें।

हमें अपने दूसरे बुनियादी स्रोत पानी को भी बरबादी से बचाने की आवश्यकता है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस्राइल अपने सीमत जल-संसाधनों के बावजूद जितना पानी फसलों को दे पाता है उसका 80 प्रतिशत उपयोग में लाता है जबकि हमारे देश सिंचाई का 70 प्रतिशत पानी बरबाद हो जाता है अर्थात् केवल 30 प्रतिशत का ही उपयोग हो पाता है। अन्य उत्पादन हेतु पानी इस्तेमाल करने के लिये हमें जल की प्रत्येक बूंद के संरक्षण पर ध्यान देने की आवश्यकता है। सिंचाई के स्रोत से खेत तक ले जाने, अलग-अलग क्यारियों में पहुँचाने या सीधे खेत में सिंचाई करने में जल का उचित प्रबन्ध होना चाहिये। अनेक स्थानों पर सिंचाई क्षमता के विकास के साथ ही मिट्टी लवणीय होने, मिट्टी-कटाव होने और जल-मग्नता की शिकायतें पायी गयी हैं। फलस्वरूप

सहायक सम्पादक, 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-2

काफी नुकसान हुआ है। हमें सिंचाई के साथ-साथ जल-निकास की भी पूरी व्यवस्था करनी होगी अन्यथा भूमि के समस्याग्रस्त हो जाने की आशंका से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

तालिका 1

बंजर भूमि की स्थिति

प्रभावी कारण	क्षेत्र (दस लाख हेक्टेयर)
वायु तथा जल क्षरण	150.00
झूम खेती	3.00
जलाक्रान्त क्षेत्र	6.00
लवणीय मृदा	4.50
क्षारीय मृदा	2.40
दियारा भूमि	2.40
सुधारने योग्य बंजर भूमि	6.60
कुल बंजर भूमि	175.00

उर्वरकों की क्षमता बढ़ाने के लिये यूरिया जैसे नाइट्रोजन उर्वरकों पर नीम की खली का लेप करके नाइट्रोजन के भूमि में रिस जाने की दर कम की जा सकती है। यह देखा गया है कि नीम को खली नाइट्रीकारक जीवाणु की क्रिया में बाधा डालती है, जिसकी वजह से नाइट्रोजनी उर्वरक से नाइट्रेट बनाने की दर कम हो जाती है। अन्य रासायनिक उर्वरकों को कार्बनिक खादों के साथ संतुलित मात्रा में उपयोग करने की आवश्यकता है ताकि पर्यावरणीय प्रदूषण को कम किया जा सके।

कीटनाशियों के प्रयोग में भी हमें यह ध्यान रखता है कि इनकी मात्रा पर्यावरण को प्रदूषित न करने पाये। कीटरोधी किस्में विकसित करके तथा जैविक उपायों द्वारा कीटों के नियन्त्रण से कीटनाशियों का उपयोग कम किया जा सकता हैं। मादा कीटों की उपस्थिति का आभास देकर नर कीटों को धोखे में डालने वाले विशिष्ट गंध वाले फेरोमोन रसायनों का प्रयोग इस दिशा में लाभकारी सिद्ध हो रहा है।

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि भूमि और जल की बचत के साथ ही हमें ऊर्जा की बचत पर ध्यान देकर पर्यावरण मित्र अथवा पर्यावरण को कम से कम क्षति पहुँचाने वाले तरीकों को अपनाकर एक सर्वथा नई कृषि नीति बनानी होगी। पशुपालन की दिशा में हमें दानों की बचत पर ध्यान देना होगा। चारे के लिये शीघ्र बढ़ने वाली पत्तियों वाली वनस्पतियों के विकास पर जोर देना होगा। साथ ही साथ हमें प्रत्येक तरीके को अपनाने के पूर्व यह भी ध्यान में रखना होगा कि इससे हमारे पर्यावरण पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़ने पाये।

अतएव अब समय आ गया है जब कृषि विकास के बारे में पुराने दृष्टिकोण के स्थान पर नयी परिकल्पनाओं को आकार देना होगा। हमें ज्यादा अन्न भी पैदा करना है और साथ ही मिट्टी की उर्वरा शक्ति को नष्ट होने से भी बचाना होगा। हमें ज्यादा पशु भी पालने हैं, किन्तु अनियन्त्रित चराई से चरागाहों को बंजर भी नहीं होने देना है। हमें ज्यादा मछलियां भी प्राप्त करनी हैं और जीवनदायी जलस्रोतों को प्रदूषण से भी बचाना है। तभी अधिक से अधिक लोगों को भोजन उपलब्ध कराने का हैमारा सपना सच होगा।

■ ■

OOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOOO
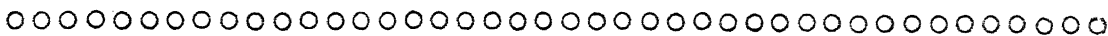
बन पिपेट तुम अगर नहीं आते

Oडॉ॰ दिनेश मणि

साथ उनका जो मिल गया होता,
मैं भी मंजिल को पा गया होता।
बेरूखी का अगर होता अहसास
यूँ भरोसा नहीं किया होता।
बदले तलवार के सुई मिलती,
मारे जख्मों को सी गया होता।
बन पिपेट तुम अगर नहीं आते,
मैं क्षार को भी पी गया होता।
दर्द अवच्छेप गर नहीं बनता,
साँसें कुछ और जी गया होता।

आवर्त सारणी के कलर्ड फोटो-प्रिन्ट्स

योगेन्द्र बहादुर सिंह

अकार्बनिक तत्वों का वर्गीकरण, मेंदलीफ ने किया था और इसी वर्गीकरण के साथ शुरू हुआ था— वर्गीकृत तत्वों का कमबद्ध अध्ययन। अकार्बनिक पदार्थों की रंगीन मिजाजी को हम आवर्त-सारणी के प्रत्येक समूह में जीवन्त देख सकते हैं— और देखकर रंग-भावना की सार्थकता को हम अनुभूतियों के सापेक्ष सारणीबद्ध कर सकते हैं। यदि रंग जीवन में दिलचस्पी पैदा कर सकते हैं तो निश्चित ही 'रंगों का आधार'—आवर्त सारणी के फोटो-प्रिन्ट्स देखने में दिलचस्पी पैदा करेगा। आइये देखें— आवर्त-सारणी के कुछ कलर्ड फोटो-प्रिन्ट्स।

प्रथम समूह के तत्व तथा रंग

प्रथम समूह के तत्व सोडियम (Na) के कुछ यौगिक रंगों की दुनिया से जुड़े हुए हैं। विरंजित कपड़ों से क्लोरीन को अंतिम रूप से पृथक करने के लिए सोडियम थायो-सल्फेट : $Na_2 S_2O_3 5H_2O$ (हाइपो) का उपयोग विरंजक के रूप में होता है। रंजक-व्यावसाय में सोडियम सल्फाइड $Na_2 S$, का बहुत उपयोग होता है। यह हल्के कत्थई रंग का ठोस पदार्थ है। इसी समूह के चमकदार कलर्ड धातु, कॉपर (तांबा : Cu) के कुछ यौगिक भी रंगीन परिप्रेक्ष में द्रष्टव्य हैं। क्यूप्रिक ऑक्साइड (CuO) का रंग काला होता है तथा इसका उपयोग कांच-उद्योग में प्रमुखता से होता है, जहाँ कांच के साथ यह हरा या नीला रंग देता है। क्यूप्रिक सल्फेट : $Cu SO_4 . 5H_2O$, जिसे नीला थोथा भी कहते हैं, का उपयोग विद्युत-रंजन में किया जाता है। चाँदी भी विद्युत-रंजन में प्रयुक्त होता है। चाँदी (सिल्वर-Ag) का एक यौगिक $AgNO_3$ कार्बनिक पदार्थों के साथ काला रंग देता है, यही इसकी पहिचान है। सोना (Au) के पीत चमक की छटा नारी-मन को बरबस ही मोह लेती है, तभी तो कवि "कनक, कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय" लिखने को बाध्य होता है। रंगों से सम्बन्धित, इस समूह के अन्य तत्व हैं :—लीथियम (Li), पोटैशियम (K), सीजियम (Cs), जिनमें लीथियम गर्म करने पर ज्वाला पर लाल रंग देता है—पोटैशियम अधिक गर्म करने पर हरे रंग की वाष्प देता है। पोटैशियम एक सफेद धातु है। सफेद धातु सीजियम भी है जो पानी के साथ लाल-बैंगनी ज्वाला देकर जलता है।

द्वितीय समूह के तत्वों की रंगीनियां

इस समूह के तत्व लगभग सभी सफेद होते हैं। संक्रमण तत्वों में केवल जस्ता (यशद : जिंक : Zn) और कैडमियम (Cd) नीलापन लिये होते हैं। रंगमिजाज यौगिकों वाले तत्व हैं : मैगनीशीयम (Mg), कैल्शीयम (Ca), जस्ता तथा कैडमियम। मैग्नीशियम सल्फेट : $MgSO_4 . 7H_2O$, का उपयोग रंगाई-उद्योग में किया जाता है। ब्लीचिंग पाउडर : $Ca OCl_2$, का उपयोग विरंजन के लिए होता है। जस्ते का ऑक्साइड : ZnO सफेद होता है जो गर्म करने पर पीला तथा पुनः ठण्डा करने पर सफेद हो जाता है। कोबाल्ट के साथ गर्म करने पर यह हरे रंग का कोबाल्ट जिंकेट : $CoZnO_2$, बनाता है जिसका व्यापारिक नाम 'रीमैन्स ग्रीन' है तथा जिसका

प्रवक्ता, गणित, के० एन० आई०, सुल्तानपुर-228118 (उत्तर प्रदेश)

उपयोग वर्णक के रूप में होता है। कैडमियम सल्फाइड (Cd S) पीले रंग का होता है तथा इसका भी उपयोग वर्णक के रूप में होता है।

तृतीय समूह के तत्वों का रंग-ढंग

तृतीय समूह के तत्वों में थैलियम (Tl) नीले-सफेद रंग का, लैन्थेनम (La) सफेद-स्लेटी रंग का, यट्रियम (Y) काले-स्लेटी रंग का, स्कैण्डियम (Sc) ग्रे रंग का होता है। एल्यूमिनियम (Al) के यौगिक-एल्यूमिनियम सल्फेट : $Al_2(SO_4)_3 . 18H_2O$, का उपयोग छपाई में वर्ण-बंधक के रूप में किया जाता है। एल्यूमिनियम से फिटकरी भी बनायी जाती है। फिटकरियों का उपयोग वर्ण-बन्धकों के रूप में भी किया जाता है। एल्यूमिनियम लवण के वलयन में यदि कार्बनिक रंग की उपस्थिति रहे तो इस विलयन से एल्यूमिनियम हाइड्रॉक्साइड : Al(OH)- अवक्षिप्त करते समय यह रंग भी अवक्षेप में मिलता है। अयस्क की शुष्क अवस्था को 'लेक' कहते हैं तथा मुद्रण स्याही के बनाने में यह प्रयुक्त होता है। इस समूह का दूसरा प्रमुख तत्व बोरॉन (B) है। अक्रिस्टलीय बोरॉन बादामी-भूरे रंग का होता है। सोडियम और ऑक्सीजन के साथ मिलकर यह बोरैक्स—$Na_2 B_4O 7 . 10H_2O$, बनाता है। आम भाषा में इसे सुहागा कहते हैं। गर्म करने पर जल निकल जाने के कारण, सुहागा फूल जाती है। इसी फूले हुए भाग की सहायता से हम ताँबा, लोहा, चाँदी, सीसा, क्रोमियम, कोबाल्ट, निकिल तथा मैंगनीज का परीक्षण करते हैं। इसे सुहागा-फुलिका परीक्षण (Borax Bead Test) कहते हैं। इस परीक्षण के लिए प्लैटिनम के तार के सिरे को गोल करके एक छोटा-सा छल्ला बनाया जाता है जिसपर सुहागा को चिपका लिया जाता है। इसको बुंसन ज्वाला पर गर्म करके फुल्लिका बनाते हैं, फिर उसको धातु के परीक्षण लवण से स्पर्श कराते हैं। इस फुल्लिका को ऑक्सीकारक और अवकारक ज्वाला में बारी-बारी से रखकर तथा बाहर निकालकर उसके रंगों के अनुसार धातुओं की उपथिति का पता लगाते हैं। ताँबा, लोहा, सीसा, चाँदी, क्रोमियम, कोबाल्ट, निकिल तथा मैंग्नीज ऑक्सीकारक ज्वाला के गर्म भाग में क्रमशः नीला, भूरा-पीला, रंगहीन, पीला, पीला, नीला, बैंगनी तथा रंगहीन छवि दर्शाते हैं। इसी तरह ये अवकारक ज्वाला के गर्म भाग में क्रमशः रंगहीन, हरा, धूसर, धूसर, हरा, नीला, धूसर, धूसर छवि दर्शाते हैं।

तिरंगा चतुर्थ समूह

रंगों की दुनिया के लिए चतुर्थ समूह के तीन तत्वों दृष्टव्य हैं—सीसा (Pb), टिन (Sn), तथा सिलिकन (Si), जिनमें सीसा (लेड) नील-धूसर रंग वाला धातु है। लेड ऑक्साइड (PbO), जिसे लिथार्ज भी कहते हैं को 40o0°C तक गर्म करने पर लाल रंग वाला Pb_3O_4 प्राप्त होता है जिसे 'लाल सीसा' कहते हैं। टिन की एक किस्म-सफेद टिन है। स्टैनिक ऑक्साइड (SnO_2) टिन का एक सफेद यौगिक है। इस पाउडर का उपयोग सफेद काँच बनाने में किया जाता है। स्टैनिक सल्फाइड ($Sn S_2$) को कृत्रिम स्वर्ण या 'मोजेक गोल्ड' भी कहते हैं। इसका उपयोग मुख्यतः पच्चीकारी में होता है। एक अन्य यौगिक (लवण)—सोडियम स्टैनेट ($Na_2 SnO_3$) सफेद रंग के रूप में होता है। इसका उपयोग मुख्यतः कपड़ों की छपाई में बंधक के रूप में होता है। सिलिकन का क्रिस्टलीय रूप पारदर्शी तथा हल्का नारंगी होता है।

पंचम समूह की चौरंगी

पाँचवें समूह का तत्व फॉस्फोरस (P) बड़ा ही रंगीला है। इसकी कई छवियाँ हैं : सफेद, लाल, काला,

सिंपूरी तथा बैंगनी। सफेद फॉस्फोरस का उपयोग चूहों को मारने वाली दवा में तथा विस्फोटक पदार्थ बनाने में किया जाता है। इसका उपयोग लाल-फास्फोरस बनाने में भी होता है। लाल फास्फोरस का उपयोग मुख्यत: दियासलाई-उद्योग में होता है। डिबिया पर—जिसपर तीली रगड़ी जाती है—इस लाल फास्फोरस को एन्टीमनी सल्फाइड तथा पीसे हुए काँच के साथ लगाया जाता है। फास्फोरस की ही तरह आर्सेनिम (As) तथा एन्टीमनी (Sb) भी बड़े रंगीले तत्व हैं। आर्सेनिम के तीन रूप-रंग होते हैं—भूरा, पीला तथा काला आर्सेनिम। एन्टीमनी के दो रूप-रंग होते हैं—पीला तथा काला एन्टीमनी। पंचम समूह के तत्वों की विभिन्न छवियाँ 'चौरंगी' आस्यता सँजोते हैं। ये चार तत्व हैं—फास्फोरस आर्सेनिम, एन्टीमनी तथा वैनेडियम (V), वैनेडियम को हवा में जलाने पर पाँच ऑक्साइड बनाते हैं जिन्हें हम रंगों के आधार पर ही पहिचानते हैं। ये ऑक्साइड हैं—V_2O (भूरा), V_2O_2 (धूसर), V_2O_3 (काला), V_2O_4 (नीला) तथा V_2O_5 (नारंगी-लाल)।

षष्टम समूह के तीन रंग

छठें समूह के तत्व : सल्फर (गंधक-S) का एक यौगिक : सल्फ्यूरिक अम्ल (H_2SO_3) विरंजक होता है। गंधक के प्रमुख ऑक्सी अम्ल : सल्फ्यूरिक अम्ल (H_2SO_4) का उपयोग रंग-उद्योग में खूब होता है। सल्फर डाइ ऑक्साइड गैस (SO_2 भी बड़ी मजेदार चीज है। यदि पोटैशियम थायोसल्फेट को SO_2 के साथ गरम करेंगे तो विलयन पीला हो जायेगा। मजे की बात तो यह है कि अधिक SO_2 प्रवाहित कर देने से पीला रंग विलीन हो जाता है। इसी समूह के धातु—क्रोमियम का नाम ही रंग की हस्ती से सम्बन्धित है। ग्रीक भाषा में क्रोमा (Chroma) का अर्थ 'रंग' से है और चूँकि इसके बहुत से लवण रंगीन होते हैं, इस लिए इसका नाम क्रोमियम (Cr) रखा गया जबकि स्वयं यह चाँदी की तरह सफेद धातु है। क्रोमिक नाइट्रेट : $Cr(NO_3)_3 \cdot 9H_2O$ का रंग बैंगनी होता है। इसे गर्म करने पर यह हरा तथा फिर ठण्डा करने पर पुन: बैंगनी हो जाता है। क्रोमियम के क्लोराइड के मुख्यत: तीन हाइड्राइड हैं। तीनों अलग-2 रंगों के होते हैं :—

$[Cr(H_2O)_6]Cl_3$—भूरा-हरा, $[CrCl(H_2O)_5]Cl_2.H_2O$—हल्का हरा, $[CrCl(H_2G)_4]Cl \cdot 2H_2O$—गाढ़ा हरा। रंगों में यह विभिन्नता उनके संगठन की विभिन्नता के आधार पर है। क्रोम्-फिटकिरी—K_2SO_4 $Cr_2(SO_4)_3 \cdot 24H_2O$—का रंग गहरा बैंगनी होता है। रंगों में इसका उपयोग रंग-बंधक के रूप में होता है। सोडियम क्रोमेट (Na_2CrO_4) पीला होता है तथा पोटैशियम डाइक्रोमेट (K_2Cr_2O7) लाल होता है। डाइक्रोमेट का उपयोग रंगाई में होता है। विश्व-मंच पर चर्चित तत्व यूरेनियम (U) शुद्धतम् अवस्था में सफेद तथा हल्के नीले रंग का होता है। नाइट्राइड की अशुद्धि के कारण इसका रंग कुछ पीला पड़ जाता है। वायु में खुला रखने पर इसका रंग भूरा हो जाता है।

रंगीला सप्तम् समूह

हैलोजन रंगीन होते हैं। फ्लोरीन (F)—पीला, क्लोरीन (Cl)—हरित-पीला, ब्रोमीन (Br)—जंग के रंग का तथा आयोडीन (I)—बैंगनी रंग का होता है। इनके ये रंग अणु के वर्ण-शोषण के फलस्वरूप प्रतीत होते हैं। ब्लीचिंग पाउडर ($CaOCl_2$) का उपयोग विरंजक के रूप में खूब होता है। हाइपोब्रोमस अम्ल (HBrO) का भी उपयोग विरंजक के रूप में होता है। स्टार्च के ताजे विलयन में आयोडीन गाढ़े नीले रंग का 'अज्ञात' पदार्थ बनाता है। इसी समूह का एक तत्व मैंगनीज भी है। इसका रंग धूसर-सफेद होता है। मैग्नसक्लोराइड

$(MnCl_2 \cdot 4HO)$ जो कि स्वयं गुलाबी रंग का पदार्थ है, मुख्य रूप से रुई को भूरा रंगने में प्रमुख होता है। पोटैशियम पर मैंगनेट $(KMnO_4)$ के क्रिस्टल काले तथा लाल रंग के होते हैं। जो परावर्तित प्रकाश में हरे रंग के दिखाई देते हैं। इसे 'लाल दवा' के नाम से भी जाना जाता हैं। यह कीटाणुनाशक होता है।

अष्टम् समूह के चार रंग

लोहा (आयरन : Fe) अष्टम् समूह का एक प्रमुख धातु है। आयरन के तीन प्रकार हैं—पिग आयरन, रॉट आयरन तथा स्टील। पिग ऑयरन की तीन किस्मों में दों रंगों पर आधारित हैं △ सफेद तथा भूरा पिग आयरन। कठोर स्टील की ततह पर वायु में निरन्तर गर्म करने पर पॉलिश किया जाये तो यह पहले हल्की पीली तत्पश्चात् सुनहरी पीली, बैंगनी चिह्नों सहित कत्थई, बैंगनी तथा नीली हो जाती है। इन सब रंगों के कारण बिभिन्न तापों का भास होता है तथा ठण्डा करने के ताप का पता चलता है। यह रंग सतह पर बनी पतली ऑक्साइड की तहों के कारण होता है। 'विभिन्न रंगों के तापों पर स्टील' बिभिन्न सामग्रियों के निर्माण में प्रयुक्त होता है। पोटैशियम फेरिक फेरोसाइनाइड, नाइट्रिक अम्ल (HNO_3) तथा हाइड्रोजन परॉक्साइड (H_2O_2) से अभिक्रिया करके 'विलियमसन-बैंगनी' में परिणत हो जाता है। इस समूह का धातु कोवाल्ट (Co) होता तो है सफैद लेकिन इसके यौगिक रंगीले होते हैं। कोबाल्ट-क्लोराइड का तनु विलयन गुलाबी होता है तथा सान्द्र विलयन बैंगनी रंग का होता है। इसके सफेद क्रिस्टल को 30°C तक गर्म करने पर गुलाबी रंग की तथा (50°C) तक गर्म करने पर नीले रंग की छवि देखने को मिलती है। कोवाल्ट-ऑक्साइड को सोडियम कार्बोनेट तथा बालू के साथ गलाने पर गहरे नीले रंग का कॉचीय पदार्थ प्राप्त होता है। पीसकर इसे नीले वर्णक के रूप में प्रयोग करते हैं। कोबाल्ट सिलिकेट $(CoSiO_3)$ के कारण ही काँच तथा पोर्सिलेन में नीला रंग होता है। यह नीला वर्णक संभवतः कोबाल्ट एल्यूमिनेट होता है। यह तुरन्त बनाये गये एल्यूमिनियम हाइड्राक्साइड $[Al(OH)_3]$ के साथ कोबाल्ट फॉस्फेट को मिलाने से प्राप्त होता है। इसे "थेनार्डब्ल्यू" कहते हैं। कोवाल्ट जिंकेट को "रिनमानग्रीन" कहते हैं। इसी समूह का प्लैटिनम धातु सफेद होता है। नवजात हाइड्रोजन द्वारा यह काले पाउडर में परिणित हो जाता है, जिसे 'काला प्लैटिनम' कहते हैं। अष्टम् समूह के निकिल (Ni) धातु का उपयोग 'विद्युत-रंजन' में खूब होता है।

■ ■

जीन-अवधारणा का उद्‌भव एवं विकास

डॉ० राजीव रंजन उपाध्याय

पिछले 150 वर्षों के अन्तराल में जीन संबंधी अवधारणा में अनेक परिवर्तन हुये हैं। यदि हम इस अवधारणा की चर्चा आगस्टियन मांक (पादरी) ग्रिगारे मेण्डल के मटर की पौधों के प्रयोग से, उससे प्राप्त परिणामों से प्रारम्भ करें, तो यह अवलोकन कर आश्चर्य होता है कि कितनी शीघ्रता से, जीन के विचार ने आधुनिक विज्ञान की विभिन्न शाखाओं को प्रभावित किया है।

मेण्डल ने मटर के पौधों के विशिष्ट गुणों को ध्यान में रखकर जो प्रजनन कराया, उसके फलस्वरूप उत्पन्न पौधों में उन पैतृक गुणों का अनुपात 1 : 1, 3 : 1 अथवा 3 : 2 : 2 : 1 था। आज हम सभी इस तथ्य से परिचित हैं। इसी की, उन्होंने अपये प्रसिद्ध शोधपत्र, "इक्सपेरिमेन्ट ऑन प्लान्ट हाइब्रिड्स", जो 1865 में प्रकाशित हुआ था, में चर्चा की थी तथा इन अज्ञात गुणों को उन्होंने "एलीमेन्ट" नाम से संबोधित किया था। इन्ही "एलीमेन्ट्स" के प्रभाव के कारण यह गुण वंशानुगत हो जाते हैं। इस तथ्य को मेण्डल ने दर्शाया भी था, परन्तु यह "एलीमेन्ट" क्या हैं, उन्हें उसी भाँति स्पष्ट नहीं था, जिस प्रकार 1869 में रसायनज्ञ लोथर मेयर तथा दिमित्री मेण्डलीव को "पीरियाडिक-टेबुल" को बनाने के बाद भी "परमाणु" की आधुनिक संरचना के विषय में स्पष्ट ज्ञान नहीं था। यह दोनों गुण अदृष्ट से थे। विशेष कर मेण्डल के "एलीमेन्ट" आने वाले 80 वर्षों तक अस्पष्ट और अप्रचलित से थे। परन्तु इस विचारधारा में 1909 में डेनमार्क के वनस्पतिशास्त्री विल्हेल्म जोहानसेन ने मूलभूत संशोधन किया। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "एलीमेन्ट्स ऑव ऐन इकजैक्ट थ्योरी ऑव हिरेडिटी" में वनस्पतिशास्त्री जोहानसेन ने इन पैतृक गुणों अथवा "ऐनालागेन" को "जीन" शब्द से संबोधित किया था तथा उन्होंने यह भी लिखा था कि "जीन" रसायनिक पदार्थ है, यह स्पष्ट रूप से वह पाना कठिन है। इस प्रकार जोहानसेन ने सर्वप्रथम "जीन" शब्द का प्रयोग ही नहीं किया वरन् उन्होंने इसके 'नेचर' अथवा स्वभाव को भी समझने का प्रयास किया।

"जीन" के स्वभाव एवं संरचना को स्पष्ट रूप से समझने की प्रगति अपेक्षा से धीमी रही। परन्तु इस दिशा में वैज्ञानिकों का ध्यान 1926 में, अमेरिका के जेनेटिक्स प्रतिपादक एवं जनक थॉमस हन्ट मारगेन ने पुनः आकर्षित किया। अपनी पुस्तक "थ्योरी ऑव जीन" के अन्तिम अध्याय में उन्होंने लिखा है—"मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जीन की समानता एक विशाल कार्बनिक रसायन के अणु के समान है।"

उसी समय कार्ल जी० जिमर, मैक्स डेलबुक तथा निकोलेई टिमोफइफ-रेसोवेस्की ने अपने 1935 के प्रसिद्ध शोधपत्र में जो थ्योरी ऑव म्यूटेशन से संबंधित था, में घोषणा की, "जीन एक भौतिक-रसायनिक संरचना है, जिसमें अणु एक विशिष्ट क्रम में लगे रहते हैं।" इसी शोधपत्र के प्रकाशन के कुछ वर्षों बाद एडविन श्रोडिंगर ने "ह्वाट

उपाध्याय कैंसर शोध संस्थान, परिसर कोठी काके बाबू, देवकाली मार्ग, फैजाबाद-224 001 (उ० प्र०)

इज लाइफ" नामक पुस्तक में स्पष्ट किया कि "यह सर्वमान्य हो चुका है कि जीन एक प्रकार की आणुविक संरचना है, सभी को ज्ञात है।"

लेकिन जीन की संरचना कैसी है यह किस प्रकार की है तथा इसकी विशेषता क्या है, यह सभी तथ्य उस समय सभी जीवविज्ञानियों के लिए एक समस्या थी. जिसका समुचित स्पष्टीकरण उन वैज्ञानिकों के पास नहीं था।

1871 में फ्रेडरिक मेशेर ने बॉजेल (स्वीटजरलैण्ड) में मानव के पस-सेलों से 'न्यूक्लीन' नामक एक पदार्थ की खोज की थी और यह कुछ विज्ञानवेत्ताओं का विचार था कि यह पदार्थ वंशानुगत-गुणोंयुक्त है। इस "न्यूक्लीन" में मात्र 4 न्यूक्लीइक एसिड समूह थे और इसीलिए जब वैज्ञानिक मैक्स डे बुक ने इसे 'स्टुपिड मालीक्यूल' कहा तो अधिकांश भ्रम में पड़े वैज्ञानिकों को यह स्पष्ट हो गया कि मात्र 4 न्यूक्लिइक एसिड समूह मानव के वंशानुगत गुणों को प्रदर्शित नहीं कर सकते। यद्यपि यह तथ्य जीवाणुओं (बैक्टीरिया) और अन्य सूक्ष्मजीवों के लिए संभव हो सकता है।

ओसवाल्ड ऐब्री, कोलिन मैकलियोड तथा मैकलिन मैकार्थी ने 1944 में जब न्यूमोकॉकल बैक्टीरिया की आक्रामक प्रजाति से प्राप्त अतिशुद्धीकरण न्यूक्लीइक एसिडों को अपेक्षाकृत सौम्य न्यूमोकॉकल बैक्टीरिया में प्रत्यारोपित किया, तो यह सौम्य प्रजाति-आक्रामक न्यूमोनिया उत्पन्न करने में सक्षम हो गयी। इसी गुण को उन्होंने डी० एन० ए० में निहित "ट्रांसफार्रमिग प्रिंसिपिल" का नाम दिया। यह शब्द आज भी इस शोध की महत्ता को दर्शाता, रॉकफेलर यूनीवर्सिटी के एक द्वार पर अंकित है।

डी० एन० ए० के इस गुण ने वैज्ञानिकों को चकित कर दिया। अब तो यह भी ज्ञात हो गया था कि यह डी० एन० ए० प्रोटीन की संरचना का संदेशवाहक ही नहीं है, वरन् पैतृकगुणों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्थानान्तरित भी करने की क्षमता रखता है।

प्रसिद्ध जैव-रसायनज्ञ इरविन शैरगाफ ने कुछ कालोपरान्त यह भी दर्शाया कि डी० एन० ए० के 'बेसपेयर' ए० एवं टी० तथा जी० एवं सी० सदैव समान मात्रा में रहते हैं और यही इन युग्मकों (पेयर्स) की विशेषता है। लेकिन इन युग्मकों की तथा डी० एन० ए० की संरचना कैसी है, यह प्रश्न अनुत्तरित रहा। यहाँ ए० एडिनोसीन, टी० थायमीन, जी० गुआनीन और सी० साइटोसीन है।

दूसरों के कार्यों से, विज्ञान जगत् में श्रेय लेने की प्रवृत्ति से तो सभी वैज्ञानिक परिचित हैं, परन्तु सामान्य जन यह नहीं जानते कि किस वस्तु या शोध के वास्तविक अविष्कारक कौन से वैज्ञानिकगण थे। उदाहरणार्थ आज इवान फ्लैमिंग को सभी "पेनिसिलीन" का जनक मानते हैं, परन्तु इसके शोधकर्ता और आविष्कारक प्रो० चेन और फ्लोरी के नामों से अधिकांश लोग परिचित नहीं हैं।

इसी प्रकार की घटना डी० एन० ए० के स्वरूप निर्धारण से संबद्ध है। डी० एन० ए० के स्वरूप के विषय में इरविन शरगाफ के अवलोकनों ने, तथा किंग्स कॉलेज, लण्डन के वैज्ञानिकों ने, जिनमें मॉरिस विल्किंस तथा रोजरिलण्ड फ्रैंकलिन के 'रे-क्रिस्टलोग्राफी' के परिणामों ने, डी० एन० ए० डबुल-हेलिक्स को स्पष्ट दर्शाया तथा इस डबुल-हेलिक्स के स्वरूप के विषय में सैद्धान्तिक रूप से सर्वप्रथम घोषणा करने वाले 'नोबेल पुरस्कार' विजेता प्रो०

लीनेस पालिंग से योगदान से लोग कम परिचित हैं। इसका कारण यह है कि इसके स्पष्टीकरण और संरचना का श्रेय वाटसन और क्रिक को दिया गया।

इस विषय में हावर्ड विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध प्राणि वैज्ञानिक प्रो० अरनेस्ट मायर के शब्द ध्यान देने योग्य हैं—Watson and Cricks double helix fitted all the facts so perfectly that it was accepted by every one almost at once, including the two most actively competing laboratories; those of Pauling and Wilkins (वाटसन और क्रिक के डी० एन० ए० की डबुल-हेलिक्स की अवधारणा उन सारे आवश्यक तथ्यों को जो इसके कार्य को स्पष्ट करने में सहायक थे, इतने सुन्दर रूप से समाहित करती थी कि उनके प्रतियोगी वैज्ञानिकों पॉलिग और विलकिंस ने भी इसे तत्काल स्वीकार कर लिया)।

प्रो० अरनेस्ट मायर इन सभी शोधों और तथ्यों के प्रत्यक्षदर्शी थे। प्रो० वाटसन के इन शब्दों ने कि—जीन अब कुतूहल तथा आश्चर्य की वस्तु नहीं है—यह एक रासायनिक संरचना है तथा इस बड़े प्रोटीन के अणु के विषय में अब रसायनज्ञों को गम्भीरता से, उसी प्रकार विचार करने की आवश्यकता है, जिस प्रकार से लघु रसायनिक अणुओं के विषय में सोचते हैं, जीन को 1950 ई० के आसपास पैतृकता एवं गुणसूत्रों—क्रोमोसोम्स—से जोड़ दिया।

इन नवीन तथ्वों के प्रकट होते ही विज्ञान की एक नवीन विधा "मालीक्यूलर-वायलोजी" का उदय हुआ। इस में तैतृकता, जीन आदि के क्षेत्र में गवेषणाओं का विकास हुआ तथा डी० एन० ए० के स्वरूप निर्धारण के पाँच वर्षों बाद ही एंजाइमों की खोज हुयी जिनके कारण पैतृक गुणयुक्त प्रोटीन की संरचनायें प्रवर्धन करती थीं। इसी के साथ डी० एन० ए० के 4 शब्दों से निहित कोड को 20 शब्दों के कोड में "ट्रांसलेट" करने के एनजाइमों—अमीनो एसिडों की क्षमता का पता भी चला तथा प्रोटीन का निर्माण किस प्रकार से शरीर में होता है, इस तथ्य का पता चला एवं स्पष्टीकरण हुआ। प्रोटीनों की विविध "सीक्वेंस" को पढ़ने की तकनीक का आविष्कार हुआ तथा कुछ समयोपरान्त "रिकॉम्बीनेन्ट डी० एन० ए० विधि" का भी विकास हुआ। इस प्रकार आज जीन-क्रोमोसोम मात्र वैज्ञानिक शोध के परिणाम नहीं हैं, वरन् इस ज्ञान का उपयोग, विज्ञान के विकास और रोगों के निदान में भी, प्रारम्भ हो गया है।

मानव के शरीर में विद्यमान 6×10^{13} कोशिकाओं में से प्रत्येक कोशिका का यद्यपि कार्य क्षेत्र अलग-अलग हैं, परन्तु इनमें निहित जीन और उनके 'जिनोम' एक हैं। कार्य की दृष्टि से करीब 250 या इसके आस-पास कोशिकायें अलग हैं। रक्त की कोशिकाओं का कार्य, गुर्दे अथवा मेदे की कोशिकाओं से अलग है तथा दूध निर्माण में लगी कोशिकायें, नाखून की कोशिकाओं से सर्वथा भिन्न है। अब एक सहज प्रश्न उठता है कि इन कोशिकाओं में निहित जीन किस प्रकार अपने कार्य को अभिव्यक्त करती है तथा उस समय शरीर में अनेक जीनें अपने को किस प्रकार से, विघ्न न उत्पन्न करते हुये "शान्त" रहती हैं अथवा अपने को सुसुप्तावस्था में रखती हैं। प्रश्न यह है कि इस अतीव जटिल विधि का नियंत्रण किस भाँति होता है ?

नवीन जैव-रसायनिक तकनीकों का उपयोग कर अब यह क्रिया कि जीन अपने कार्य को किस प्रकार संपादित करती हैं, स्पष्ट हो चुका है। प्रत्येक जीन में कार्य-क्षेत्र के अनुसार अनेक विन्दु होते हैं, जहाँ से विविध जैव-रसायनिक गतिविधियों का संचालन होता है। उदाहरण हेतु—प्रत्येक डी० एन० ए० के ऊपर वाले क्षेत्र में एक

"प्रोमोटर क्षेत्र" होता है जहाँ पर विशिष्ट प्रकार के प्रोटीन अणु आकर जैव-रसायनिक गतिविधि को प्रारम्भ करने हेतु, बंध जाते हैं, तभी प्रोटीन अथवा जो इस क्षेत्र का निर्धारित कार्य है—वह प्रारम्भ होता है।

इसी प्रकार डी० एन० ए० के ऊपरी भाग में कार्य नियंत्रण का क्षेत्र, संदेश देने का क्षेत्र तथा कार्य बन्द अथवा प्रोटीन संरचना को बन्द करने का क्षेत्र निश्चित होता है। इनके माध्यम से जीन एक दूसरे से "संपर्क" करती हैं, कार्य संपादित करती है तथा अनेकानेक शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी करती हैं। यह विधि मात्र मानव "जिनोम" में ही नहीं वरन् जीवाणुओं (बैक्टीरिया) में भी इसी भांति समस्त गतिविधियाँ संचालित, नियंत्रित तथा संपादित होती हैं।

जीन में स्पष्ट रूप से दो संरचनाएँ होती हैं। एक भाग प्रोटीनों को निर्मित एवं नियंत्रित करने में तथा दूसरा भाग अथवा क्षेत्र इस प्रक्रिया को "ऑन" और "ऑफ" या संचालित करता है। मानव जीन एक जटिल संरचना है, जिसमें विविध प्रोटीन, मेटाबोलिज्म, जैव-रसायनिक गतिविधियाँ एक निश्चित क्रम में संचालित एवं नियंत्रित होती हैं।

बैक्टीरिया जो मानव संरचना की तुलना में अत्यधिक सामान्य और जटिलता से परे हैं, में भी जीन 'रेगुलेशन' होता है। इस विधा को "ऑपरेशन" कहते हैं तथा यह बैक्टीरिया द्वारा उसी प्रकार उपयोग में लाया जाता है—जैसा कि मानव में। दूसरे शब्दों में यदि हम कहें तो ऑपरेशन का विकास सर्वप्रथम बैक्टीरिया में हुआ जो कालान्तर में होमोसैपियन सैपियन अर्थात् मानवों तक चला आया, तो यह तथ्य अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा।

एक दृष्टान्त इस तथ्य को स्पष्ट करने में सहायक होगा। सेक्स-हारमोन्स, अथवा प्रोजेस्टीरोन, टेस्टेस्ट्रोन के नियंत्रण हेतु इन्हें उत्पन्न करने वाली कोशिकाओं में "रिसेप्टर्स", जो स्वतः प्रोटीन निर्मित होते है, इसको नियंत्रित करते हैं। जब यह रिसेप्टर्स क्रियाशील नहीं होते तो इन हारमोन्स का स्राव रक्त में नहीं होता और इसके विपरीत स्थिति में हारमोन्स स्रावित करने वाली कोशिकाओं की भीतरी सतह पर स्थित यह "रिसेप्टर्स" क्रियाशील हो जाते हैं। इसी प्रकार जब यह "रिसेप्टर्स" प्रोटीनों की संरचना करना चाहते हैं तो यह सेल के "न्यूक्लीयस" से एक विशेष क्रम में संबद्ध होकर इस क्रिया का श्रीगणेश करते हैं।

भ्रूण के विकासक्रम में भी इसी प्रकार की जैव-रसायनिक प्रक्रिया आरम्भ होती है और प्रोटीनों की संरचना के फलस्वरूप अंगों का विकास प्रारम्भ होता है। परन्तु जीन पर निहित अनेक अमीनोएसिड-सीक्वेंसों जैसे "एक्सान्स", "इन्ट्रान्स" आदि के विषय में तथा "जंक डी० एन० ए०" के कार्यों के विषय में अभी स्पष्ट रूप से कोई ज्ञान नहीं है। जब कि तथ्य तो यह है कि एक जीन का 80% भाग इन्हीं से युक्त होता है। विज्ञानवेत्ताओं का विचार है कि यह जंक-डी० एन० ए० आदि गुण सूत्रों अथवा क्रोकोसोमों को स्थिरता प्रदान करने हेतु है।

"इन्ट्रान्स" के कार्यों के विषय में जो नवीन सूचनाएँ प्राप्त हुयीं हैं, उनके अनुसार इनको डी० एन० ए० से अलग करने में "स्पीलीसियोसोम" का मुख्य कार्य रहता है। यह स्पीलीसोमस m-आर० एन० ए० को चाहे वह जितनी ही विशाल क्यों न हो, को निर्दिष्ट स्थान पर ही अलग-अलग खण्डों में विभक्त कर देती है तथा वान्छित गतिविधियों को शरीर की कोशिकाओं में प्रारम्भ करने में समक्ष है। इस ज्ञान का चिकित्सा जगत में विविध

उपयोग भविष्य में होगा। इसका सर्वोत्तम उदाहरण हमें एक भीषण-जेनेटिक रोग हटिंगटनकोरिया में मिलता है। इस व्याधि की कारक जीन-हटिंगटन जीन —का पूर्ण अध्ययन हो चुका है और इसका उपचार अब सम्भाव्य है।

अब तो वैज्ञानिकों को यह भी ज्ञात है कि 'बेकर ईस्ट' में निहित जीन, मूष अथवा मानव जीन में कोई अन्तर नहीं है। आज से 800×10^6 वर्षों पूर्व प्रकृति ने आवश्यकतानुसार विकास की गति को सतत रखने हेतु इन प्राणधारी पैतृक गुण युक्त जीनों का विकास किया था, जो आज हम मानवों में अनेक जीवधारियों की भाँति विद्यमान हैं। जीन समूहों के अध्ययन से अब वैज्ञानिकगण इस परिणाम पर पहुँच रहे हैं कि मानव के स्वभाव और व्यवहार निर्धारण में यदि वातावरण जनित परिस्थितियों का योगदान है, तो पैतृकता भी एक प्रमुख कार्य संपादित करती है। पैतृकता की सततता में जीनों का योगदान है।

आज अनेक व्याधियाँ जो पारिवारिक-विरासत से जुड़ी हैं, जैसे सिस्टिक फाइब्रोसिस, सिकिल-सेल-एनीमिया, कुछ प्रकार के कैंसर, डिस्लेक्सिया तथा बालकों की अन्तर्मुखी प्रवृति, का निर्धारण करने और विकसित करने में इन रोगों से संबंधित जीनों का महत्वपूर्ण योगदान है। स्त्रियों की विविध मानसिक अस्वस्थाएँ, तथा व्यसन जैसे शराब-मदिरा आदि के पीने की प्रवृति में भी इन जीनों का योगदान कुछ कम नहीं है। जीन के कारण ही मानव मेधा एवं स्पष्टवाणी का विकास हुआ तथा कालान्तर में यह मानव की मेधा के विकास का परिणाम था कि उसने पुरा काल में यह जिज्ञासा की थी।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत
सदाधार पृथिवी धमुतेनां कस्मै देवाय हविषा विधेम।

और आज से हजारों वर्षो पूर्व उठाये गये इस प्रश्न का उत्तर आज के प्रज्ञावान वैज्ञानिकों ने जीन के माध्यम से दिया है, जो कि क्रमिक विकास के फलस्वरूप अनेक प्राणधारियों और फफूंदी आदि में समान क्रम से विकसित हुयी। इस विकास को प्रारम्भ करने से लेकर गतिमान करने में इस धरा की प्रकृति का योगदान था। यह प्रकृति ही है जो इस धरा की नियंता है परिणामतः इस विशाल ब्रह्माण्ड में अनुमानतः जीवों का विकास मात्र इसी धरा की प्रकृति के कारण हुआ, जिसका क्रम आज भी अनवरत गति से चल रहा है। अतः हम सभी इस प्रकृति के वरदान के फल हैं और यही उत्तर है उस प्रश्न का जिसे ऋषियों ने उपर्युक्त मंत्र में उठाया था, जिसे हम जीनों के अध्ययन के फलस्वरूप पूर्णतः स्पष्ट करने के प्रयास में लगे हैं।

■ ■

85 वीं पुण्यतिथि 27 मई 1995 पर

सूक्ष्मजीवों के शिकारी : रॉबर्ट कोच

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षक की खोज करने वाले वैज्ञानिक आइजक न्यूटन और उनके नाम से जुड़ी सेब की कहानी तो सभी ने सुनी होगी। एक बार आइजक न्यूटन ने कहा था कि मैं आगे की बात तभी सोच सका और जान सका क्योंकि मै अपने से पूर्व के वैज्ञानिकों के कंधों पर चढ़ गया। किन्तु आज जिस वैज्ञानिक की चर्चा करेंगे वह आइजक न्यूटन नहीं वरन् रॉबर्ट कोच हैं। रॉबर्ट कोच ऐसे ही वैज्ञानिक थे, जिनके कंधों का सहारा लेकर अनेक वैज्ञानिकों ने सूक्ष्मजीव विज्ञान और चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में अनेक उपलब्धियां प्राप्त कीं, सूक्ष्मजीवों द्वारा उत्पन्न होने वाले अनेक रोगों पर विजय प्राप्त की और मानवता के कल्याण कार्यों को सम्पादित करके अमर हो गए।

रॉबर्ट कोच सूक्ष्मजीवों, रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं, के शिकारी के रूप में आज भी याद किए जाते हैं। जिन्होंने पाल ड क्रूइफ की पुस्तक "माइक्रोब हन्टर्स" पढ़ी है, उन्हें तीन बातें भली भाँति स्मरण होंगी। पहली यह कि राबर्ट कोच ने सिद्ध किया कि सूक्ष्मजीव हमारे शत्रु हैं, दूसरी रॉबर्ट कोच ने सूक्ष्मजीवों के शिकार को एक विज्ञान का रूप प्रदान किया, और तीसरी यह कि चिकित्सा विज्ञान की आधुनिक चकाचौंध से भरी खोजों के कारण हम कोच को भूल से रहे हैं। किन्तु कोच का जीवन हमें इस बात की प्रेरणा देता है कि वैज्ञानिक उपकरणों के अभाव और गरीबी में भी कठिनाइयों से जूझते हुए विज्ञान की दुनिया में क्रांतिकारी खोज संभव है।

रॉबर्ट कोच का जन्म क्लाउस्थाल, जर्मनी में 1843 में हुआ था। उनका निधन 27 मई 1910 को बाडेन-बाडेन, जर्मनी में हुआ। उन्होंने 1876 में 'एन्थ्रेक्स जीवाणु' को ढूंढ़ निकाला और 1882 में 'क्षय रोग' के जीवाणु' की खोज की।

रॉबर्ट कोच एक छोटे से कस्बे में डॉक्टर थे। उनका काफी समय रोगियों की प्रतीक्षा में बीत जाता था उनकी आय भी निश्चित नहीं थी। बैठे-बैठे बोरियत भी महसूस करते थे। यह वह समय था जब कोच निराशा के दौर से गुजर रहे थे। और तो और, वे पाश्चर अथवा लिस्टर की भाँति इतने भाग्यशाली भी नहीं थे, जिन्हें अपनी पत्नियों का भरपूर सहयोग प्राप्त था। कोच की पत्नी उनके कार्यों में कोई रुचि नहीं रखती थीं। ऐसी दशा में कोच की जगह यदि कोई और होता तो संभवत: आजीवन गुमनामी के अंधेरे में ही पड़ा रहता। किन्तु यहीं एक ऐसी घटना घटित हुई जिसने कोच का जीवन ही बदल डाला। और घटना के मूल में थीं उनके कामों में रुचि न रखने वाली उनकी पत्नी।

सम्पादक, "विज्ञान", विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

हुआ यूँ कि कोच के जन्म दिन पर उनकी पत्नी ने एक सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोप) उन्हें उपहार स्वरूप दिया। और इसी सूक्ष्मदर्शी ने कोच का जीवन बदल डाला। सूक्ष्मदर्शी मिलने के बाद कोच ने अपने ऑफिस के एक कोने में एक छोटी प्रयोगशाला तैयार कर ली। इसी बीच उनका ध्यान पशुओं के 'एन्थ्रेक्स' रोग की तरफ आकृष्ट हुआ। उनके क्षेत्र में पालतू पशु और भेड़ें अत्यधिक संख्या में मर रही थीं। एन्थ्रेक्स रोग से ग्रस्त जानवरों के शरीर से निकाले गए काले पड़ गए रक्त की स्लाइड का परीक्षण कोच ने सूक्ष्मदर्शी की सहायता से किया। उन्हें रक्त में पतली-पतली छड़ (रॉड) जैसी संरचनायें दिखीं। बाद में जब स्वस्थ जानवरों के रक्त का कोच ने परीक्षण किया तो ये रॉड जैसी संरचनायें नहीं दिखीं। यहीं कोच के मन में एक प्रश्न उठा कि ये रॉड जैसी संरचनायें रोग उत्पन्न करती हैं अथवा रोग का परिणाम हैं? बस कोच जुट गए इसी प्रश्न का उत्तर ढूंढने में। उन्होंने निरजर्मीकृत लकड़ी का एक पतला 'स्लिवर' लिया। उसकी सहायता से एन्थ्रेक्स रोगी पशु के शरीर से रक्त निकाला और इस रक्त को एक चूहे के शरीर में, उसकी पूँछ के अग्रभाग के माध्यम से, पहुँचा दिया। कोच ने जैसा सोचा था, वैसा ही हुआ। चूहे की एन्थ्रेक्स रोग से मृत्यु हो गई। उन्होंने मृत चूहे की तिल्ली (स्प्लीन) की सूक्ष्मदर्शी से विधिवत जाँच की। उन्हें रॉड जैसी घातक संरचनायें दिखीं। फिर क्या था, एन्थ्रेक्स रोग के हस्ताक्षर स्पष्ट दिख रहे थे। कोच ने अपना यही प्रयोग दर्जनों बार किया। हर बार उन्हें यही परिणाम मिले, किन्तु अभी यह सिद्ध करना शेष था कि ये नन्हीं छड़ जैसी संरचनाओं में जीवन है। किसी भी प्रकार के वैज्ञानिक परीक्षण की कोच को कोई सुविधा नहीं थी, फिर भी असंभव से दिखने वाले कार्य को उन्होंने संभव कर दिया।

कोच ने (OX) की आँख से द्रव निकाला और उसमें मृत चूहे की स्प्लीन (तल्ली) रख दी। फिर एक कवरस्लिप पर एक बूंद इस द्रव का रख कर उसे ऐसे एक स्लाइड पर उलट कर रख दिया जिसके बीच में एक गड्ढा था। बस दो घण्टे के बाद ही स्लाइड में रखी बूंद में छोटे महीन छड़ों जैसी संरचनाओं का नृत्य प्रारंभ हो गया। फिर तो कोच की आँखों के सामने संभावनाओं का एक नया द्वार खुल गया। यह प्रयोग कोच ने आठ पीढ़ियों तक बार-बार किया और हर बार एन्थ्रेक्स रोग उत्पन्न करने में उन्हें सफलता मिली। अब न तो कोच को अपनी डॉक्टरी की प्रैक्टिस की चिंता थी और न ही पत्नी के उलाहनों की। सब कुछ भूल कर कोच भेड़, खरगोश और सुअरों के शरीर से दिन-रात सूक्ष्मजीवों के शिकार में लीन हो गए। अंततः उन्होंने यह भी ज्ञात कर लिया कि एक किस्म का सूक्ष्मजीव, एक ही रोग उत्पन्न करता है।

कोच के अनुसंधान का महत्व पाश्चर के लिए अत्यधिक था, क्योंकि कोच की खोजों के आधार पर ही उन्होंने फ्रांस में कृषकों को यह सुझाव दिया कि एन्थ्रेक्स रोग से बचाव के लिए वे अपने पशुओं को किस प्रकार टीके लगवाकर सुरक्षित रखें। पाश्चर ने यह भी सिद्ध कर दिया था कि किस प्रकार केंचुए रोगी पशुओं के मृत शरीर से सूक्ष्मजीवों को बाहर धरती की सतह तक ले आते हैं और रोग की पुनरावृत्ति होती रहती है। कोच ने इसके लिए यह सुझाव प्रस्तुत किया कि किसान रोगी जानवरों को मृत्यु के बाद या तो जला दें अथवा काफी गहरे जमीन में दफना दें।

इस समय तक छोटे से कस्बे के इस डॉक्टर कोच का काफी नाम हो चुका था। कोच अपने प्रयोग को दिखाने के लिए ब्रेस्लो विश्वविद्यालय गए। फिर उन्हें बर्लिन बुलाया गया और उन्हें एक्स्ट्राऑर्डिनरी एसोसिएट ऑव द इम्पीरियल हेल्थ ऑफिस का पद दिया गया। यहाँ उन्हें एक अच्छी प्रयोगशाला और दो सहायक भी मिले। यह देख कर कोच की पत्नी ने भी निश्चित रूप से प्रसन्नता और संतोष का अनुभव किया होगा। क्योंकि यह उनके द्वारा उपहार स्वरूप दिए गए सूक्ष्मदर्शी का ही तो परिणाम था।

बर्लिन में कोच को 'क्षयरोग' के जीवाणु को खोजने में भी सफलता मिली। कोच ने क्षयरोग से ग्रस्त एक मनुष्य के शरीर से जीवाणुओं को निकालकर एक खरगोश की आँख में प्रविष्ट किया। फिर तो सैकड़ों कुत्तों, बिल्लियों, मुर्गियों और कबूतरों में यह प्रयोग बार-बार किया किन्तु बार-बार असफलता ही हाथ लगी। अंततः 2 सौ 71वें प्रयोग में उन्हें सफलता प्राप्त हुई और स्लाइड में उन्हें क्षय रोग के जीवाणु दिखे। उन्होंने यह भी बताया कि जिस प्रकार पशुओं में एन्थ्रैक्स रोग फैलता है, लगभग वैसे ही मनुष्यों में क्षय रोग।

अब तो कोच इतने प्रसिद्ध हो गए थे कि सूक्ष्मजीवों द्वारा उत्पन्न रोग जहाँ भी अधिक होते वहाँ कोच बुलाये जाते थे। 1883 में कोच को इजिप्ट बुलाया गया जहाँ 'कालरा' फैला था। 1897 में कोच को बम्बई (भारत) बुलाया गया जहाँ 'बुबोनिक प्लेग' और 'मलेरिया' महामारी का रूप ले चुका था। उन्हें पूर्वी अफ्रीका में भी बुलाया गया जहाँ 'स्लीपिंग सिकनेस' रोग फैला हुआ था। फिर तो जहाँ-जहाँ कोई महामारी फैलती या कोई रोग विकराल रूप धारण कर लेता, वहाँ जर्मनी के इस प्रसिद्ध चिकित्सक को इलाज के लिए आमंत्रित किया जाता था। कोच सभी जगह जाते भी थे।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि आजीवन वे सूक्ष्मजीवों के सम्पर्क में रहे, पर उन्हें कभी कोई क्षूक्ष्मजीव अपनी चपेट में न ले सका। उनकी मृत्यु 27 मई 1910 को हृदयाघात से हुई। आज रॉबर्ट कोच नहीं हैं पर उनका वह कार्य है, जिसको सीढ़ी बनाकर अनेक वैज्ञानिकों ने आसमान की ऊँचाइयां छू लीं। 1905 में रॉबर्ट कोच को क्षयरोग पर उनके द्वारा किए, गए कार्यों के लिए 'नोबेल पुरस्कार' देकर सम्मानित किया गया। आज जब सारे संसार में प्रतिवर्ष 5 मिलियन से अधिक लोग क्षयरोग से पीड़ित होते हैं और 3 मिलियन की मृत्यु भी हो जाती है तो, रॉबर्ट कोच का स्मरण क्षय रोग से लड़ने के लिए निश्चिय रूप से प्रेरणा देगा। इस क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिए वे सदैव प्रेरणा स्रोत बने रहेंगे। ■ ■

(27 मई 1995 को विज्ञान परिषद् में दिए गए व्याख्यान से)

विश्व स्वास्थ्य दिवस मनाया गया

विश्व स्वास्थ्य दिवस के अवसर पर 7 अप्रैल को विज्ञान परिषद् में "इक्कीसवीं शती में घातक रोगों की चुनौतियाँ" विषय पर श्री दर्शनानन्द जी की अध्यक्षता में एक विचार गोष्ठी सम्पन्न हुई। प्रारंभ में विचार गोष्ठी के आयोजक और संचालक प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने विषय प्रवर्तन करते हुए एड्स, कैंसर, हृदयरोग, मधुमेह, चेचक, हैजा, मलेरिया, प्लेग जैसे अनेक रोगों का उल्लेख करते हुए बताया कि यद्यपि इस वर्ष का विश्व स्वास्थ्य संगठन का नारा "सन् 2000 तक पोलियो उन्मूलन" है, किन्तु विषय को व्यापक बनाने के लिए ही यह विषय विचार-विमर्श के लिए चुना गया है। वक्ताओं में डॉ० शिवगोपाल मिश्र, डॉ० ईश्वर चन्द्र शुक्ल, डॉ० मुरारी मोहन वर्मा, डॉ० दिनेश मणि, डॉ० सुनील दत्त तिवारी, सर्वश्री सुनील कुमार पाण्डेय, देवी दयाल पाण्डेय, दिलीप कुमार सिंह, संजय कुमार तिवारी आदि प्रमुख थे। सभी अंत में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सरकारी और गैरसरकारी प्रयासों के अतिरिक्त व्यक्तिगत स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। माता-पिता को यह समझना चाहिए कि किसी भी उन्नत राष्ट्र की पहचान है उसके स्वस्थ बच्चे। अतएव व्यक्तिगत सफाई, खान-पान में समझदारी और रोग के लक्षण प्रारंभ होते ही इलाज करवाना आवश्यक है क्योंकि घातक रोगों पर भी प्रारंभ में इलाज से विजय पायी जा सकती है। आवश्यकता है साफ सफाई पर ध्यान देने और जनजागरण की क्योंकि बढ़ते प्रदूषण के कारण इक्कीसवीं शती में रोगों की चुनौतियाँ आज की तुलना में कहीं अधिक होंगी। अंत में प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की।

पर्यावरण चेतना समय की पुकार है

कु० किरन द्विवेदी

'पर्यावरण' अर्थात् हम आप जिस वातावरण में रहते हैं, जिस परिवेश में रहते हैं। जिस माटी में लोट-पोट कर बड़े होते हैं। जहाँ रहकर हम बढ़ते-पनपते हैं, जहाँ की हवाओं में श्वास लेकर जीते हैं, और जहाँ का अन्न-पानी हमारे शरीर में खून बनकर हमारे जीवन को स्पन्दन-शक्ति देता है, वही नैसर्गिक व्यवस्था ही हमारा पर्यावरण है।

पर्यावरण प्रकृति की अधिष्ठात्री का बाह्य कलेवर है। हमारे आस-पास, हमारे जीवन के उपकारक, प्रकृति के विभिन्न उपादान-हवा-पानी, बाग-बगीचे, खेत-खलिहान, पर्वत-झरने, सागर-मरुस्थल, ताल-तलैया, नदी-नाले, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, धरती इत्यादि विभिन्न रूपों में विद्यमान हैं—इन्हीं सब का समवेत स्वरूप पर्यावरण है।

वस्तुतः 'पर्यावरण' शब्द आंग्लभाषा के एनवायरन्मेंट का हिन्दी पर्याय है। व्याकरण की दृष्टि से यह दो शब्दों से मिलकर बना है—'परि' और 'आवरण'। 'परि' उपसर्ग है और 'आवरण' संज्ञा। परि का अर्थ है—'चारों ओर' और 'आवरण' का अर्थ है—'आच्छादन'। इस प्रकार पर्यावरण से हमारा आशय है—हमारे चारों ओर का वह घेरा, वह आच्छादन, जिसके बीच हम रह रहे हैं, जी रहे हैं।

निरन्तर कटते वन, लुप्त होती वनस्पतियां और जीव-जन्तु, जनसंख्या-विस्फोट, औद्योगिकीकरण अन्यान्य आपदाएं और सभ्यता की अन्धी दौड़ के कारण हमारा पर्यावरण प्रदूषित और असंतुलित होता है। आज सारा विश्व पर्यावरण की समस्या से चिन्तित है, आक्रान्त है। इन सारी विसंगतियों के मूल में मात्र मानव-मस्तिष्क है।

यह निर्विवाद सत्य है कि मनुष्य तथाकथित रूप से ज्यों-ज्यों सभ्य होता जा रहा है, त्यों-त्यों वह प्रकृति से दूर होता जा रहा है। यह वस्तुतः मनुष्य के जीवन की भौतिकवादी दृष्टि का विस्तार है। विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों के श्रेय से मानव जाति ने अपने परिवेश को चमकदार बनाने के लिये प्राकृतिक संसाधनों का जहाँ भरपूर दोहन किया है वहीं हवा, पानी और मिट्टी को दूषित भी किया। इस प्रकार प्रकृति से छेड़छाड़ करके उसने संतुलन को बिगाड़ा है। किन्तु ममतामयी प्रकृति ने तो स्वयं को हमारे लिए सदैव समर्पित भाव से देखा है।

"पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
नादन्ति सस्यं खलु वारिवाहाः, परोपकाराय सतां विभूतयः।।"

5ई/3 स्टाफ क्वार्टर्स, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, लिडिल रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद-211002

[अर्थात् नदियां स्वयं अपना जल नहीं पीतीं, वृक्ष अपने फलों को स्वयं नहीं खाते, और बादल भी स्वयं अपना पानी नहीं पीते, वस्तुतः सज्जनों का वैभव परोपकार के लिये होता है।]

यह सत्य है कि प्रकृति सदैव हमें कुछ न कुछ स्वेच्छा से देती आ रही है, किन्तु अब हम अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए उसके साथ बल-प्रयोग करने लगे हैं। क्या हमने कभी सोचा है—'हम अपनी ओर से प्रकृति को क्या देते हैं ?' उत्तर स्पष्ट है—प्रदूषण। सिर्फ प्रदूषण॥

इस प्रदूषण के चलते, इसमें होती हुई निरन्तर वृद्धि को देखते हुए आज मनुष्य पुनः उस बिन्दु पर आ खड़ा हुआ है, जहाँ से उसे पीछे की ओर मुड़कर देखना है, क्योंकि आज स्वयं अपने ही हाथों से विकृत किये गये प्रकृति के रूप के कारण मानव का अस्तित्व ही संकट में पड़ गया है। अतः आज मनुष्य को अपने अस्तित्व की पुनः रक्षा हेतु प्रकृति की गोद में जाना है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह प्रदूषण होता कैसे है ? सहज-सा उत्तर है कि प्रदूषण हवा में लकड़ी और कोयले को जलाने से कार्बन डाइऑक्साइड, कार्बन मोनो-ऑक्साइड, सल्फर डाइऑक्साइड जैसी विषैली गैसों के हवा में मिलने से, कल-कारखानों के कचरे, मल-जल, खेतों में प्रयुक्त विषैले कीटनाशक रासायनों के जलस्रोतों में मिलने से जल प्रदूषण, मोटर-गाड़ी, रेल, वायुयान और कारखानों में मशीनों की गड़गड़ाहट आदि का शोर ध्वनि प्रदूषणः और इनके अतिरिक्त अनेक विषैली धातुयें, विषैले रसायनों के मिट्टी में मिलने से मृदा प्रदूषण होता है।

जहाँ जल और वायु हमारे लिए प्राणदायक हैं वहीं प्रदूषित होने के बाद वे हमारे विनाश के कारण भी हैं। हमारी संस्कृति में नदियों के जल को पवित्र मानकर उनकी पूजा की जाती रही है, किन्तु नदियों में बड़ी मात्रा में शवों को प्रवाहित करना, फूलों को नदियों में प्रवाहित करने में पुण्य समझना न केवल आस्तिकता की दृष्टि से अंधविश्वास है अपितु जल को दूषित करने की दृष्टि से अनाचार भी है।

शहरी सभ्यता भी प्रदूषण बढ़ाती है। छोटे कुटीर-धन्धों और घरेलू व्यवसायों में प्रदूषण का प्रश्न इतना उग्र नहीं है जितना कि बड़े कल-कारखानों का। अतः इन बढ़ते हुये प्रदूषणों को दूर करने के साधन तो सोचने ही चाहिए। पर इससे भी अधिक आवश्यक है कि जिन विधियों के उपयोग से प्रदूषण उत्पन्न होते हैं उन्हें ही मूलतः समाप्त किया जाय। इसलिए अब हमें सभ्यता और संस्कृति के विकास को नया रूप देने की दृटि से योजनायें बनानी होंगी। हमने स्वयं प्रदूषण नामक महादानव 'भस्मासुर' को जन्म दिया है और अब यह दानव हमें ही भस्म करने की बाट जोह रहा है।

इसलिये बढ़ते हुये पर्यावरण प्रदूषण के प्रति उपेक्षा न बरतकर उसके निराकरण के प्रयत्न में जुट जाना है। वैज्ञानिक इस पुनीत कार्य में संलग्न हैं।

प्रसन्नता की बात है कि वैज्ञानिकों और प्रबुद्धजनों ने व्याख्यानों, संगोष्ठियों, लेखों आदि के माध्यम से जनमानस में पर्यावरण चेतना का कार्य प्रारम्भ कर दिया है। 22 अप्रैल सन् 1970 को संयुक्त राज्य अमेरिका

में 'पृथ्वी दिवस' मनाकर पर्यावरण की समस्याओं और प्रदूषण के विश्वव्यापी संकट की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। 1972 में स्टॉकहोम में संयुक्त राष्ट्र संघ ने विश्व पर्यावरण सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें प्रतिवर्ष 5 जून को 'विश्व पर्यावरण दिवस' मनाने का संकल्प किया गया। इसके बाद से तो प्रतिवर्ष 5 जून को 'विश्व पर्यावरण दिवस' का आयोजन नियमित रूप से समस्त विश्व में होता है।

हाँ, पर्यावरण प्रदूषण सम्बन्धी समस्याओं का निदान मात्र सम्मेलन, संगोष्ठियाँ और व्याख्यान आयोजित करने से नहीं होगा। इसके लिये तो जनमानस में चेतना जागृत करनी होगी। तभी इस संकट से बचा जा सकता है।

आइये, आज 'विश्व पर्यावरण दिवस' के अवसर पर यह व्रत लें कि पर्यावरण शोधन के 'यज्ञ' में हम यथाशक्ति अपनी-अपनी 'समिधा' अर्पित करेंगे।

(आकाशवाणी इलाहाबाद से साभार)

■ ■

तस्मानिया द्वीप में 10 हजार साल से भी अधिक पुराना पेड़ मिला

आस्ट्रेलिया के तस्मानिया द्वीप में 10 हजार साल से भी ज्यादा पुराना एक पेड़ होने की जानकारी मिली है। चीड़ के इस पेड़ को दुनिया के सबसे पुराने वनस्पतियों में से एक कहा जा सकता है। 'सिडनी मार्निंग हेराल्ड' अखबार की 28 जनवरी 1995 को प्रकाशित रिपोर्ट में अमेरिका के कोलम्बिया विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक एड कूक के हवाले से कहा गया है कि एक ऐसी वनस्पति को देख रहे हैं जो 10 हजार वर्षों से अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। श्री कूक वृक्षों की आयु निर्धारित करने के विशेषज्ञ हैं।

श्री कूक ने कहा कि यह वृक्ष मानवता के समूचे संग्रहीत अभिलेखों तथा नगरों और कृषि विकास का साक्षी है। उन्होंने कहा कि इस पेड़ के परीक्षण से शताब्दियों से वायुमंडल के तापमान में परिवर्तन की महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हो सकती है।

जंगल विभाग के अधिकारी एलन पेटरसन ने 1985 में इस पेड़ का पता लगाया। यह पेड़ 1157 मीटर ऊँची रीड पहाड़ी पर है। इस प्रजाति का पेड़ मूलतः तस्मानिया द्वीप में ही पाया जाता है। रीड की पहाड़ियों पर सालाना चार मीटर वर्षा होती है।

काफी बड़े दायरे में फैला यह वृक्ष टहनियों और जड़ों के मलवे जैसा दिखता है और गहरी कायी से ढका है। इसका आकार इतना विशाल है कि अधिकारी पेटरसन ने सोचा कि यह छोटे-छोटे वृक्षों का कोई जंगल है, लेकिन डी० एन० ए० जांच से पता चला कि यह तो एक ही वृक्ष है।

अखबार की रिपोर्ट के अनुसार इस वृक्ष के कुछ पराग रीड झील के कीचड़-पानी में मिले जो जाँच के बाद 10500 साल पुराने बताये गए।

परिषद् का पृष्ठ

(1) विचार गोष्ठी सम्पन्न

विज्ञान परिषद् के पुस्तकालय कक्ष में अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त भारतीय पादप भ्रूणविज्ञानी प्रोफेसर **पंचानन महेश्वरी** की 29वीं पुण्यतिथि पर 'प्रो० महेश्वरी और भारतीय विज्ञान को उनकी देन' विषय पर एक विचार गोष्ठी सम्पन्न हुयी जिसमें श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव, डॉ० विजय कृष्ण, डॉ० मुरारी मोहन वर्मा, डॉ० दिनेश मणि, डॉ० सुनील दत्त तिवारी, श्री सुनील कुमार पाण्डेय तथा श्री दिलीप कुमार सिंह ने भाग लिया और भारतीय विज्ञान में प्रो० महेश्वरी के योगदान पर प्रकाश डालते हुये श्रद्धांजली अर्पित की।

विज्ञान पत्रिका के सम्पादक श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने विस्तृत रूप से प्रो० महेश्वरी की शैक्षिक ईमानदारी की चर्चा की। 9 नवम्बर 1904 को जयपुर में जन्में प्रो० महेश्वरी की प्रारम्भिक शिक्षा जयपुर तथा बाद की शिक्षा इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हुयी। उन्होंने डॉ० विनफील्ड डजेन के निर्देशन में डी० फिल की उपाधि प्राप्त की और इलाहाबाद विश्वविद्यालय, आगरा कॉलेज, आगरा, ढाका विश्वविद्यालय तथा बाद में दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्यापन तथा शोध कार्य किया। श्री प्रेमचन्द्र ने अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए प्रो० महेश्वरी के पादप भ्रूण विज्ञान के क्षेत्र में किये गये योगदान के अतिरिक्त अनावृतबीजी, पादप वर्गीकरण, वनस्पति विज्ञान का इतिहास, आर्थिक वानस्पतिकी इत्यादि क्षेत्रों में भी किये गये महत्वपूर्ण योगदान का उल्लेख किया।

अन्त में विज्ञान परिषद् के संयुक्त मंत्री तथा विज्ञान पत्रिका के सहायक सम्पादक डॉ० दिनेश मणि ने सभी वक्ताओं एवं श्रोताओं के प्रति आभार व्यक्त किया तथा धन्यवाद दिया।

(दैनिक जागरण, 20-5-95 से साभार)

(2) प्रो० लीनियस के निधन को स्वीडन के राजा ने राष्ट्रीय विपत्ति की संज्ञा दी थी

'विज्ञान परिषद् प्रयाग' के पुस्तकालय कक्ष में द्विनाम पद्धति के जनक कैरोलस लीनियस (1707-1778) के 288वें जन्म दिन पर (23 मई 1985) उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर एक विचार गोष्ठी सम्पन्न हुई, जिसकी अध्यक्षता प्रो० शिवगोपाल मिश्र ने की। इस अवसर पर मुख्य वक्ता 'विज्ञान' पत्रिका के सम्पादक श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव थे। उनके अतिरिक्त अन्य वक्ताओं में डॉ० दिनेश मणि, डॉ० सुनील दत्त तिवारी, सर्वश्री सुनील कुमार पाण्डेय, प्रेमनाथ पाण्डेय, संजीव त्रिपाठी, हरिओम सिंह आदि थे।

प्रो० लीनियस के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए श्री प्रेमचन्द्र ने कहा कि प्रो० लीनियस को बागीचों (पौधों) से बेहद लगाव था। वे स्वीडन के राजा के निजी चिकित्सक भी थे, किन्तु जिस शोध के लिये लीनियस का नाम आज भी सम्मान के साथ लिया जाता है वह चिकित्सा के क्षेत्र में नहीं, वरन् वनस्पति विज्ञान के क्षेत्र में है और वह है उनके द्वारा प्रतिपादित पौधों के "नामकरण की द्विनाम पद्धति" और दूसरा पौधों के वर्गीकरण का 'सेक्सुअल सिस्टम'।

प्रो० लीनियस की अमर कृतियों में 'जेनेरा प्लैन्टेरम', 'सिस्टेमा नैचुरैली' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। स्मरण रहे कि ये पुस्तकें लैटिन भाषा में लिखी गयी हैं क्योंकि उस समय लैटिन पढ़े-लिखे लोगों की भाषा समझी जाती थी।

उन्होंने कहा कि प्रो० लीनियस के निधन को (10 जनवरी 1788) स्वीडन के तत्कालीन राजा ने 'राष्ट्रीय विपत्ति' की संज्ञा दी थी। उनकी मृत्यु के बाद छोड़ी गई वस्तुओं में से 19000 हर्बेरियम शीट्स, 3200 कीट-पतंगों के नमूने, 1500 शेल्स, 7890 कोरल्स, 2,500 किस्म के पत्थर और खनिजों के नमूने तथा 2,500 पुस्तकें थीं। लण्डन के चौबीस वर्षीय एक धनी युवक जेम्स एडवर्ड स्मिथ ने 1000 गिनीज में लीनियस का सारा संग्रह खरीद लिया। आगे चलकर स्मिथ ने 'लीनियन सोसाइटी' की स्थापना की जो आज सारे संसार में विख्यात है।

गोष्ठी के अंत में विज्ञान परिषद् के संयुक्त मन्त्री तथा 'विज्ञान' पत्रिका के सहायक सम्पादक डॉ० दिनेश मणि ने अध्यक्ष, मुख्य वक्ता तथा अन्य सभी वक्ताओं तथा श्रोताओं के प्रति आभार व्यक्त किया।

(दैनिक जागरण, 24-5-95 से साभार)

(3) रॉबर्ट कोच को श्रद्धांजलि अर्पित की गयी

सूक्ष्मजीवों के शिकारी के रूप में विख्यात 'नोबेल पुरस्कार' से विभूषित जर्मनी के प्रसिद्ध चिकित्सक रॉबर्ट कोच की 85वीं पुण्यतिथि (27 मई, 1995) पर विज्ञान परिषद् में आयोजित एक विचार गोष्ठी में श्रद्धांजलि अर्पित की गयी। गोष्ठी के मुख्य वक्ता श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने बताया कि 1863 में जर्मनी में जन्में रॉबर्ट कोच एक कस्बे में चिकित्सक थे। उनकी प्रैक्टस अच्छी नहीं थी पर जन्मदिन पर उनकी पत्नी ने एक सूक्ष्मदर्शी (माइक्रोस्कोप) उपहार स्वरूप दिया। फिर तो इस माइक्रोस्कोप की सहायता से कोच ने विज्ञानिक उपकरणों और अनुसंधान की सुविधाओं के अभाव में भी बड़े-बड़े काम कर दिखलाये। उन्होंने पशुओं के 'एन्थ्रैक्स रोग' के जीवाणुओं और मनुष्यों में क्षय रोग' के जीवाणुओं की खोज की। क्षय रोग के जीवाणुओं की खोज के लिये कोच को 1905 में 'नोबेल पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। श्री श्रीवास्तव ने आगे बताया कि सूक्ष्मजीवों के शिकारी के रूप में कोच इतने प्रसिद्ध हो गये थे कि संसार में जहाँ भी कोई महामारी फैलती या रोग विकराल रूप धारण कर लेता, वहाँ कोच बुलाये जाते। कोच सभी जगह जाते भी थे। 1888 में कोच को मिस्र (इजिप्ट) बुलाया गया जहाँ 'कालरा' फैला था। 1897 में बम्बई (भारत) बुलाया गया जहाँ 'बुबोनिक प्लेग,' और 'मलेरिया' महामारी का रूप ले चुका था। उन्हें पूर्वी अफ्रीका में भी बुलाया गया जहाँ 'स्लीपिंग सिकनेस' रोग फैला हुआ था। 27 मई 1910 को हृदयाघात (हार्टअटैक) से कोच का स्वर्गवास हो गया।

श्री श्रीवास्तव के अतिरिक्त गोष्ठी के अध्यक्ष डॉ०जे०पी० पाठक सहित डॉ० दिनेश मणि, डॉ० सुनील दत्त तिवारी, सर्वश्री सुनील कुमार पाण्डेय, विनोद कुमार पाण्डेय एवं श्री हरिओम सिंह ने रॉबर्ट कोच की भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की। डॉ० पाठक ने चरित्र संश्लेषण पर महत्व डालते हुए कहा कि जैसे हम जीन बैंक बनाकर जीन सुरक्षित करते हैं, वैसे ही ऐसी गोष्ठियां आयोजित कर हम ऐसे वैज्ञानिकों से प्रेरणा लेते हैं और स्वस्थ चरित्र निर्माण की प्रक्रिया समृद्ध करते हैं।

अन्त में विचार गोष्ठी के आयोजक और संचालक डॉ० दिनेश मणि ने सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की।

(दैनिक जागरण, 30-5-95 से साभार)

(4) **तम्बाकू के सेवन से भारत में प्रतिवर्ष 13 लाख मौत**

'विश्व तम्बाकू निषेध दिवस' (31 मई) के अवसर पर 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' के तत्वावधान में आयोजित विचार गोष्ठी 'तम्बाकू से उत्पन्न रोग और उपचार' में विषय प्रवर्तन करते हुये गोष्ठी के आयोजक एवं संचालक, 'विज्ञान' पत्रिका के सम्पादक **प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव** ने बताया कि पिछले दस वर्षों में 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के माध्यम से मई के अन्तिम दिवस को सारे संसार में 'विश्व तम्बाकू निषेध दिवस' के रूप में मनाया जाता है। इस वर्ष बिश्व स्वास्थ्य संगठन का नारा है—'टोबेको कास्ट्स मोर दैन यू थिंक' (तम्बाकू जितना आप सोचते हैं, उससे कहीं अधिक खतरनाक है)।

'हार्ट केयर फाउण्डेशन ऑव इंडिया' के अनुसार तम्बाकू अथवा तम्बाकू से बनाये गये सिगरेट, बीड़ी, खैनी, चुरुट आदि के सेवन से दिल के दौरे, कैंसर, शरीर के अंगों में लकवा और ब्रांकाइटिस जैसे रोगों से भारत में प्रतिवर्ष 13 लाख लोग काल के गाल में समा जाते हैं। आगे बोलते हुये उन्होंने बताया कि तम्बाकू के सेवन के विरुद्ध विभिन्न संचार माध्यमों द्वारा किये गये प्रचार के बावजूद विकासशील देशों में तम्बाकू सेवन करने वालों की संख्या बजाये घटने के बढ़ रही है। वैसे दिल्ली राज्य के स्वास्थ्य मंत्री की यह घोषणा कि 18 वर्ष से कम उम्र के लड़के-लड़कियों के बीच सिगरेट-बीड़ी का बेचा जाना कानून बनाकर रोक दिया जायेगा, स्वागत योग्य कदम है। क्या ही केच्छा हो यदि और राज्य इसका अनुसरण करें।

गोष्ठी के अध्यक्ष **श्री दर्शनानन्द** (अवकाशप्राप्त उपउद्यान निदेशक, इलाहाबाद मण्डल), जो पिछले अनेक वर्षों से तम्बाकू के सेवन के विरोध में लेखों और व्याख्यानों द्वारा आम लोगों को शिक्षित करने का कार्य कर रहे हैं, ने बताया कि तम्बाकू के सेवन से होने वाले रोगों में कैंसर, हृदयरोग, ब्रांकाइटिस के अतिरिक्त तपेदिक, दमा, उच्च रक्तचाप, रक्त-प्रवाह में गड़बड़ी, नेत्र ज्योति की कमजोरी, त्वचा रोग, वांझपन, नपुंसकता तथा लकवा जैसे रोग आम हैं।

श्री दर्शनानन्द ने आगे बताया कि एक सिगरेट पीने से मनुष्य की 5 मिनट औसत आयु कम हो जाती है और इसी के साथ 215 मिलीग्राम 'विटामिन-सी भी शरीर से निकल जाता है। सिगरेट पीने वाले अपने अलावा अपने आसपास के लोगों को भी पार्श्व धूम्रपान के लिए विवश कर देते हैं और इस प्रकार धूम्रपान न करने वाले भी रोगों की चपेट में आ जाते हैं। श्री दर्शनानन्द ने तम्बाकू की खेती को रोकने पर विशेष बल दिया।

गोष्ठी में विचार व्यक्त करने वालों में **डॉ० सुनील दत्त तिवारी** ने बताया कि तम्बाकू के अतिरिक्त इसके साथ सेवन करने वाली सुपारी, चूना और कत्था भी कम हानिकारक नहीं हैं। उन्होंने कहा कि टेलीविजन, रेडियो और पत्र-पत्रिकाओं द्वारा खोखले नारों यथा 'बीड़ी की आदत, कैंसर को दावत' से कुछ नहीं होने वाला है क्योंकि तम्बाकू में 33 ऐसे रसायन हैं जो कैंसरकारी हैं। उन्होंने सरकार द्वारा कड़े नियम बनाये जाने पर बल दिया।

श्री सुनील कुमार पाण्डेय ने बताया कि किस प्रकार उनके एक निकट के संबंधी ने दृढ़ इच्छा शक्ति द्वारा अमल लगने पर काली मिर्च खाकर सुर्ती खाना सदा के लिए छोड़ दिया और बाद में काली मिर्च का खाना भी छोड़ दिया। **श्री प्रेमनाथ पांडेय** ने चिन्ता व्यक्त की कि युवाओं में सिगरेट पीने वालों की संख्या लगातार बढ़ रही है। **डॉ० फेमो पियर्स** के अनुसार युगाण्डा में 31 प्रतिशत विद्यार्थी धूम्रपानी हैं। उन्होंने ऐसी वस्तुओं की बिक्री रोके

जाने पर बल दिया। श्री संजीव त्रिपाठी ने बताया कि महिलाओं में धूम्रपान की आदत बढ़ रही है। यह महिला पुरुष बराबरी का परिणाम है। उन्होंने बताया कि 1992 में विश्व में 27 लाख लोगों की मृत्यु तम्बाकू सेवन से हुई थी, जिसमें एक तिहाई मरने वाले भारतीय थे। श्री हरिओम सिंह ने इस बात पर चिंता व्यक्त की कि अपने लाभ के लिए अनेक माफिया गिरोह कम उम्र के लड़के-लड़कियों को जबरदस्ती धूम्रपान के लती बना देते हैं।

अन्त में प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुये कहा कि तम्बाकू निषेध में लगे व्यक्तियों को अनुनय-विनय द्वारा धूम्रपानियों को लत छोड़ने के लिए तैयार करने का प्रयास करना चाहिए और उनके अन्दर दृढ़ इच्छा शक्ति जाग्रत करने का प्रयास करना चाहिए।

(दैनिक जागरण, 2 जून 1995)

(5) पर्यावरण दिवस पर विचार गोष्ठी सम्पन्न

विश्व पर्यावरण दिवस पर विज्ञान परिषद् में श्री दर्शनानन्द की अध्यक्षता में "पर्यावरण संरक्षण प्रयासों का मूल्यांकन" विषय पर एक विचार गोष्ठी सम्पन्न हुई। विषय प्रवर्तन करते हुए "विज्ञान" पत्रिका के सम्पादक और विचार गोष्ठी के आयोजक एवं संचालक प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने विश्व की कुछेक पर्यावरणीय समस्याओं—धरती के बढ़ते ताप, ग्रीन हाउस प्रभाव, ओजोन की छतरी में छेद, वनस्पति एवं प्राणि प्रजातियों के विलुप्तीकरण, पृथ्वी की सम्पदा के क्षय, रेगिस्तानीकरण, अम्ल वर्षा, सूखा, बाढ़ आदि की विभीषिका का उल्लेख किया। इनके मुख्य दो को कारण है--जंगलों का काटा जाना और जनसंख्या विस्फोट।

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने आगे बताया कि जनमानस में चेतना का उदय हो चुका है, सरकारी और गैर सरकारी प्रयास बिगड़ते पर्यावरण को बचाने के लिए किए भी जा रहे हैं। जर्मनी की राजनैतिक 'ग्रीन पार्टी' और अंतर्राष्ट्रीय स्तर का संगठन 'ग्रीन पीस' इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। 'ग्रीन पीस' संगठन दिल्ली में भी अपना 'क्लियरिंग हाउस' खोल रहा है। दिल्ली स्थित यह शाखा भारत सहित पूरे दक्षिण-पूर्व एशिया में अपनी गतिविधियाँ चला सकेगी। इस संगठन के जहाज ने सागरों में कचरा डालने वाले जहाजों को भी पकड़ा है। इसी संदर्भ में भारत में टेहरी और नर्मदा बाँध निर्माण के विरोध में खड़ा किया गया जनान्दोलन, जो इन दिनों अखबार की सुर्खियों में है, भी उल्लेखनीय हैं। आज यदि तीन वर्षों बाद हम 'पृथ्वी सम्मेलन', जो ब्राजील के शहर रियो डि जेनेरो में सम्पन्न हुआ था, का मूल्यांकन करें वे हमें निराशा हो हाथ लगती है। अतएव पर्यावरण सुरक्षा प्रयासों का पुनर्मूल्यांकन अत्यन्त आवश्यक है।

डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने जनसंख्या नियंत्रण और वृक्षारोपण पर विशेष बल दिया। उनहोंने कहा कि नीम वृक्ष को लेकर देश में खूब हाय-तोबा मचा किन्तु नये नीम के वृक्ष लगे कहीं नहीं दिखाई देते हैं। कूड़े-करकट और मलवे के निपटान के अभाव में अनेक बीमारियाँ होती रहती हैं। मलबे के निपटान की वैज्ञानिक तकनीक ढूंढ़नी होगी। डॉ० मिश्र ने ऊर्जा की खपत को कम करने पर भी बल दिया। उन्होंने प्लास्टिक के थैलों के बढ़ते प्रचलन पर भी चिंता व्यक्त की।

डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव ने प्राचीन भारतीय जीवन पद्धति का उल्लेख करते हुए बताया कि पहले ऋषि-मुनि पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति अधिक जागरूक थे। आज जानकारी के निमित्त पर्यावरण की सब बातें

आ गयी हैं. किन्तु व्यावहार में नहीं आ रहा है। उन्होंने पर्यावरण के बिगड़ने का मुख्य कारण मानव का व्यक्तिगत लाभ बताया कि समस्याओं की जड़ में पहली बात मनुष्य का आचरण और चरित्र है। दूसरी बात जनसंख्या विस्फोट की है। देश की आजादी को देखते हुए जनचेतना कम है। रियो में क्या हुआ यह सब लोग नहीं जानते हैं। उन्होंने विज्ञान के ज्ञान को बढ़ाने के साथ ही 'धर्म' पर जोर दिया।

डॉ० दिनेश मणि ने कहा कि पर्यावरण के संबंध में वैज्ञानिक संस्थाओं का निर्णय महत्वपूर्ण होता है।

डॉ० सुनील दत्त तिवारी ने चिंता व्यक्त की कि हम वायु प्रदूषण को तो कम करना चाहते हैं किन्तु सड़कों पर दुपहिया, तिपहिया और मोटरकारें, जो पेट्रोल से चलती हैं, की संख्या बढ़ती ही जा रही हैं।

डॉ० सुनील कुमार पाण्डेय ने आँकड़ों के माध्मम से वायु में उत्सर्जित गैसों की बढ़ती मात्रा पर चिंता व्यक्त की। उन्होंने आगे कहा कि वातावरण में बढ़ती कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा का प्रभाव विवादास्पद है। इसकी ठीक से जाँच होनी चाहिये। इसके अच्छे और बुरे दोनों तरह के प्रभाव बताये जाते हैं। उन्होंने बताया कि पिछले 100 वर्षों में समुद्र का जलस्तर मात्र 10 सेन्टीमीटर बढ़ा है।

श्री संजीव त्रिपाठी ने धरती के बढ़ते ताप और ओजोन की छतरी में छेद होने की बात पर चिंता व्यक्त की, किन्तु उन्होंने इस बात पर प्रसन्नता व्यक्त की कि भारत के ऊपर जो ओजोन की चादर है, उसमें कहीं छेद नहीं है।

श्री दिलीप कुमार सिंह ने कहा कि बिना आदमियों के तो यह प्रकृति सुरक्षित रह सकती है, जीवंत रह सकती है, किन्तु प्रकृति के बिना मानव का अस्तित्व संभव नहीं है। इसीलिए भारतीय संस्कृति में प्रकृति को 'माता' कहा गया है। उन्होंने रचनात्मक कार्य पर जोर दिया।

श्री हरिओम सिंह ने वायु प्रदूशण को कम करने के लिए विशेप ध्यान देने की बात कही, क्योंकि यह काम कठिन भी है। वायु को दूषित करने वालों के लिए कानून में कठोर दण्ड का प्रावधान होना चाहिए।

विचार गोष्ठी के श्री अध्यक्ष दर्शनानन्द ने विज्ञान परिषद् को संगोष्ठी के आयोजन के लिए बधाई देते हुए बताया कि पर्यावरण जटिल है। इसके शुद्धीकरण की दिशा में किए जा रहे प्रयासों की गति को बढ़ाना होगा। यह सच है कि इस दिशा में किए गए प्रयासों का जितना अच्छा परिणाम मिलना चाहिए था, मिला नहीं किन्तु कुल मिलाकर स्थिति भयावह नहीं है। उन्होंने निहित स्वार्थ को त्यागने पर बल दिया। अध्यक्ष जी ने कहा कि उत्तराखण्ड के जंगलों में लगी आग को बुझाने के प्रयासों को तेज किया जाना चाहिए। उन्होंने इस बात पर दुख प्रकट किया कि किसी भी राजनेता ने अपने व्याख्यानों में इस पर चिंता नहीं व्यक्त की। उन्होंने आगे बोलते हुए सहजन के बीजों के चूर्ण द्वारा जल की सफाई पर जोर दिया। यह तकनीक सुलभ और सस्ती है। उन्होंने पानी को छानकर पीने का सुझाव दिया।

अंत में प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए आशा व्यक्त की कि जिस प्रकार पुणे के पास स्थित 'तपोवन' को आस्था के तहत वहाँ के निवासियों ने सदियों से जस का तस सुरक्षित रखा है, जनमानस में ऐसी ही मानसिकता का विकास श्रेयस्कर होगा।

(दैनिक जागरण, 7 जून 1995 से साभार)

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठकगण !

"विज्ञान" का जुलाई 1995 अंक आपके सामने है। जैसा भी बन पड़ रहा है, हम कर रहे हैं। इस वर्ष हमारे कुछ युवा मित्र जिनका मै उल्लेख करना चाहूँगा, बराबर परिषद् में आ रहे हैं। इलाहाबाद में इन दिनों शिद्दत की गर्मी पड़ रही है। दिन में लोग घरों से बाहर नहीं निकलना चाहते ऐसे में डाँ० दिनेश मणि, डाँ० सुनील दत्त तिवारी, सर्व श्री सुनील कुमार पाण्डेय, दिलीप सिंह, प्रेमनाथ पाण्डेय, संजीव त्रिपाठी, विनोद कुमार पाण्डेय, अरुण सिंह, हरि ओम सिंह साधुवाद के पात्र हैं।

पुराने लोगों में डाँ० शिव गोपाल मिश्र जी सदा की भाँति बराबर आ रहे हैं। डाँ० मिश्र के अतिरिक्त श्री दर्शनानन्द जी जब भी समय निकाल पाते हैं, अवश्य आते है। श्री दर्शनानन्द जी का निवास परिषद् से बहुत दूर करेली में है, फिर भी कई संगोष्ठियों में आकर उन्होंने अध्यक्षपदीय उद्बोधन भी दिया है। मै इन सभी लोगों के के प्रति हृदय से आभार व्यक्तत करता हूँ, क्योंकि यदि ये लोग विचार गोष्ठियों में आकार विचार व्यक्त न करते तो श्रोता सुनते किन्हें ?

संगोष्ठियों का आयोजन

सच पूछिये तो पिछले दिनों अनेक गोष्ठियाँ सम्पन्न हुई। 18 मई को 'प्रो० महेश्वरी और भारतीय विज्ञान को उनकी देन' विषय पर, 23 मई को वनस्पति विज्ञानी 'कैरोलस लीनियस : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' विषय पर, 27 मई को 'सूक्ष्मजीवों के शिकारी रॉबर्ट कोच' विषय पर, 31 मई को 'तम्बाकू द्वारा उत्पन्न रोग और उपचार' विषय पर और 6 जून को 'पर्यावरक्ष संरक्षण प्रयासों का मूल्यांकन' विषय पर आयोजित विचार-गोष्ठियाँ सभी के सहयोग से सफलतापूर्वक सम्पन्न हुई।

मैं हिन्दी और अंग्रेजी के स्थानीय दैनिक समाचार-पत्रों का भी आभारी हूँ, जो गोष्ठियों के आयोजन और पुन: सम्पन्न होने पर रिपोर्टों को बराबर छाप रहे हैं।

सूरत प्लेग :नये तथ्य

पिछले वर्ष सूरत शहर में फैले 'प्लेग' के रोग के संबन्ध में तरह-तरह की बातें कही गई और कही जा ही हैं। कुछ लोगों ने तो यह भी कहा कि सूरत में फैली महाकारी 'प्लेग' ही थी या 'कुछ और'। किन्तु पिछले दिनों जो कुछ नये तथ्य उभर कर सामने आये हैं, उन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

प्लेग फैलाने वाले जीवाणु येरसीनिया पेस्टिस (Yersinia pestis), जो सूरत शहर में महामारी का कारण था, विश्व में पाये जाने वाले जीवाणुओं में अपनी तरह का अकेला जीवाणु है। अब तक सारे संसार में प्लेग जीवाणुओं की 2000 किस्में ढूढ़ी जा चुकी हैं, किन्तु सूरत प्लेग जीवाणु इन सबसे भिन्न है। और भिन्न

होने की वजह है जीवाणु में एक अतिरिक्त प्रोटीन पट्टी की उपस्थिति। और तो और, फोर्ट कोलिन्स (कोलोराडो) अमेरिका के 'सेन्टर फॉर डिजीज कण्ट्रोल लेबोरेटरी' के वैज्ञानिकों के अनुसार सूरत प्लेग जीवाणु स्ट्रेन का भारत में पाये गए तीन प्लेग जीवाणु स्ट्रेन्स से कोई संबन्ध नहीं है।

हुआ यह कि भारत सरकार के स्वास्थ्य मंत्रालय ने 'एन आई सी डी' (नेशनल इंस्टीट्यूट ऑव कम्यूनिकेवल डिजीजेज) के वैज्ञानिकों को प्लेग के फैलने के कारणों का पता लगाने को कहा। एन आई सी डी ने विश्व की तीन विख्यात सूक्ष्मजीवविज्ञान की प्रयोगशालाओं को जीवाणुओं के नमूने जाँच के लिए भेज दिए।

रूस के स्टेवरोपोल एन्टी-प्लेग रिसर्च इंन्टीट्यूट ने जाँच-परख के बाद बताया कि प्लेग के इन जीवाणुओं की मारक क्षमता कम है, और इसी कारण सूरत में मरने वालों की संख्या बहुत नहीं रही और महामारी जल्दी समाप्त हो गई।

फ्रांस के पेरिस शहर में स्थित 'पाश्चर इंस्टीटयूट' के वैज्ञानिकों ने कुछ जीन संबन्धी अनुसंधान किए और 'राइबोटाईपिंग' टेस्ट से पता चला कि सूरत प्लेग जीवाणु, पिछले 72 वर्षों में पाये गए 12 'राइबोटाइप्स' से भिन्न है। और इसी कारण पाश्चर ईंस्टीटयूट के वैज्ञानिकों ने प्लेग के इस सर्वथा नये स्ट्रेन को एक नया नाम-'राइबोटाइप-एस' (Ribotype-S) दिया। एस (S) यहाँ सूरत को दर्शाता है।

'एन आई सी डी' के वैज्ञानिक डॉ० यू० वी० एस० राणा का कहना है कि विदेश में किए गए अनुसंधान से यह तो सिद्ध ही हो चुका है कि प्लेग का कारण जीवाणु येरसीनिया पेस्टिस ही था। हाँ, यह बात और है कि 1963 में भारत में फैले प्लेग के जीवाणु येरसीनिया पेस्टिस ने स्ट्रेन में, प्रोटीन की अतिरिक्त पट्टी का निर्माण करके, परिवर्तन कर लिया है।

यह प्लेग दो बातों की ओर इशारा करता है। एक तो यह कि सूक्ष्मजीव नये स्ट्रेन बनाने में माहिर होते हैं और दूसरा यह कि वैज्ञानिकों को भी इसी प्रकार नये प्रतिजैविक बनाने में माहिर होना होगा। सूक्ष्मजीव ने तो अपना कमाल दिखा दिया, पर मनुष्य का कमाल भविष्य के गर्त में है और जल्दी ही सामने आयेगा, ऐसी आशा की जानी चाहिए।

उत्तराखण्ड के जंगलों में आग की विनाशलीला

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि जब जंगलो में आग लगती है तो जंगल में मृत्यु का 'तान्डव' शुरू हो जाता है। फिर तो इस आग को बुझाना टेढ़ी खीर' होती है। या तो जंगल के जंगल के अपनी जैव संपदा खो देते है अथवा यदि बर्षा हो जाये तो आग जल्दी बुझ जाती है। जंगल में लगी आग से जहाँ एक और घासें, झाड़ियाँ और वृक्ष जल जाते हैं वहीं साँप, कीट-पतिंगों, चिड़ियों और अन्य प्राणियों के आवास नष्ट हो जाते हैं। जल-स्रोत आग के ताप से सूख जाते हैं, भोजनशृंखला प्रभावित होती है और और कुल मिलाकर जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों की अनेक प्रजातियाँ नष्ट हो जाती हैं।

पर्यावरण और बन मंत्रालय के वन विभाग के इंस्पेक्टर जेनेरल एम० एफ० अहमद के अनुसार उत्तर प्रदेश हिमाचल प्रदेश और हरयाणा के जंगलों में इस वर्ष लगी आग पिछले वर्षों की अपेक्षा अधिक भयानक है और इससे वन्य जीवन के अत्यधिक प्रभावित होने की आशंका है।

ओक और चीड़ के वनों में लगी आग के कारण सांभर, भूकने वाले हिरण, घोरल आदि गाँवों की ओर भागेंगे, जहाँ शिकारियों द्वारा उनके मारे जाने की संभावना अधिक है।

'वर्ल्ड फीजैन्ट एसोसिएशन' के वैज्ञानिक राहुल के अनुसार छोटे पक्षी और फीजैन्ट अधिक प्रभावित होंगे। इन दिनों प्रजनन काल चल रहा है, इस कारण चिड़ियों के घोसले और अन्डे आग में जलकर राख हो जायेंगे और चिड़ियां इस वर्ष पुनः अन्डे दे सकेंगी, इसमें संदेह है।

प्रसिद्ध पर्यावरणविद् इकबाल मलिक का निश्चित मत है कि ऐसे देखने में तो जंगल की आग से आदमी अप्रभावित लगता है, किन्तु कुछ प्रजातियों के नष्ट होने से भोजन श्रृंखला प्रभावित होती है और इससे वन की नैसर्गिक आबादी प्रभावित होती है। इसके परिणाम दूरगामी होते हैं, क्योंकि जंगलों के विनाश से बाढ़ और सूखे की विभीषिका का सामना अंततः मानव को ही करना पड़ता है।

पर्यावरण मंत्रालय के वन विभाग के महानिदेशक लखबिन्दर सिंह आग से प्रभावित क्षेत्रों का दौरा करके वापस लौटे हैं। महानिदेशक महोदय का कहना है कि जंगलों में मात्र जमीन पर घास और झाड़ियां जली हैं। बड़े वृक्ष अप्रभावित है, किन्तु इतना तो उन्होंने भी स्वीकार किया कि आग और धुये से बचने के लिए बड़े जानवर और पक्षी भाग रहे हैं। 'वर्ल्ड वाइल्ड लाइफ फाण्ड' से जुड़े वैज्ञानिक परीक्षत का कहना है कि कुछ जीव-जन्तु और पक्षियों का आवास तो नष्ट हो ही जायेगा। एक अन्य पर्यावरणविद् का कहना है कि जगह-जगह पानी के स्रोत ताप से सूख गए हैं। पानी का आभाव भी जंगली प्राणियों को प्रभावित करेगा ही।

आग को बुझाने के सरकारी प्रयास चल रहे हैं, किन्तु जितनी धनराशि और मानव शक्ति इस काम को सम्पन्न करने के गिए चाहिए वह उपब्ध नहीं है। फिर तो 'दैवी चमत्कार' की ही आशा है।

राघवेन्द्र कुमार शर्मा का निधन

'आविष्कार' पत्रिका के सहायक सम्पादक श्री राघवेन्द्र कुमार शर्मा का गत 15 अप्रैल 1995 को निधन हो गया। स्वर्गीय श्री शर्मा जी का व्यक्तित्व बहुआयामी था। वे एक सफल विज्ञान लेखक, पत्रकार और सम्पादक थे पिछले कुछेके वर्षों से उनकी आँखों की रोशनी चली गयी थी, किन्तु उन्होंने कभी हार नहीं मानी। कम्प्यूटर की सहायता से विज्ञान लेखन के सम्बन्ध में आंकड़े एकत्र कर रहे थे। उनका व्यक्तित्व जुझारू था। वे विज्ञान परिषद् के आजीवन सभ्य थे और परिषद् की दिल्ली शाखा द्वारा आयोजित गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लेते थे। स्वर्गीय श्री शर्मा को विज्ञान परिषद् परिवार की भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित है।

आपका
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1995

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।
(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।
(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।
(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।
(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1995 से दिसम्बर 1995 माह के बीच प्रकाशित हो।
(6) लेखक को लेख के साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।
(7) विज्ञान परिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।
(8) वर्ष 1995 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1996 है।
(9) पुरस्कार के लिए पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागियों को इस प्रतियोगिता के लिए उपयुक्त नहीं समझा जायेगा।

लेख निम्न पते पर भेजें—

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कालेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जावें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिन्तनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पत्रिका की दो प्रतियां भेजी जानी चाहिए. समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० अभिदान :500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०

प्रति अंक : 3 रु० 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद् प्रयाग

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913 : विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
अगस्त 1995 : वर्ष 81 अंक 5

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु०, वार्षिक : 25 रु०

एक प्रति : 3 रु० 50 पैसे

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक	सम्पादक	मुद्रक	सम्पर्क
डॉ० डी० डी० नौटियाल	प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव	अरुण राय	विज्ञान परिषद्
प्रधानमंत्री	सहायक संपादक	प्रसाद मुद्रणालय	महर्षि दयानन्द मार्ग
विज्ञान परिषद् प्रयाग	डॉ० दिनेश मणि	7 ए-बेली एवेन्यू, इलाहाबाद	इलाहाबाद-211002

मरुस्थलीकरण : एक गम्भीर समस्या

डॉ० दिनेश मणि

मरुस्थल शब्द वास्तव में एक दिल दहला देने वाला शब्द है। इसके स्मरण होते ही दूर-दूर तक फैली रेत, वनस्पति रहित क्षेत्र आँखों के सामने आ जाता है। हालाँकी यदा-कदा छोटी-छोटी झाड़ियाँ, कंटीले छोटे वृक्ष उगे दिखायी दे सकते हैं। वैसे मरुस्थल का शाब्दिक अर्थ है मृत भू-भाग। यानि वह भू-भाग जिसमें सतही जल का अभाव हो। इसके साथ ही वहाँ की मिट्टी में जैविक तत्वों व नमी का अभाव हो। यही मरुस्थलों में प्राकृतिक वनस्पतियों के न उगने के लिये उत्तरदायी हैं। जलवायु की दृष्टि से मरुस्थल वह भू-भाग है जहाँ औसत वार्षिक वर्षा 25 से॰ मी० से कम होती है और तापमान अधिक होता है।

इस समय सम्पूर्ण विश्व का लगभग 35 प्रतिशत भाग मरुस्थलों, अर्द्ध मरुस्थलों, सूखे घास के मैदानों से घिरा हुआ है। विश्व के लगभग 100 देशों में इनका विस्तार आंशिक रूप से है। वर्षा की मात्रा में हुयी कमी, दोषपूर्ण जलवितरण, अनुचित मानवीय क्रियाकलापों तथा वनों के विनाश से इन मरुस्थलीय क्षेत्रों का निरन्तर प्रसार हो रहा है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक विशेष रिपोर्ट के अनुसार अविवेकपूर्ण मानवीय क्रियाओं के फलस्वरूप एक करोड़ 30 लाख वर्ग किलो मीटर क्षेत्र में मरुस्थलीय भूमि पैदा हो गयी है। मरुस्थलीय प्रदेशों के 1977 में तैयार किये गये विश्व मानचित्र के अनुसार यूरोप के 2 प्रतिशत, अमेरिका के 19 प्रतिशत, एशिया के 31 प्रतिशत, अफ्रीका के 34 प्रतिशत तथा आस्ट्रेलिया के 75 प्रतिशत भू-भाग पर मरुस्थलों के प्रसार की सम्भावना है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशेषज्ञों के अनुसार प्रत्येक वर्ष लगभग एक अमेरिकी राज्य के क्षेत्रफल के बराबर भूमि का विश्व में मरुस्थलीकरण हो रहा है। सहारा का मरुस्थल प्रतिवर्ष अपनी सीमाओं को बढ़ाता जा रहा है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि इस शताब्दी के अन्त तक सहारा के रेगिस्तान का आकार 20 प्रतिशत और बढ़ जायेगा। इसी प्रकार थार का मरुस्थल भी प्रतिवर्ष 13,000 एकड़ भूमि को अपनी गिरफ्त में ले लेता है।

सारणी-1 में विश्व के महाद्वीपों में मरुस्थलों का विस्तार दर्शाया गया है।

विश्व के महाद्वीपों में मरुस्थलों का विस्तार

महाद्वीप	क्षेत्रफल (करोड़ हेक्टेयर में)
अफ्रीका	176.60
एशिया	144.10
अस्ट्रेलिया	62.50
उत्तरी अमेरिका	43.60
दक्षिणी अमेरिका	28.20
यूरोप	6.40

सहायक सम्पादक, "विज्ञान", विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-2

सारणी-2

भारत का मरुस्थल क्षेत्र

क्र॰सं॰	राज्य	सम्पूर्ण शुष्क क्षेत्र (वर्ग कि॰ मी॰)	सम्पूर्ण शुष्क क्षेत्र का प्रतिशत	प्रतिशत भाग शुष्क क्षेत्र	अर्द्ध शुष्क क्षेत्र	प्रतिशत जनसंख्या शुष्क क्षेत्र	अर्द्ध शुष्क क्षेत्र
1.	राजस्थान	1,91,650	61	57.42	3667	33.47	58.37
2.	गुजरात	62,180	20	33.72	47.50	10.18	60.56
3	पंजाब	14,510	5	28.60	75.40	20.11	64.02
4.	हरियाणा	12,840	4	29.32	59.77	19.70	67.36
5.	महाराष्ट्र	1,280	0.4	0.42	61.17	0.49	64.69
6.	कर्नाटक	8,570	3	4.27	72.60	3.14	75.72
7.	आन्ध्र प्रदेश	21,550	7	7.18	44.66	4.99	41.89
8.	जम्मू-कश्मीर	—	—	31.13	6.22	1.64	0.33
9.	उत्तर प्रदेश	—	—	—	21.73	—	28.26
10.	मध्य प्रदेश	—	—	—	13.38	—	14.19
11.	तमिलनाडु	—	—	—	65.54	—	60.48

मरुस्थलों का एक भाग उत्तरी गोलार्द्ध में और दूसरी दक्षिणी गोलार्द्ध में हैं। आमतौर पर ये कर्क रेखा तथा मकर रेखा के साथ-साथ पाये जाते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में अफ्रीका का सहारा, अरेबिया, सीरिया-जार्डन, ईराक, ईरान, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, पाकिस्तान और भारत के मरुस्थल हैं जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिणी अफ्रीका का कालाहारी, आस्ट्रेलिया और पश्चिमी अर्जेन्टाइना के मरुस्थल शामिल हैं। विश्व के मरुस्थलों का सबसे विशाल क्षेत्र 20° से 30° उत्तरी अक्षांशों के मध्य विश्व के सभी महाद्वीपों के मध्य से निकलता है।

हमारे देश के कुल क्षेत्रफल का लगभग 12.13 प्रतिशत भाग शुष्क मरुस्थल तथा 29.13 प्रतिशत भाग अर्द्ध शुष्क मरुस्थल के अन्तर्गत आता है। यहाँ यह बता देना आवश्यक होगा कि शुष्क तथा अर्द्ध शुष्क मरुस्थलों का विभाजन वर्षण सूचकांक (अर्थात् किसी क्षेत्र या स्थान को कितनी मात्रा में वर्षा का पानी मिलता है) के आधार पर किया जाता है। सारणी-2 में भारत का कुल मरुस्थलीय क्षेत्र दर्शाया गया है।

मरुस्थलीकरण से उत्पन्न समस्यायें

मरुस्थलीकरण के निरन्तर प्रसार से राजस्थान और समीपवर्ती राज्यों के पर्यावरणतन्त्र में निम्न गम्भीर समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं।

1. अरावली पर्वतमाला के विभिन्न अन्तरालों से व्यापक रेत का बहाव
2. वायु द्वारा मिट्टी का क्षरण
3. मरुस्थल के तीव्र प्रसार से वनों का विनाश
4. नदियों तथा झीलों में सिल्ट का भराव
5. खाद्यान्न उत्पादन में कमी
6. जलस्रोतों का सूखना
7. भूमिगत जलस्तर में निरन्तर गिरावट
8. जलाऊ लकड़ी का अभाव
9. बंजर भूमि का विस्तार
10. चारागाह वाले क्षेत्रों की कमी से पशुधन पर प्रतिकूल प्रभाव

उपर्युक्त समस्याओं से अकाल तथा भुखमरी की भयावह स्थिति आ सकती है।

मरुस्थलीकरण की समस्या पर गम्भीरता से विचार करने के लिए संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम ने 1977 में एक अन्तर्राष्ट्रीय बैठक आयोजित की। इस बैठक में कुछ प्रस्ताव अनुमोदित किये गये और मरुस्थलीकरण रोकने के लिये कार्यक्रम की एक रूपरेखा भी बनायी गयी। केन्द्रीय मरुक्षेत्र अनुसंधान संस्थान, जोधपुर के वैज्ञानिकों के अनुसार इस क्षेत्र के लिये खेजड़ी वृक्ष बहुत उपयोगी रहता है। वनस्पति जगत में यह प्रोसोपिस सिनेरेरिया नाम

से जाना जाता है। यह वृक्ष प्रतिकूल मृदा एवं जलवायु दशाओं में भी बढ़, पनप सकता है। यह बहुत उपयोगी वृक्ष है। इससे ईंधन की लकड़ी, पशुओं के लिये चारा आदि प्राप्त होता है। इसकी पत्तियों में 14—17 प्रतिशत तक प्रोटीन पायी जाती है। यह बकरी, भेड़ तथा ऊंटों का प्रिय चारा है। इसकी पत्तियाँ जमीन पर गिरकर-सड़कर मिट्टी की उर्वरा शक्ति में वृद्धि करती हैं।

एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के अन्तर्गत, राजस्थान, गुजरात और हरियाणा के शुष्क और अर्द्ध शुष्क क्षेत्रों में अन्य बातों के साथ वृक्षारोपण पर भी ध्यान दिया जा रहा है। चारागाह क्षेत्रों का विकास किया जा रहा है। लवणीय भूमियों में लवणरोधी वनस्पतियाँ लगायी जा रही हैं। इस कार्य के लिये उपयुक्त पायी गयी वनस्पतियाँ इस प्रकार है।

1. कीकर (प्रोसोपिस जुलीफ्लोरा)
2. बबूल ((अकेशिया निलोटिका)
3. इज़राइली बबूल (अकेशिया टॉर्टिलस)
4. फराश नीम (अजैडिरेक्टा इन्डिका)
5. सिरिस (अलबिजिया लेबेक)

राजस्थान नहर निर्माण योजना से मरुस्थलीकरण पर कुछ हद तक रोक लगी है। राज्य भर में नहरों का जाल बिछा देने से कृषि वानिकी और सामाजिक वानिकी के फलस्वरूप एक क्रान्ति आ रही है।

■ ■

मरुभूमि का पर्यावरण : समस्या तथा समाधान

डॉ० आई० सी० गुप्ता

विश्व के 180 देशों में से दो-तिहाई देशों में रेगिस्तान के फैलाव की भयावह स्थिति है। 80 लाख वर्ग किलोमीटर भूमि रेगिस्तान की गिरफ्त में है। विश्व में प्रति वर्ष दो करोड़ हेक्टेयर कृषि भूमि रेगिस्तान में परिणित हो रही है। इससे 65 हजार करोड़ रुपये प्रतिवर्ष आय की क्षति हो रही है। राजस्थान में लगभग 1.96 लाख वर्ग किलोमीटर भूमि रेगिस्तान है। पश्चिमी जिले-बाड़मेर, बीकानेर, चुरु, जैसलमेर, जालोर, झुन्झनू, जोधपुर, नागौर, पाली और सीकर रेतीले क्षेत्रों में आते हैं।

भारतीय वन सर्वेक्षण ने अनुमान लगाया है कि भारतवर्ष में वनावरण भौगोलिक क्षेत्र का 19.7 प्रतिशत है, परन्तु आकाशीय चित्रों और विश्लेषणों से अन्य दस्तावेज में बताया गया है कि देश के भौगोलिक क्षेत्र का केवल 10.9 प्रतिशत क्षेत्र वास्तविक रूप से प्राकृतिक वनों से युक्त है। पर्यावरण संतुलन के लिये 33 प्रतिशत क्षेत्र वृक्षादित होना आवश्यक है। राजस्थान में केवल 9 प्रतिशत क्षेत्र वन क्षेत्र हैं, जिसमें से वृक्षादित क्षेत्र केवल 3 प्रतिशत है। पश्चिमी राजस्थान में यह क्षेत्र और भी कम है।

राजस्थान में पशु-पालन (50 लाख गाय-भैंस तथा 25 लाख भेड़-बकरी) तथा जलाऊ लकड़ी की मांग (66 लाख टन) को पूरा करने के लिये प्रतिवर्ष लगभग 30 करोड़ वृक्षों को रोपित करना आवश्यक है। 8 वर्ष तक 240 करोड़ वृक्ष लगाने से राजस्थान के पर्यावरण का संतुलन हो सकता है। आठ वर्ष पश्चात् एक वृक्ष से 30-40 किलोग्राम लकड़ी प्राप्त हो सकती है।

19 वीं शताब्दी में जब औद्योगिकीकरण की रफ्तार बहुत मंद थी, पृथ्वी के ऊपरी वातावरण में कार्बन डाइ ऑक्साइड की मात्रा केवल 288 भाग प्रति दस लाख भाग (पी॰ पी॰एम॰) थी। आज यह 400 पी॰ पी॰एम॰ से अधिक है तथा सन् 2050 तक इसकी मात्रा 600 पी॰ पी॰ एम॰ तक बढ़ जायेगी। फलस्वरूप विश्व के तापक्रम में 3 से 4.5 डिग्री सेन्टीग्रेड की वृद्धि होगी तथा जलवायु में परिवर्तन होगा और समुद्र का जल स्तर बढ़ेगा।

वृक्ष की महत्ता

50 वर्ष तक जीवित रहने वाले एक वृक्ष से

(1) 5.3 लाख रुपये की ऑक्सीजन प्राप्त होती है।

(2) 6.4 लाख रुपये का जल-पुनर्भरण होता है।

प्रधान वैज्ञानिक, केन्द्रीय वृक्ष क्षेत्र अनुसन्धान संस्थान, जोधपुर-342003 (राजस्थान)

(3) मृदा संरक्षण तथा उर्वरता से 5.3 लाख रुपयों की बचत होती है।

(4) वायु प्रदूषण को रोकने से 10.5 लाख रुपयों की बचत होती है।

(5) पशुओं के लिये शरण प्रदान करने से 5.3 लाख रुपयों की बचत होती है।

मरु क्षेत्र की समस्यायें

मरु क्षेत्र की समस्याओं में प्रमुख विपरीत जलवायु (कम वर्षा तथा अधिक गर्मी), रेतीली मिट्टी तथा जल की अत्यधिक कमी है। रेतीली मिट्टी होने के कारण जड़-क्षेत्र में जल रुकता नहीं है तथा जल की कमी के कारण बहुत जल्दी-जल्दी सिंचाई करना सम्भव नहीं हो पाता। अधिक गर्मी के कारण जल का वाष्पन द्वारा ह्रास हो जाता है। इस प्रकार सिंचाई के लिये प्रयुक्त जल का लगभग 90 प्रतिशत भाग व्यर्थ हो जाता है। फलस्वरूप पौधे सूख जाते हैं तथा नष्ट हो जाते हैं।

कम पानी से पेड़ लगाने के लिये एक नया उपकरण-दोहरी दीवाल वाला गमला जलतृप्ति

यह तकनीक निम्न दो सिद्धान्तों पर काम करती है—

1 मृदा आर्द्रता तनाव व पौधे की जड़ें एक चूषक बल उत्पन्न करती हैं जो कि समीप के अधिक नमी वाले क्षेत्रों से नमी को अपनी ओर खींचता है।

2. मिट्टी के बर्तनों की दीवार में छोटे-छोटे बहुत से रन्ध्र होते हैं जो कि पानी को बहने तो नहीं देते किन्तु जहाँ चूषण उत्पन्न होता है उस दिशा में जल को धीरे-धीरे रिसाव द्वारा जाने देते हैं।

बनावट में बहुत ही सरल यह उपकरण एक समान ऊँचाई और भिन्न-भिन्न व्यास वाले दो मिट्टी के गमलों से मिलकर बनता है। बड़े व्यास वाले गमले के अंदर एक छोटा गमला होता है और तले पर दोनों गमले एक दूसरे से जुड़े होते हैं। बाहरी गमले के मुँह का व्यास 25 से॰ मी॰ तथा तले का व्यास 18 से॰ मी॰ होता है। भीतरी गमले के मुंह और तले का व्यास क्रमशः 15 तथा 12 सेमी॰ होता है। इसका तला लगभग पूरा खुला होता है। दोनों गमलों की ऊँचाई 30 से॰ मी॰ होती है। बाहरी गमले को किसी इनेमल पेंट या सीमेंट की सहायता से अप्रवेश्य बना देते हैं। चिकनी मिट्टी और रेत के जिस मिश्रण से पीने का पानी ठंडा रखने हेतु घड़ा बनाते हैं। उसी मिश्रण से 'जल-तृप्ति' भी बन जाता है। जिस स्थान पर पौधा लगाना होता है उस स्थान पर 60-70 से॰ मी॰ गहरा और लगभग 30 से॰ मी॰ व्यास का एक गड्ढा खोदकर उसमें लगभग 20 कि॰ ग्रा॰ सड़ी हुई गोबर की खाद और लगभग 100 ग्राम सिंगल सुपर फॉस्फेट मिला देते हैं। अब इस गड्डे में 'जल-तृप्ति' को इस प्रकार गाड़ देते हैं कि उसका मुंह भूमि की सतह के बराबर आ जाये। नर्सरी से लाये गए पौधे को भीतरी गमले में लगा देते हैं और दोनों गमलों की बीच के स्थान में जल भर देते हैं। जल की खुली हुई वृत्ताकार सतह को थर्मोलीन अथवा मिट्टी के ही बने ढक्कन से ढक देते हैं ताकि वाष्पन द्वारा जल का ह्रास न हो।

जब दोनों गमलों के बीच के स्थान में जल भरते हैं तो भीतरी गमले की मृदा और पौधे द्वारा उत्पन्न चूषक बल के फलस्वरूप इस जल का रिसाव धीरे-धीरे उस दिशा में होता है और मृदा को नम बनाए रखता है, जबकि

बाहरी गमले की सतह पतली होने के कारण रन्ध्र बंद हो जाते हैं और बाहर की मृदा की ओर पानी का रिसाव नहीं होता है। एक बार में तीन-चार लीटर पानी 'जल तृप्ति' में भरा जाता है जो कि मौसम के अनुसार एक सप्ताह से दो सप्ताह तक भीतरी गमले की मृदा को नम बनाए रखता है। भीतरी गमले का तला लगभग पूरा खुला होने से वृद्धि के दौरान पौधे की जड़ें सुगमता पूर्वक उसमें से होकर नीचे भूमि की ओर बढ़ती हैं।

क्षेत्रीय प्रयोग

सुस्थापन के समय जमीन में उतारे गये पौधों की तुलना' में 'जल-तृप्ति' में लगाए गये पौधों के कार्योत्पादन को देखने के लिये केन्द्रीय रुक्ष क्षेत्र अनुसंधान संस्थान, बीकानेर में प्रयोग किये गये। सामान्य विधि में 4 उपचार रखे गए जिसमें एक बार में 3 ली०, 6 ली०, 9 ली० तथा 12 ली० जल का उपयोग किया गया। 22 महीनों में 33 बार सिंचाई की गई। सामान्य विधि में 12 ली० जल उपयोग उपचार के फलस्वरूप बेर के पौधों की ऊँचाई 98.7 से० मी० हुई जबकि जल-तृप्ति में 3 ली० जल उपयोग उपचार में बेर के पौधों की ऊँचाई 100.6 से०मी० तक पहुँच गई। मूलवृन्त का व्यास सामान्य विधि में 1.49 से० मी० था जबकि जलतृप्ति में 1.64 से० मी० था। स्पष्ट है कि जल तृप्ति में 75 प्रतिशत जल की बचत के अतिरिक्त बेर के पौधों की बेहतर बढोतरी हुई। एक अन्य प्रयोग नीम के पौधे पर किया गया। इस प्रयोग में विभिन्न उपचार निम्न थे :

(1) सामान्य विधि, (2) तालाब की चिकनी मिट्टी, (3) जल अवशोषक पालीमर-जलशक्ति, (4) बेन्टोनाइट तथा (5) जल-तृप्ति। लगभग एक वर्ष के पश्चात् सभी उपचरों में समान मात्रा में जल के उपयोग के फलस्वरूप ऐसा देखा गया कि नीम के पौधों की वृद्धि सबसे अच्छी जल-तृप्ति उपचार में हुई। पौधों की ऊँचाई जल-तृप्ति में 100 से० मी० हुई जबकि सामान्य विधि, तालाब की मिट्टी, जल शक्ति तथा बेन्टोनाइट उपचारों में क्रमश: 62.3, 34.0, 46.3 तथा 65.1 से० मी० हुई। स्तम्भमूल संधि व्यास जलतृप्ति में 1.83 से० मी० था जबकि सामान्य विधि, तालाब की मिट्टी, जलशक्ति तथा बेन्टोनाइट उपचारों में क्रमश: 1.07, 0.76, 0.94 तथा 1.11 से० मी० था।

'जल-तृप्ति' में लगे पौधों को लगातार नमी उपलब्ध रहती है जिसके कारण जाड़े के मौसम में पाले का भी उन पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा जब कि अन्य उपचारों में मृत्यु दर 25 प्रतिशत थी।

जलतृप्ति के गुण

1. जल की बचत (85-90 प्रतिशत) तथा ड्रिप से अधिक जल की बचत करती है।
2. लम्बे अन्तराल के बाद पानी डालने की आवश्यकता, जिसके फलस्वरूप मजदूरी की बचत होती है।
3. जल के अपव्यय पर रोक।
4. पौधे को नमी नियंत्रित रूप से लगातार उपलब्ध होती रहती है।
5. इसको बनाने की सामग्री सर्वत्र उपलब्ध होती है तथा सस्ती भी है।
6. यह पौधे की मुरझान और प्रतिरोपण झटके को कम करती है तथा शत प्रतिशत पौधों को जीवित रखने में सहायक है।

7. इसमें लगे पौधों की वृद्धि दर में तेजी आती है।
8. इसके द्वारा पौधे स्व-स्थाने भी उगाये जा सकते हैं और इस प्रकार निम्नीकरण न होने वाले पदार्थों जैसे पोलीथीन का अत्याधिक उपयोग बचाया जा सकता है।
9. खाद, पोषक तत्व तथा कीट एवं व्याधि नाशक तत्वों के उपयोग में सीमित मात्रा की आवश्यकता।
10. सीमित जल-क्षेत्र होने से खरपतवारों का न्यूनतम प्रकोप।
11. पौधों के साथ भारी तला होने के कारण यह तकनीक रेतीले टीलों के स्थिरीकरण में सहायक है।
12. सभी तरह की समस्याग्रस्त मृदाओं में यह तकनीक सफलतापूर्वक काम कर सकती है।
13. ग्रामीण रोजगार बढ़ाने तथा शीघ्रतापूर्वक पर्यावरण के सुधार में यह तकनीक अत्यन्त लाभदायक है।
14. इस तकनीक में कुशल कारीगर अथवा ऊर्जा की आवश्यकता नहीं होती है।

■ ■

मरु प्रदेश में पशुपालन

जे॰ पी॰ मित्तल

मरुस्थलीय क्षेत्र में जहाँ कृषि की फसल उगाना एक जुए के खेल के समान है, वहीं इस क्षेत्र के लिए पशुपालन एक वरदान है। फसल उगाने को जुए की संज्ञा इसलिए दी गई है कि यहाँ कि मिट्टी अधिक रेतीली हैं तथा उसमें पानी को अपने अन्दर संचित करने की क्षमता बहुत कम है। दूसरे यहाँ या तो वर्षा बहुत कम होती है और अगर किसी साल होती भी है तो उसका समय इतना कम दिनों का होता है कि फसलों को समय पर उचित पानी नहीं मिल सकता। सिंचाई के साधन या तो है नहीं और अगर है भी तो कुओं का पानी इतना खारी है कि कृषि के योग्य नहीं है। जब वर्षा होती है तो किसान किसी प्रकार के भूमि की जुताई करके उसमें खाद व बीज वगैरह डाल देता है। फिर उसकी नजर आसमान की ओर होती है कि समय पर पुनः वारिश आ जाये तो उसकी फसल बढ़ सके जिससे कि उसे आमदनी हों। परन्तु वारिश है कि समय पर आने का नाम नहीं लेती। संभवतः 3-4 वर्ष में एक बार समय पर आती है। बाकी समय किसान की सारी मेहनत व लागत बेकार जाती है। कभी-कभी तो किसान दो बार जुताई करते हैं, परन्तु फिर भी कुछ नहीं मिलता।

देश की सर्वोत्तम पशुओं की नस्लें

पशुपालन इस क्षेत्र के किसानों के लिए वरदान क्यों है, उसके भी कई कारण हैं। अपने देश का हर पशु चाहे वह गाय हो, भैंस हो, ऊँट हो, बकरी हो, भेड़ हो या घोड़ा हो, की सबसे अच्छी नस्लें इस क्षेत्र में पायी जाती

अध्यक्ष, पशु विज्ञान संभाग, केन्द्रीय क्षेत्र अनुसंधान संस्थान, जोधपुर-342003

हैं। यही नहीं ये पशु यहाँ की कठिन से कठिन विषम परिस्थितियों में न सिर्फ जीने की क्षमता रखते हैं वरन् अपनी उत्पादन क्षमता भी बनाये रखते हैं। शुष्क क्षेत्र होने के कारक यहां इन पशुओं में बीमारियाँ भी अन्य क्षेत्रों की तुलना में कम होती हैं।

गोवंश के क्षेत्र में मरु प्रदेश सबसे आगे है। गोवंश के क्षेत्र में प्राचीन समय से मरु प्रदेश में अग्रणी रहा है तथा आज भी देश में सबसे आगे है। इस प्रदेश की दुधारू नस्लें सिन्धी, व साहीवाल आज कम संख्या में मिलती हैं क्योंकि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ये नस्लें पाकिस्तान में बहुतायत में मिलती हैं। फिर भी अपने देश की सर्वश्रेष्ठ दुधारू गायों की नस्लें थारपारकर, राठी तथा गिर इस प्रदेश की मूल निवासी हैं तथा यहाँ बहुतायत में मिलती हैं। इसी प्रकार देश की सबसे अच्छी दोहरी किस्म की नस्ल कॉकरेज (नागोरी) से यह प्रदेश भरा पड़ा है। यहाँ की नागौरी, नस्ल कृषि तथा कृषि सम्बन्धित कार्यों के लिए न सिर्फ देश में बल्कि विदेशों में भी प्रसिद्ध है। इस संस्थान में इन में से 3 मुख्य नस्लों के विकास पर अनुसंधान तथा प्रसार कार्यक्रम चल रहा है। थारपारकर नस्ल पर जोधपुर में, राठी नस्ल पर बीकानेर स्थित क्षेत्रीय अनुसंधान केन्द्र पर तथा कॉकरेज नस्ल पर पाली क्षेत्रीय अनुसंधान केन्द्र पर कार्य चल रहे हैं।

मरु प्रदेश भेड़ पालन के लिए प्रसिद्ध है। अपने देश में उत्पन्न ऊन की 40 प्रतिशत मात्रा इसी प्रदेश की पैदावार का हिस्सा है। इस प्रदेश की विषम परिस्थितियों में भेड़ पालन यहाँ के किसानों की आय का एक मुख्य साधन है। अपने देश की भेड़ों की सबसे अच्छी 6 नस्लें इस प्रदेश में पायी जाती हैं। इनमें चोकला नस्ल से सबसे उत्तम व नाली नस्ल से सबसे लम्बे रेशेवाली ऊन प्राप्त होती है। मागरा, मारवाडी, पूगल तथा जैसलमेरी नस्लें गलीचा किस्म की ऊन उत्पादन के लिए न सिर्फ देश में बल्कि विदेशों में भी प्रसिद्ध हैं। इन नस्लों के विकास पर
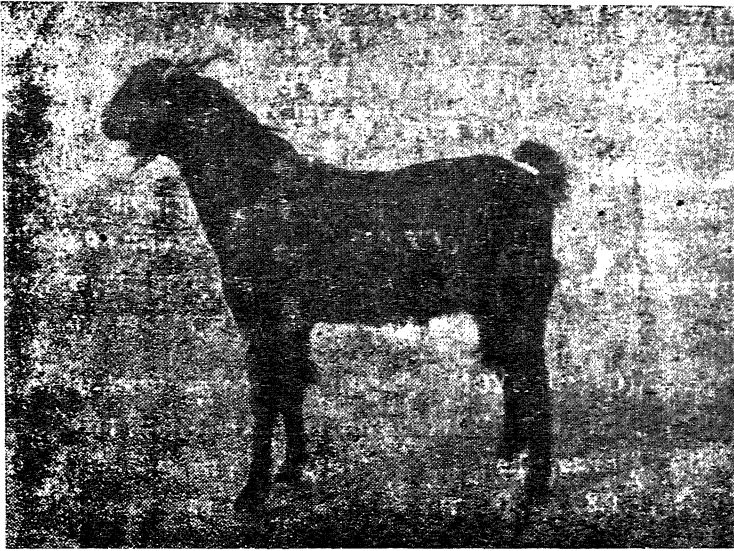
चित्र-1. मारवाडी नस्ल का बकरा

इस संस्थान में अनुसंधान व प्रसार कार्य चल रहा हैं। इन नस्लों की उपयोगिता को देखकर, भारत सरकार ने केन्द्रीय भेड़ व ऊन अनुसंधान संस्थान का एक क्षेत्रीय अनुसंधान केन्द्र बीकानेर में शुरू किया है।

दूध, मांस एवं बाल उत्पादन के लिए बकरी पालन यहाँ एक विशेष स्थान रखता है। इस संस्थान के पूर्व प्रयोगों से ऐसा पाया गया है कि मरु प्रदेश की जलवायु के अन्तर्गत बकरी पालन गाय पालन की तुलना में 135 प्रतिशत अधिक लाभकारी है। इसी प्रकार बकरी पालन भेड़ पालन की तुलना में 120 प्रतिशत अधिक लाभदायक है। ये परिणाम 6 वर्ष की अवधि के प्रयोगों से सामने आये हैं। यदि हम प्रथम वर्ष से तुलना करें तो यह परिणाम और भी उत्साहवर्धक है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम तथा छठे वर्ष में बकरी पालन, गाय पालन व भेड़ पालन से क्रमशः 633 एवं 16, 3 एवं 45, 63 एवं 110, 258 एवं 185, 275 एवं 154 तथा 157 एवं 147 प्रतिशत अधिक लाभदायक रहा। इस प्रदेश के मूल रूप से मारवाड़ी नस्ल की बकरी ही मिलती है (चित्र 1)। इस संस्थान के पशु वैज्ञानिक व इस आलेख के लेखक ने इसी प्रदेश में दो उत्तम नस्लों की खोज की है। प्रथम नस्ल जो नागौर जिले के परबतसर कस्बे के आसपास बहुतायत में मिलती है को परबतसर नस्ल नाम दिया गया है (चित्र 2)। इसी प्रकार दूसरी नस्ल को शेखावाटी नाम दिया गया है (चित्र 3) क्योंकि यह नस्ल मुख्यतः इस प्रदेश के शेखावाटी क्षेत्र में ही मिलती है। इन दोनों नस्लों की बकरियों की दुग्ध-उत्पादन क्षमता बहुत अच्छी है जबकि मारवाड़ी नस्ल की बकरियाँ कम मात्रा में दूध देती हैं।

चित्र-2. परबतसर नस्ल का बकरा

ऊँट इस प्रदेश का ही पशु है तथा इसकी उपयोगिता सबसे अधिक इसी प्रदेश में है। अपने देश के मैदानी क्षेत्रों में ऊँटों की 3 मुख्य नस्लें है तथा ये तीनों ही इसी प्रदेश की मूल निवासी हैं। बीकानेरी नस्ल देश में

सबसे अच्छी मानी जाती है। यह नस्ल खेतों में काम करने, बोझा ढोने व अन्य कृषि कार्यों में काम आती है। जैसलमेरी नस्ल आमतौर पर सवारी करने के काम आती है। तीसरी नस्ल है काठियावाड़ी जो दोनों काम आती है। अपने देश का एक मात्र उष्ठ अनुसंधान केन्द्र बीकानेर में स्थित है जिसमें इस पशु के विकास के लिए अनेक कार्यक्रम चल रहे हैं।

अश्व पालन के क्षेत्र में भी मरु प्रदेश देश में सबसे आगे है। अपने देश की घुड़सवारी व घुड़दौड़ की सबसे अच्छी नस्लें इसी प्रदेश की मूल निवासी हैं। यहाँ की मारवाड़ी नस्ल व काठियावाड़ी नस्ल न सिर्फ अपने देश में बल्कि विश्व में अपना स्थान रखती हैं। इसी कारण भारत सरकार ने भी अश्व प्रजनन केन्द्र बीकानेर में ही खोला हैं। गधा यहाँ की कृषि में अपना एक विशेष स्थान रखता है। सीमान्त व लघु कृषक इस पशु से अपने खेतों की जुताई करते है। कृषि उत्पादनों व पशु उत्पादनों को गाँवों से शहर तक लाने में इस प्रदेश में गधा-गाड़ियों का विशेष स्थान है, खासकर छोटे व गरीब किसानों के लिए।

यह प्रदेश मुर्गी पालन के लिए अधिक उपयुक्त नहीं है क्योंकि यहाँ की जलवायु अधिक तापमान, तेज चलने वाली हवाओं तथा रेतीली मिट्टी के कारण यहाँ के ग्रामीण क्षेत्रों में मुर्गी पालन को सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता। सूअर पालन के लिए यह प्रदेश अनुपयोगी है क्योंकि यहाँ की परिस्थितियों विशेषकर पानी व दाने की कमी में सूअर नहीं पाले जा सकते।

मरुस्थलीय क्षेत्र के विस्तार में पशुओं की भूमिका

क्योंकि भेड़ व बकरी मरु भूमि पर जो कुछ हुए भी घास, पौधे तथा खरपतवार उगते हैं को चर सकती हैं तथा चारे और पानी की खोज में बहुत दूर तक चल सकती हैं इस कारण इनको मरुस्थलीय क्षेत्र को बढ़ाने के लिए जिम्मेदार ठहराया जाता रहा है। वैज्ञानिक तौर पर यह बात सही नहीं है। 1987 में भारत के कृषि एंव ग्रामीण विकास विभाग ने एक अति उच्चस्तरीय समिति (टास्क फोर्स) का गठन किया था यह पता लगाने के लिए कि भेड़-बकरियाँ पालन का अति नाजुक परिस्थितियों वाले क्षेत्रों पर क्या असर पड़ता है। इन क्षेत्रों में मरु प्रदेश सबसे अधिक नाजुक माना गया था। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में यह सिद्ध किया कि ऐसे क्षेत्रों में भेड़-बकरी नुकसान की वजह के बजाय फायदेमन्द होती हैं। सर्वप्रथम तो इस क्षेत्र की 40 प्रतिशत भेड़-बकरियाँ हर वर्ष मांस उत्पादन के लिए काट दी जाती हैं ताकि इनकी संख्या पर नियन्त्रण रहे। दूसरे भेंड़ तथा बकरियों की चरने की प्रवृति एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक दूसरे को मदद करने की है। भेड़ भूमि पर उगी हुई घास को खाती है तथा बकरी भूमि की सतह से ऊपरी उगी वनस्पति को ही खाती है। बकरी वास्तव में मरुस्थलीय क्षेत्र को रोकने में तथा उसको पुनः हराभरा बनाने में मदद करती है। यह किसी भी प्रकार की वनस्पति को खाकर अपना जीवन पालन कर सकती है। कई विकसित तथा विकासशील देशों में बकरियों को खरपतवार हटाने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। आॅस्ट्रेलिया, न्यूजीलैन्ड तथा मलेशिया में बकरी को जंगलों में से खरपतवार को हटाने का सबसे सस्ता साधन माना जाता है।

इस संस्थान में हाल ही में किये गये अध्ययनों से पता चला है कि मरु प्रदेश में बकरी का प्रयोग ज्वार तथा बाजरा की फसलों से खरपतवार हटाने के लिए किया जा सकता है। यदि सीमित संख्या में बकरी इन फसलों में

छोड़ी जाय तो वह सिर्फ खरपतवार खाना पसन्द करती है और जब तक खरपतवार उसे मिलते रहेगें वह फसल को नहीं छुयेगी। बकरी मरु प्रदेश में वृक्षों के बीजों को फैलाने में तथा उगने की शक्ति में वृद्धि करती है। बकरी अनेक पेड़ों की फलियां खाती है, उनके बीजों का बाहरी आवरण बकरी के पेट में जाकर मुलायम हो जाता है। बकरी की मैंगनी के साथ ये बीज अनेक स्थानों पर फैल जाते हैं तथा वे आसानी से अंकुरित हो जाते हैं। सन् 1992 में एशिया में पहली बार भारत में बकरी पर अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी हुई जिसके माध्यम से यह पता चला कि बकरी पौधे या पेड़ की जिस पत्ती या डाल को खाती है तो उस जगह उसकी लार गिरने के कारण वहाँ अगली पत्ती या डाल बहुत जल्दी निकल आती है। इस प्रकार बकरी मरुस्थलीय क्षेत्र को हरा भरा बनाने में मदद करती है। हाँ इतना आवश्यक है कि इसकी चराई पर नियंत्रण रखा जाय, क्योंकि थोड़ी जगह में यदि अधिक बकरियाँ चरने को छोड़ दी जायेंगी तो अवश्य ही नुकसान करेंगी।
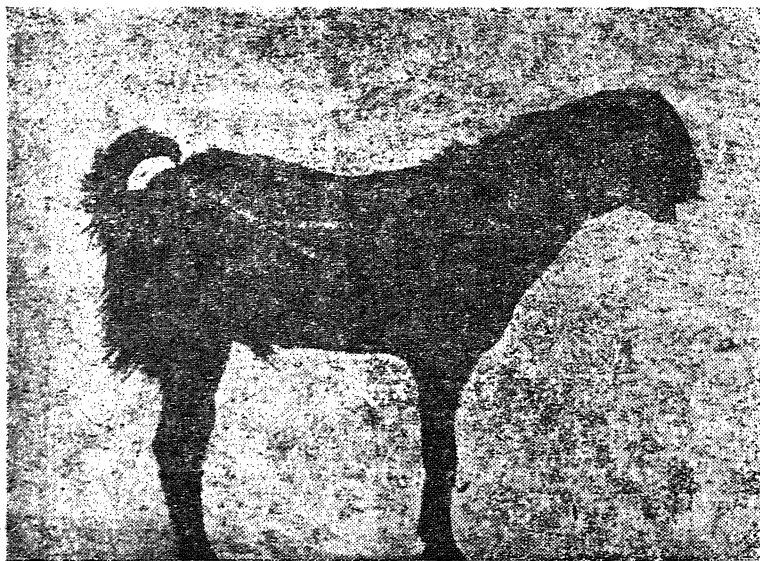
चित्र-3. शेखावाटी नस्ल का बकरा

अकाल का जीवन बीमा पशुधन

मरु प्रदेश में अकाल पड़ना उतना ही निश्चित होता है जितना कि देश के अन्य क्षेत्रों में अकाल का न पड़ना। अकाल पड़ना यहाँ के जीवन का एक भाग है। अकाल के समय फसल समाप्त होने के कारण यहाँ के ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों के पास न तो कोई काम होता है और न ही कोई आय का साधन। इन हालातों में इन किसानों के लिए कुछ न कुछ आय का साधन होना आवश्यक है। इन हालातों में पशुपालन एकमात्र साधन रह जाता है किसानों की जीविका चलाने का। इसी कारण मरु प्रदेश में डेरी विकास एवम् भेड़ तथा बकरी विकास अकाल राहत कार्यक्रम के मुख्य पहलू हैं।

कृषि उत्पादन की तुलना में पशु उत्पादन पर अकाल का विपरीत प्रभाव कम पड़ता है। अकाल के वर्षों में जब कृषि उत्पादन 10 प्रतिशत से भी कम होता है तब भी पशु उत्पादन 50 प्रतिशत से अधिक हो जाता है। पशुओं द्वारा उत्पादित पदार्थों जैसे दूध, घी, माँस एवम ऊन को घर पर प्रयोग में लाने के बाद भी बाहर बेच कर किसान की लगातार आमदनी का रास्ता बना रहता है। इस संस्थान के एक सर्वेक्षण के अनुसार जिस साल साधारण वर्षा की तुलना में यदि 25 प्रतिशत वर्षा होतो है उस साल पशु तथा पशु उत्पादन 20-25 प्रतिशत गिरता है। इसी प्रकार जिस साल साधारण वर्षा की तुलना में 90 प्रतिशत वर्षा होती है उस साल पशु तथा पशु उत्पादन मात्र 10 प्रतिशत गिरता है। इन कारणों से मरु प्रदेश में पशुपालन को कृषि की जगह उद्योग का रूप दिया जाना चाहिए।

ग्रामीण क्षेत्र में एक प्रयोग द्वारा ऐसा पाया गया कि यदि एक हैक्टेयर भूमि में किसान घास की खेती करें उसे कुए के पानी से सींचे तो इस भूमि पर वह वर्ष भर 6 भैंसों को आसानी से पाल सकता है। साथ में कुछ बकरियां तथा मुर्गियाँ भी पल सकती हैं। इन 6 भैंसों से वह किसान सारा खर्चा निकाल कर 7200 का लाभ अर्जित कर सकता है। काजरी के पशु वैज्ञानिकों ने बकरी पालन से आमदनी के आंकड़े निकाले हैं जिनके अनुसार 100 बकरियों के झुन्ड से एक बकरी पालक वर्ष भर में 23100 रुपये का लाभ कमा सकता है। केन्द्रीय बकरी अनुसंधान केन्द्र, पराह (लथुरा) के वैज्ञानिकों के अनुसार एक बकरी से वर्ष में 250 रुपये की आमदनी हो सकती है। इसी प्रकार केन्द्रीय भेड़ व ऊन अनुसंधान संस्थान आविकानगर (मालपुरा) के वैज्ञानिकों ने भेड़पालन से लाभ के आंकड़े प्रस्तुत किये हैं जिनके अनुसार 100 भेड़ों के झुन्ड से वर्ष भर में 6146 रुपये का कुल लाभ हो सकता है।

विषम परिस्थितियों में उत्पादन की क्षमता

देश के अन्य मैदानी क्षेत्रों की तुलना में यहाँ के सभी पशुओं को जीवित रहने तथा उत्पादन बनाये रखने के लिए बहुत ही कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। इनमें सर्वप्रथम है अत्यधिक तापमान। इस संस्थान के पशु वैज्ञानिकों ने अनेक प्रकार के प्रयोगों के बाद ऐसा पाया है कि यहाँ के निवासी सभी पशु निकटवर्ती राज्यों के पशु ही यहाँ की कठिन परिस्थितियों को सहन कर सकते हैं। इस प्रदेश में किसी भी प्रकार का विदेशी व संकर नस्ल का पशु यहाँ की विषम परिस्थितियों का सामना नहीं कर सकता। सर्वेक्षणों से पता चला कि यहाँ के शहरी क्षेत्रों में भी जहाँ सारे साधन उपलब्ध हैं संकर नस्ल की गाये पालना, शुद्ध देशी नस्ल की गाय पालने की तुलना में अधिक लाभकारी नहीं है। जबकि संकर गाय पालने में बीमारियों तथा उसके मरने का खतरा कहीं अधिक है। प्रयोग से ज्ञात हुआ कि इस प्रदेश में संकर नस्ल की बकरियां नहीं पाली जा सकतीं क्योंकि यहाँ की गर्मी इनका उत्पादन व जीवित रहने की क्षमता बहुत गिर जाती है। विदेशी व संकर नस्ल की भेड़ों के उत्पादन पर गर्मी का अधिक प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु उनके जीवित रहने की क्षमता बहुत ही कम हो जाती है, यहाँ की अत्यधिक गर्मी में।

कठिन परिस्थितियों में दूसरा नम्बर है यहाँ पर चारे की कमी। यहाँ के पशु 6 महीने भरपेट खाते हैं तथा 6 महीने उन्हें भरपेट चारा नहीं मिल पाता यानि भूखे रहते हैं। यह बात भेड़-बकरियों तथा अनुत्पादित गायों व बछियों के साथ अधिक सही है क्योंकि उत्पादन देने वाली गायों को तो किसान किसी भी प्रकार खिलाता ही है। यहाँ की जलवायु तथा विषम परिस्थितियों में फसल उगाने की जगह यदि घास उगाने पर अधिक जोर दिया जाय

तो न सिर्फ इस प्रदेश का पशु उत्पादन बढ़ेगा बल्कि किसानों की आमदनी भी बढ़ेगी। किसानों को हर वर्ष या 6 महीने बाद रेवड़ में औसत से कम उत्पादन देने वाले पशुओं को बेचते रहना चाहिए ताकि प्रति पशु उत्पादन बढ़े व चारे की कमी दूर हो।

तीसरी कठिन परिस्थिति है पीने के पानी की कमी। इसके लिए इस संस्थान के पशु वैज्ञानिक पिछले 25 वर्षों से प्रयोग करते आ रहे हैं। इन प्रयोगों से सिद्ध हुआ है कि गायों को दिन में कई बार पानी पिलाने के बजाय यदि एक बार भरपेट पानी पिला दें तो उनकी वृद्धि दर व उत्पादन क्षमता पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा करने से 23-30 प्रतिशत पानी की बचत हो सकती है। मांस उत्पादन के लिए पाली गई बकरी को यदि रोज पानी पिलाने की जगह हफ्ते में सिर्फ 2 दिन ही पानी पिलाया जाय तो भी उसकी उत्पादन क्षमता पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। इस विधि से 50 प्रतिशत से अधिक पानी बचाया जा सकता है। परन्तु दूध देने वाली बकरी को सप्ताह में तीन बार पानी पिलाना आवश्यक है तथा ऐसा करने से 40 % पानी बचाया जा सकता है। भेड़ को तो प्रति सप्ताह दो बार पानी पिला कर उसको जिन्दगी भर पाला जा सकता है वह भी बिना किसी नुकसानदायक प्रभाव के। ऐसा करने से 50 प्रतिशत तक पानी बचाया जा सकता है या 100 भेड़ के पानी पर 200 भेड़े पाली जा सकती हैं।

मरु प्रदेश में पानी की कमी के साथ-साथ यहाँ के पानी का खारापन पशु उत्पादन में एक अलग कठिन परिस्थिति है। पानी का खारापन कई प्रकार का होता है जैसे कुल घुलनशील लवण की अधिक मात्रा, नाइट्रेट की अधिक मात्रा, मैगनीशियम की अधिक मात्रा तथा फ्लोराइड की अधिक मात्रा। इस संस्थान के पशु वैज्ञानिक पिछले 10-12 वर्षों से विभिन्न किस्मों के खारे पानी का पशु उत्पादन पर प्रयोग करते आ रहे हैं जिनसे बहुत ही उत्साह वर्धक परिणाम सामने आये हैं। इस प्रदेश की भेड़ तथा बकरियों को ऐसे पानी पर बहुत ही आसानी से पाला जा सकता है जिसमें कुल घुलनशील लवणों की मात्रा 0.5 प्रतिशत तक हो। इसी प्रकार यदि पानी में नाइट्रेट की मात्रा 1.0 ग्रा० प्रति लीटर तक हो तो उस पर भी बिना प्रतिकुल प्रभाव के भेड़ तथा बकरियों को पाला जा सकता है। मैगनीशियम यदि पानी में 0.4 प्रतिशत तक भी हो तो भी वह भेड़ तथा बकरियों की उत्पादन क्षमता पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालता। फ्लोराइड युक्त पानी पर भी भेड़ तथा बकरियाँ पाली जा सकती हैं बशर्ते कि पानी में इसकी मात्रा 0.02 ग्रा० प्रति लीटर तक हो। भेड़ तथा बकरियों की यह क्षमता, मनुष्यों की फ्लोराइड युक्त पानी की सहन क्षमता का 10 गुना अधिक है।

■ ■

मरुस्थलों की हरियाली ही खुशहाली है

सुनील कुमार पाण्डेय

मरुस्थल का नाम सुनते ही हमारा मन विभिन्न प्रकार की आशंकाओं से घिर जाता है। उदाहरणस्वरूप वहाँ के लोग जल की समस्या से कैसे निपटते होंगे ? उनकी आय का साधन क्या होगा ? आदि। इस प्रकार के प्रश्न मन-मस्तिष्क पर छा जाते हैं। वास्तव में मरुस्थल उन भूखण्डों को कहा ही जाता है, जहाँ पर रेत, चट्टानें व पत्थर प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं, जल एवं वनस्पति की कमी होती है, तापमान अत्यधिक या न्यूनतम रहता है तथा वर्षा भी बहुत कम होती है।

भारत का विशालतम मरुस्थल थार है, जिसे कि "द ग्रेट इण्डियन डेजर्ट" के नाम से भी जाना जाता है। यह अरावली पर्वत श्रृंखला में $22^0 30''$ से $32^0 05''$ उत्तरी अक्षांश तथा $68^0 05''$ से $75^0 45''$ पश्चिमी अक्षांश तक विस्तृत है।

ऐसा नहीं है कि यह स्थल शुरू से ही ऐसा रहा है। वास्तविकता तो यह है कि आज की यह स्थिति मनुष्यों के पूर्वजों द्वारा उत्पन्न की गयी है। प्राचीन काल में यहाँ सरस्वती तथा घग्घर नामक दो नदियाँ बहती थीं तथा पूरा क्षेत्र हरे-भरे जंगलों से परिपूर्ण था। कालान्तर में जंगल को मनुष्य द्वारा लगातार काटे जाने, जानवरों द्वारा लगातार चराई करने, आग लगने आदि विविध कारणों से जंगल नष्ट हो गये, तथा नदियाँ सूख गयीं। यही कारण है कि इस मरुस्थल को मानव निर्मित मरुस्थल के रूप में भी जाना जाता है।

वैसे तो मरुस्थल में गर्मी प्रचण्ड रूप से पड़ती ही है, किन्तु यहाँ गर्मी की प्रचण्डता जानवरों को ही नहीं, पेड़-पौधों तक को झुलसा देती है। लेकिन इन समस्याओं का मुकाबला करते हुए यहाँ के जन-समुदाय ने अपने आप में जिस प्रकार से जीने की जिजीविषा उत्पन्न की है, उसने अपना प्रभाव दिखाना शुरू कर दिया है। मरुस्थलीय क्षेत्रों में आज लहलहाती हुई फसलें इन्हीं की ही तो देन हैं। यहाँ के लोगों ने प्रकृति की विकट परिस्थितियों से भली प्रकार सामन्जस्य स्थापित कर लिया है। इस क्षेत्र की वनस्पतियाँ अति संवेदनशील हैं तथा वर्षा की फुहार पड़ते ही मरुस्थलीय क्षेत्र हरा-भरा दिखाई देने लगता है।

इस क्षेत्र का पर्यावरण उतना प्रदूषित नहीं है, जितना कि देश के अन्य प्रमुख शहरों का। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि यहाँ औद्योगिक विकास की गति अत्यंत धीमी है। यही नहीं, यहाँ जनसंख्या घनत्व भी कम है, इसलिए स्वाभाविक है कि प्रदूषण ने विकराल रूप नहीं धारण किया है। जनसंख्या घनत्व कम होने या औद्योगिकीकरण को अपेक्षित गति न मिलने के पीछे संभवतः यहाँ की विपरीत प्राकृतिक परिस्थितियाँ ही उत्तरदायी हैं।

शोध छात्र, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद-211002, उत्तर प्रदेश

पुरातत्व विभाग को खोजों से यह ज्ञात हुआ है कि आज से लगभग 5000 वर्ष पूर्व यहाँ सिन्धु घाटी की पूर्ण विकसित सभ्यता विद्यमान थी। धीरे-धीरे यह सभ्यता नष्ट हो गयी तथा यह क्षेत्र मरुस्थल में परिणित हो गया। विडम्बना यह है कि इस मरुस्थलीय क्षेत्र का लगातार विस्तार हो रहा है। वैज्ञानिकों के अनुसार उत्तर पश्चिम में यह विस्तार प्रत्येक दस वर्ष में 0.8 किलोमीटर की दर से बढ़ रहा है।

इस प्रसार को रोकने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि वृक्षारोपण को अधिकाधिक प्रोत्साहित किया जाय।

यहाँ की वनस्पतियों में मुख्य रूप से सिवान घास, फोग, थोर, खेजड़ी, रोहिरा, केर, बबूल, खेम, जाल, बावलिया, आक आदि पाये जाते हैं। वृक्षारोपण हेतु वृक्षों का चुनाव करते समय इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि इसके लिए ऐसे वृक्षों का ही चयन किया जाय, जो कि यहाँ की जलवायु, मृदा आदि के अनुकूल हों। बबूल, बेर, खेजड़ी, सरेस, पार्किनसोनिया, बावलिया आदि ऐसे वृक्ष हैं जिनका प्रयोग इस कार्य हेतु किया जा सकता है।

वृक्षारोपण से जहाँ एक ओर मरुस्थल का प्रसार रुकेगा वहीं इस क्षेत्र की आर्थिक दशा भी सुधरेगी तथा वर्षा की सम्भावना भी बढ़ेगी। साथ ही पशुओं के लिए चारा तथा ईंधन की समस्या का भी समाधान, आंशिक रूप से ही सही, अवश्य होगा। यही नहीं, वृक्षारोपण के द्वारा बिगड़ते पर्यावरण की समस्या का भी समाधान सफलतापूर्वक किया जा सकता है। कुल मिलाकर वृक्षारोपण के द्वारा मरुस्थलों के निवासियों का जीवन खुशियों से भरा जा सकता है।

यदि हमें बढ़ती जनसंख्या को भोजन उपलब्ध कराना है तो यह जरूरी है कि देश के प्रत्येक बेकार पड़े भू-भाग का उपयोग कृषि के लिए किया जाय और उसको सुधारने के हर सम्भव प्रयास किये जायें। यदि हम दृढ़ संकल्प के साथ जुट जायें तो हमें सफलता अवश्य मिलेगी। इन्दिरा गांधी नहर द्वारा राजस्थान की मरु भूमि में आयी हरियाली इसका जीता-जागता प्रमाण है।

हालांकि सरकारी व गैर सरकारी स्तर पर थार मरुस्थल को हरा-भरा बनाने के अनेक प्रयत्न हो रहे हैं तथा उसमें सफलता भी मिली है, लेकिन यह भी सत्य है कि जिस गति से यह कार्य हो रहा है, उससे ऐसा लग रहा है कि इस कार्य को सम्पन्न होने में काफी समय लगेगा।

ऐसे में जरूरत इस बात की है कि प्रभावित लोग स्वयंमेव आगे आकर इस महत्वपूर्ण कार्य में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करें, जिससे इस महत्वपूर्ण कार्यक्रम को शीघ्रातिशीघ्र एवं अधिकाधिक सफल बनाया जा सके। इसमें दो राय नहीं कि जिस दिन ऐसा हो जायेगा, उसी दिन से यह भू-भाग देश की आर्थिक व सामाजिक प्रगति में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका सफलतापूर्वक निभाना प्रारंभ कर देगा और इसी के साथ देश की प्रगति के रथ का पहिया तीव्रता से चलने लगेगा। अतएव हमें अधिक से अधिक वृक्षों को लगाकर मरुस्थलों को हरा-भरा बना देना चाहिए, क्योंकि मरुस्थलों की हरियाली ही वास्तविक खुशहाली है।

■ ■

रेगिस्तानी मृदा-कितनी उर्वर ?

डॉ० सुनील दत्त तिवारी

कहते हैं रेगिस्तान यानी मिट्टी की नगण्य उत्पादकता। ऐसा क्यों कहते हैं? यह बात कितनी सच हैं? रेगिस्तानी मिट्टी (Desert soil) यानी बालू की प्रधानता क्या। ऐसा है? रेगिस्तान यानी वनस्पति के नाम पर वही कांटेदार नागफनी, झरबेरी की झाड़ियाँ। क्या यही रेगिस्तान है? आइये कुछ गहराई में चलें। शायद कुछ हम ढूंढ़ सकें।

'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के अनुसार कोई भी विस्तृत क्षेत्र जो लगभग पूर्ण शुष्क हो तथा हल्का (sparse) वानस्पतीकरण हो, रेगिस्तान है। यह पृथ्वी का एक बड़ा और मुख्य पारिस्थितिक तन्त्र है जिसमें विपरीत पर्यावरण से समायोजित किये हुए पौधे और जानवरों के समुदाय पाये जाते हैं।

रेगिस्तानी क्षेत्र में शुष्कता का तात्पर्य पूर्ण शुष्कता नहीं अपितु यह है कि इसमें वर्षा की औसत वार्षिक मात्रा 250 मिलीमीटर (10 इन्च) तक होती है। पृथ्वी का लगभग 5% भाग इस प्रकार की वर्षा प्राप्त करता है। कम वर्षा के तापमान में मौसमीय परिवर्तनों का परिसर भी बहुत अधिक है। उदाहरण के लिए जाड़े के समय में गोबी मरुस्थल में तापमान इतना गिर जाता है कि बर्फीले तूफान (blizzards) आते हैं तथा गर्मियों का औसत तापमान 41-48° सेल्सियस तक हो जाता है। वर्षा तथा तापमान, ये दो कारक चट्टानों के अपक्षय और अन्य प्रभावों द्वारा मृदा निर्माण को बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित करते हैं। रेगिस्तान का ऊपरी धरातल देखने पर अनेक बालू की आकृतियों (टिब्बे), पवन आघात से शिलाओं की विभिन्न आकृतियां दृष्टिगोचर होती हैं। परन्तु ऐसा नहीं कि वहाँ मिट्टी है ही नहीं। वहाँ की मृदा पूर्णतया विकसित तथा संस्तरों (Profiles) से युक्त होती है। एक ऐसी ही मृदा की खड़ी काट में प्रेक्षित संस्तर निम्न प्रकार है—

संस्तर	गहराई और विवरण
एपी०	0-9 सेमी०, रंग-पीला भूरा (10 YR 5/4, D) मुंसेल कलर चार्ट के अनुसार, महीन दोमटी बालू, एकल कणाकार संरचना, हल्का ढीला (effervescent), अनेक महीन जड़ें तथा स्पष्ट चिकनी सीमा (boundary) वाला संस्तर।
ए/2	9-36 सेमी०, भूरे से लेकर पीला-भूरा (10YR 5.5/3D) महीन बलुई दोमट, कमजोर महीन से लेकर मध्यम उपकोणीय ब्लाक संरचना वाला, थोड़ा कड़ा, अत्यधिक चूर्णशील तथा हल्का चिपकने वाला (stiky), काफी ढीला (effervescent), अनेक महीन जड़ें, अनेक वेलनाकार टूटे हुए अथवा पूर्ण रन्ध्र, पी एच 8.1, हल्की चिकनी सीमा वाला संस्तर।

औद्यानिक प्रयोग एवं प्रशिक्षण केन्द्र, राजकीय उद्यान, खुशरू बाग, इलाहाबाद-211001

बी$_1$ 36-76 सेमी०, इसका रंग भूरे से पीला तक होता है। बहुत ही हल्का उपकोणीय से लेकर मध्यम ब्लाक वाली संरचना होती है। यह संस्तर कुछ कड़ा, शीघ्र चूर्णशील, हल्का चिपचिपा होता है। अनेक नालिकाकार रन्ध्र होते हैं तथा पीएच 8.3 होता है।

बी$_2$सी ए० 76-90 सेमी० गहराई होती है। पीले-भूरे से लेकर हल्के भूरे रंग (10 YR 6/3.5, D) का होता है। महीन बलुई दोमट मिट्टी, मध्यम उपकोणीय ब्लाक की संरचना होती है जो थोड़ी कड़ी और चिपकने वाली होती है। इसमें आयतन के अनुसार चूने की मात्रा 5 से 7% तक होती है। अनियमित खड़े नलिकाकार रन्ध्र होते हैं। पीएच 8.3 होता है।

सी$_1$सी ए० गहराई 90-140 सेमी० होती है। रंग हल्के पीले-भूरे से लेकर हल्के भूरे होते हैं (10 YR 6/3.5, D) महीन बलुई दोमट मृदा जिसमें कमजोर मध्यम उपकोणीय ब्लाक संरचना होती है। यह हल्की कड़ी और हल्की चिपकने वाली होती है। शीघ्रता से चूर्णशील चूने की सान्द्रता आयतन के अनुसार 7-10% तक होती है। महीन अनियमित रन्ध्राकाश होते हैं तथा पीएच 8.4 होता हैं।

सी$_2$ गहराई 140 से अधिक होती है। पीलापन लिए भूरा रंग होता है (10 YR 5/4 D)। कंकड़ीय महीन बलुई दोमट मिट्टी होती है। कमजोर मध्यम उपकोणीय ब्लाकी संरचना होती है। चूने की सान्द्रता आयतन के अनुसार 20-25% तक होती है। इसमें महीन अनियमित खड़े नलिकाकार रन्ध्राकाश होते हैं। पीएच 8.4 होता है।

(ये संस्तर चिरारी, जोधपुर, राजस्थान की मिट्टी के हैं)

इन संस्तरों में कार्बोनेट का एकत्रीकरण इस प्रकार की मृदा का एक मुख्य गुण है। कार्बोनेटों का इसमें लगातार एकत्रीकरण होता रहता है। यद्यपि वर्षा बहुत कम होती है फिर भी कार्बोनेट जैसे यौगिक एलुवियेशन (eluviation) तथा इलूवियेशन (illuviation) प्रक्रिया द्वारा नीचे के संस्तरों में एकत्रित होते रहते हैं क्योंकि अगस्त तथा अक्टूबर में वर्षा पर्याप्त होती है। ऊपर रंग के बारे में दिया गया विवरण मुन्सेल कलर चार्ट के अनुसार लिया गया है। M और D क्रमश: नमी और शुष्कता को प्रदर्शित करते हैं। उपरोक्त संस्तर स्पष्ट करते हैं कि गहराई के साथ मृदा के पी० एच० और कैल्शियम सान्द्रण में वृद्धि होती जा रही है। संरचना यह स्पष्ट करती है कि मृदा में कार्बनिक पदार्थों की मात्रा बहुत कम है।

थोड़े ही समय में अधिक वर्षा के होने से वनस्पतियाँ पर्याप्त मात्रा में उग आती है परन्तु शीघ्र ही इनका खनिजीकरण (mineralization) हो जाता है क्योंकि तापमान और शुष्कता अधिक होती है। इस तरह की मिट्टियों को क्षेत्रीय मिट्टियों के अन्तर्गत रखा जाता है जिनके संस्तर प्रभावी स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार बदल सकते हैं। इन्हें अन्तर्क्षेत्रीय (introzonal) समूह में रखा जा सकता है। इस प्रकार की मिट्टियों के उदाहरण के रूप में लवणीय (Solonchak) क्षारीय (Solonetz) और बोग (humus rich) मृदाएँ आती हैं।

30 से० मी० से कम वर्षा वाले क्षेत्र में बलुई मिट्टी में कार्बनिक कार्बन की मात्रा 0.05 से 0.2% मध्यम संरचना वाली मिट्टी में 0.2 से 0.3% तथा महीन संरचना वाली मृदा में 0.3 से 0.4% होती है। मृदा

में कार्बनिक पदार्थों की मात्रा कम होने के कारण इसकी संरचना दानेदार न होकर बलुई होती है। परिणामतः मृदा में जल तेजी से रिसकर नीचे चला जाता है। कहीं कहीं हल्का 'बी' संस्तर भी दिखाई देता है। क्ले की मात्रा भी बहुत कम 2-8% तक होती है। सोडियम क्ले की उपस्थिति से मृदा की पारगम्यता भी कम हो जाती है। मृदा में घुलनशील लवण होते हैं परन्तु उनकी सान्द्रता विषाक्त स्तर को पार नहीं करती। नाइट्रोजन की मात्रा कम होती है जबकि नाइट्रेट-नाइट्रोजन की मात्रा अधिक होती है। नाइट्रेट तथा फॉस्फेट की उपलब्धता ही नमी की स्थितियों में मृदा को उर्वर और उपजाऊ बनाती है। राजस्थान की मिट्टियां सूक्ष्ममात्रिक तत्वों के मामले में भी कम नहीं होती। इनमें अधिक मात्रा में जल में घुलनशील बोरॉन (8.20 भाग प्रति दश लक्षांश) होता है। घुलनशील जिंक की मात्रा 1.0 से 4.8 भाग प्रति दश लक्षांश तक होती है। घुलनशील कॉपर की मात्रा 0.21 से 4.28 प्रतिदश लक्षांश तक होती है। मैंगनीज की मात्रा भी काफी पाई गयी है। सवाईमाधोपुर की काली मिट्टी में घुलनशील मैंगनीज की कमी पाई गयी है। क्ले खनिज अधिकतर पैतृक पदार्थ (parent material) द्वारा प्रभावित होते हैं। ज्यादातर इलाइट (illite) क्ले खनिज की प्रधानता रहती है जिसमें थोड़ी मात्रा में केओलिनाइट, क्लोराइड और वर्मीकुलाइट जैसे क्ले खनिज भी होते हैं।

स्पष्ट है कि रेगिस्तानी विशेषकर राजस्थान की मृदा लवणता से प्रभावित है। वर्षा की कमी वानस्पतिक विकास को अवरूद्ध करती है। फिर भी ऐसा नहीं कि वहाँ वनस्पतियाँ ही न हों। पेड़ जैसे-खेजड़ी (Prosopis sp), बबूल (Acasia arabica), कैर (Capparis decidua), बेर (Ziziphus jujuba), अंकारा (Calatropis gigantea) आदि प्रमुखता से पाये जाते हैं। खनिज पदार्थों की मात्रा भी सामान्य होती है। यदि सिंचाई की उचित व्यवस्था हो तो पर्याप्त मात्रा में लवण-सहनशील फसलें उगाई जा सकती है। जैसे--बरसीम, लूसंन, जौ, कपास, सरसों, बाजरा, चना, तिल आदि। सूखा रोधी फसलें भी इन क्षेत्रों में उगाई जा सकती हैं। यदि किसी तरह से इनमें कार्बनिक पदार्थ की मात्रा बढ़ाई जा सके तो ये मृदायें अन्य मृदाओं की तरह ही उर्वर और उपजाऊ हो जायेंगी। ऐसा नहीं की इसके लिए प्रयत्न नहीं हो रहे हैं। राजस्थान के हरियाली विकास पर अब अधिक ध्यान दिया जा रहा है। इन्दिरा गाँधी नहर इस मामले में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। जगह-जगह पर अनुसंधान भी किये जा रहे हैं कि मृदा की नमी को किस तरह लम्बे समय तक बनाये रखा जाय। इस सन्दर्भ में काजरी (CAZR), जोधपुर के डॉ० आई० सी० गुप्ता का योगदान सराहनीय है। उन्होंने एक ऐसे उपकरण (device) जलतृप्ति की खोज की है जिसमें पौधों के लिए एक बार पानी की व्यवस्था कर देने पर नमी लम्बे समय तक बनी रहती है। विभिन्न कम्पनियों द्वारा निर्मित रसायन जैसे जल शक्ति या कीमोजार्ब-400 जो अपने कणों के आकार का दो सौ गुना पानी अवशोषित कर लेते है, का उपयोग भी काफी लाभदायक सिद्ध हो सकता है परन्तु इस विषय पर अभी और शोध की आवश्यकता है।

कुछ भी हो, राजस्थानी मिट्टी की उर्वरता में कोई सन्देह नहीं है। पौधे के विकास के लिए सारे तत्व उसमें उपस्थित रहते हैं। यदि सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था हो जाय तो अपना राजस्थान भी अन्य क्षेत्रों की तरह लहलहा उठेगा और "म्हारो सुरीलो राजस्थान" वास्तव में सुरीला हो उठेगा।

■ ■

रेगिस्तान में होने वाली बीमारियाँ

प्रो० पी० दत्ता एवं ए० के० दत्ता

दुनिया के कुल भू-भाग का एक तिहाई हिस्सा मरु भूमि है, एवम् हमारे देश में यह राजस्थान, पंजाब हरियाणा और गुजरात प्रदेश के कुछ हिस्सों में फैला हुआ है। राजस्थान का लगभग आधा भू-भाग रेगिस्तान है, जिसमें जैसलमेर, बाडमेर, चुरू, बीकानेर, नागौर, गंगानगर, पाली, जालौर और जोधपुर शामिल हैं।

तपती रेत, धूल भरी आँधियाँ, वर्षा एवम् पानी की कमी रेगिस्तान की विशेषता है, इन्ही कारणों से रेगिस्तान की आबादी नगण्य है। रेगिस्तान में रहने वाले ज्यादातर लोग घुमक्कड़ कहलाते है, यानि उनका निवास एक स्थान पर स्थिर नहीं होता तथा वह अपने जीविकोपार्जन के साधनों की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते हैं। इनका मुख्य व्यवसाय पशुपालन है। कुछ थोड़े से लोग ऐसे भी है, जो कि खेती पर निर्भर करते हैं।

जहाँ तक रेगिस्तान में होने वाली बीमारियों का सम्बन्ध है, वह अन्य इलाकों से कुछ भिन्न हैं, एवम् ज्यादातर इनका सम्बन्ध रहन-सहन खान-पान से जुड़ा हुआ है।

पीने के पानी से सम्बन्धित रोग

इनमें मुख्यतया दस्त, कृमिरोग, नारूरोग, फलूरोसिस, पथरी की बीमारी शामिल हैं। दस्त बच्चों में मृत्यु का प्रमुख कारण है, यह दूषित पानी के कारण होता है, एवम् शरीर में पानी तथा लवण के कमी हो जाने से इससे मृत्यु हो जाती है। कृषि रोग शारीरिक स्वचछता से सम्बन्धित है। नारू रोग जहाँ बावड़ो के पानी का उपयोग होता है वहाँ देखा गया है, और यह राजस्थान में नागौर और बाँसवाडा अंचल में पाया जाता है। रेगिस्तान में पानी आमतौर से गहरे कुँए से प्राप्त होता है। इसमें फ्लोरीन एवम् अन्य खनिजों की मात्रा अधिक होती है।

अधिक फ्लोरीन से फ्लोरीसिस नामक बीमारी होती है, जिसका असर दाँत एवं शरीर की 3 हड्डियों पर पड़ता है। पथरी का रोग भी रेगिस्तान में अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक देखा गया है, यद्यपि इसके कई कारण हैं जैसे पानी में अधिक मात्रा में खनिज का होना, खासकर ऑक्सलेट का शरीर से पसीनें के रूप में अधिक पानी का निकलना एवम् पीने के पानी की कमी के कारण मूत्र की मात्रा कम हो जाना तथा इस प्रकार शरीर में खनिज एकत्रित होकर पथरी को जन्म देने में सहायक सिद्ध होने है।

इन इलाकों में उन्नति के साथ-साथ कई नयी समस्यायें भी पैदा होती जा रही हैं, जैसे रेगिस्तान में नहर के आने से पीने के पानी एवम् सिचाई की सुविधा हुयी परन्तु साथ में नयी स्वास्थ्य समस्याएं भी उत्पन्न हुयी हैं।

---

1. डॉ० सम्पूर्णानन्द आयुर्विज्ञान महाविद्यालय, जोधपुर
2. प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, डॉ० सम्पूर्णानन्द आयुर्विज्ञान महाविद्यालय, जोधपुर

घरों में पानी अधिक मात्रा में उपलब्ध होने से एवम् इस्तेमाल किये हुये पानी की समुचित निकास व्यवस्था न होने के कारण जगह-जगह पानी एकत्रित होता है जिससे इन स्थानों पर कई प्रकार के रोग फैलाने वाले मच्छर, कीड़े-मकोड़े जन्म लेते हैं। इस कारण जो रोग पहले रेगिस्तान में नहीं होते थे, वे अब होने लगे है। इनमें मलेरिया, फाइलेरिया, काला अजार, जापनीज एनसिफेलाइटिस, वाइरल बुखार जैसे डैंगू इत्यादि प्रमुख हैं। इनसे छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय है पानी के निकास की उचित व्यवस्था।

हरियाली के साथ-साथ कई प्रकार के जानवरों की आबादी में भी वृद्धि हुयी है एवम् उनसे भी तरह-2 के रोगों की संभावना है। इस हरियाली से संबन्धित एक और समस्या है, जिससे कई खेतीहर मजदूर एवम् मालिक दूसरी जगह से रेगिस्तान में आये और अपने साथ वहाँ होने वाली बीमारियाँ भी लाये, अतः जो बीमारियाँ पहले रेगिस्तान की जलवायु के कारण नहीं होती थीं, वे अब होने लगी हैं, जैसे कोढ़ आदि। खेती में इस्तेमाल किये जाने वाली खाद एवम् कीटाणुनाशक दवाइयों से भी कई बीमारियाँ होने लगी हैं।

अन्य संक्रमण रोग

धूल, उच्च तापमान, व्यक्तिगत अस्वच्छता के कारण आँखों की कई बीमारीयाँ जैसे रोहा, (ट्रेकोमा), फूले का रोग (कंजंक्टीवाइटिस) आदि रेगिस्तान में अधिक मात्रा में पायी जाती हैं।

इन बीमारीयों से लोग इलाज न कराने पर अन्धे भी हो जाते हैं। अतः समय-समय पर आँखों की डॉक्टरी जाँच इसके रोकथाम में सहायक सिद्ध होती है। क्यूटेनियस सिसमेनियेसिस, धनुष टंकार (टिटेनस) और क्षय रोग (टी० बी०) भी रेगिस्तान में अधिक हैं। इन बीमारियों की रोकथाम के उपाय एवं इलाज उपलब्ध हैं। फिर भी दिनों दिन इनसे पीड़ित व्यक्तियों की संख्या बढ़ रही है। मेरे ख्याल से गरीबी, अशिक्षा, अज्ञानता के साथ-साथ स्वास्थ्य सेवाओं की कमी इन रोगों के बढ़ने के कारण हैं। इन दिनों कुछ अन्य रोगों के भी रेगिस्तान में बढ़ने के समाचार प्राप्त हुये हैं। पोलियो, तपेदिक, हैजा, गलाघोट, कुक्कर खाँसी, खसरा, छोटीमाता इत्यादि रोग भी अन्य जगहों की भाँति रेगिस्तान में भी होते हैं। लेकिन कभी-कभी खसरे का प्रकोप महामारी के रूप में कुछ गाँवों में देखा गया है जिसका कारण है, समय पर इलाज न मिलना। अब खसरे से बचने का टीका भी उपलब्ध हो गया है, जिससे इस बीमारी का प्रकोप रोका जा सकता है।

चर्म रोग

रेगिस्तान में चर्म रोग भी अधिक पाये जाते हैं। इनमें खुजली, दाद या डरमैटाइटिस, फोड़े, फून्सियाँ (बोइल्स) आदि प्रमुख हैं। व्यक्तिगत स्वच्छता एवं धूप से बचाव चर्म रोग के रोकथाम में काफी सहायक हैं।

तपती धूप और गर्म हवा के कारण यहाँ के लोगों को लू तथा तापघात का भी सामना करना पड़ता है। इससे बचने के लिये पानी पीकर एवम् शरीर को पूरा कपड़ों से ढँककर ही बाहर निकलना चाहिये।

भोजन में पोषक तत्वों की कमी से होने वाले रोग

वर्षा के अभाव एवम् यातायात की पूरी सुविधा उपलब्ध न होने से रेगिस्तानी इलाकों में एक प्रकार की अकाल की स्थिति बनी ही रहती है। संतुलित भोजन की कमी के कारण सूखा रोग एवं कई बिटामिन की कमी से

होने वाले रोग जैसे बिटामिन ए की कमी से रतौंधी एवम् अंधापन, बिटामिन सी की कमी से स्कर्वी, बिटामिन डी की कमी से रिकेट्स होते हैं।

यह रोग अधिकतर पाँच-साल से छोटे बच्चों में पाया जाता है। हरी सब्जियाँ व फलों के अभाव से गर्भवती महिलाओं में अक्सर खून की कमी की शिकायत होती है। कई लोगों का कहना है कि खाद्य में कमी के बावजूद भी रेगिस्तान के लोग हृष्टपुष्ट होते हैं। मेरे ख्याल से जो बचपन में इन संकटो को पार कर जाते हैं वे ही हृष्ट-पुष्ट होते हैं।

दूसरी बात यह हैं कि पहले रेगिस्तान में दूध, छाछ, घी, मक्खन की बहुतायत थी, लेकिन आज परिस्थिति बदल गयी है। डेयरी के मध्यम से प्राय: सभी रेगिस्तानी गाँव के लोग दूध बेच देते हैं, अत: स्वयं के परिवार के लिये भी दूध पर्याप्त मात्रा में नहीं रहता है। इसका प्रभाव भी बच्चों के स्वास्थ्य पर पड़ने लगा है।

जहरीले जानवरों के द्वारा काटने की समस्या भी रेगिस्तान की प्रमुख समस्या है। रेगिस्तान में अधिकतर साँप जहरीले होते हैं। साँप, बिच्छू एव जंगली मकड़ी के काटने की समस्या यहाँ गंभीर रूप से मौजूद है।

कुछ नशीली वस्तुओं जैसे अफीम, गाँजा, डोडा आदि का सेवन करना भी इन लोगों की खास आदत है, जिसके घातक परिणाम होते हैं।

रेगिस्तान में पाये जाने वाले विशेष प्रकार के पौधे जैसे कीकर के फूल के पराग एवं यहाँ की धूल से एलर्जी की शिकायत आमतौर पर देखी गयी है। यहाँ तक कि इनका प्रभाव फेफड़ों तक पहुँचता है।

जानवरों द्वारा फैलने वाली बीमारियाँ

चूंकि रेगिस्तान में पशुपालन एक प्रमुख व्यवसाय है, अत: इनसे फैलने वाले रोग भी यहाँ अधिक होते हैं। इनमें जलातक (हाइड्रोफोबिया) जो खासकर कुत्ता, ऊँट, गाय आदि के काटने से होता है, एक प्रमुख समस्या है कारण इस रोग का इलाज नहीं है। इसके अलावा उन से होने वाली बीमारी एन्थ्रेक्स। गाय, भैंस, बकरी के सम्पर्क से होने वाली बीमारी बुसुलोसिस भी है। ऊँट के काटने का भी भयानक परिणाम होता है, यहाँ तक की व्यक्ति की मृत्यु तक हो जाती है।

■ ■

मरुस्थल में भू-जल अन्वेषण की उपादेयता

डॉ० डी० डी० ओझा, डी० सी० शर्मा* एवं पी० सी० जैन**

सृष्टि की संरचना में जल का अपना विशेष महत्व है, इसीलिए कहा गया है कि जल ही जीवन है। पानी के अभाव में मानव, पशु-पक्षी तथा पेड़-पौधों के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। और तो और निर्माण, सृजन एवं विकास की नींव भी नहीं रखी जा सकती। हमारे वेद शास्त्रों ने अनादि काल से ही जल की महत्ता का विवेचन कर दिया था। "आप: सर्वस्य भेषजी:" (ऋग्वेद 10/137/6) अर्थात् जल सभी रोगों की एक मात्र ओषधि है। हमारे दैनिक जीवन, खेती, कल-कारखाने और विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन व निर्माण के लिए पानी की जरूरत सबसे पहले होती है। यहाँ एक प्रश्न जो उभर कर सामने आता है वह यह कि जल की उपलब्धता एवं गुणवता का प्रबन्ध कैसे किया जाय ?

विश्व में छोटे-बड़े कई मरुस्थल हैं, परन्तु अपनी विशालता के कारण मानव का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने वालों में मध्य सहारा का मरुस्थल विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह 84 लाख वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ है। विश्व में अनेक मरुस्थल हैं यथा-आस्ट्रेलियन (1,550,000 वर्ग किलो मीटर), अरेबियन (1,300,000 वर्ग किलो मीटर), गोबी (1,040,000 वर्ग कि० मी०), कालाहारी (520,000 वर्ग किलो मीटर), तकलामकन (320,000 वर्ग किलो मीटर), सोनोरन (310,000 वर्ग किलो मीटर), नामिब (310.000. वर्ग कि०मी०) काराकुम 270,000 वर्ग किलो मीटर थार (260,000 वर्ग कि०मी०), सोमाली (260,000 वर्ग कि० मी०), आटाकामा (180,000 वर्ग कि०मी०), काजिलकुम (180,000 वर्ग कि० मी०), दश्त-ए-लुत (52,000 वर्ग कि०मी०), मोजाब (35, 000 वर्ग कि०मी०) तथा देसिर्तो-डे-सेचुरा (26,000 वर्ग कि०मी०)।

भारत के प्रमुख मरुस्थल थार का विशालता की दृष्टि से विश्व में दसवां स्थान है। यह 644 कि० मी० लम्बा और 161 कि० मी० चौड़ा है। अरावली पर्वत श्रृंखला के पश्चिम तथा सिन्धु नदी के पूर्व में फैले थार मरु-स्थल की पर्यावरणीय-परिस्थिति विश्व में अपना अलग स्थान रखता है। हजारों वर्षों से यहाँ कम व अनिश्चित वर्षा, तापमान में भारी दैनिक परिवर्तन, जैविक तत्वों की कमी व लवणों से ग्रसित समस्यायुक्त भूमि, वायु की तेज गति से बनते-बदलते रेत के टीले थार पर्यावरण के अभिन्न अंग रहे हैं। राजस्थान के जोधपुर, बाड़मेर, जैसलमेर, पाली, जालोर, नागौर, सीकर, चुरू, बीकानेर, झुंझुनू तथा गंगानगर जिलों में इस रेगिस्तान ने अपने पाँव फैला रखे हैं।

राजस्थान का नाम सुनते ही एक साधारण भारतीय के मन में एक ओर विस्तृत पहाड़ी क्षेत्र का चित्र उभरता है तो दूसरी ओर लम्बे चौड़े रेतीले मैदान और टीलों के चित्र भी उभरते हैं, जो अपनी विशालता में विश्व

भू-जल विभाग, जोधपुर (राजस्थान)
*मुख्य भू-जल वैज्ञानिक
**मुख्य अभियन्ता

प्रसिद्ध सहारा के रेगिस्तान से होड़ लेते प्रतीत होते हैं । इसमें ऐसे क्षेत्र भी हैं जिनमें एक घड़े पानी के लिए दर-दर भटकना पड़ता है या पथरीली भूमि है, जहां थोड़ी सी संभावना दिखने पर कृषि की जाती है ।

क्षेत्रफल की दृष्टि से राजस्थान हमारे देश का दूसरा बड़ा राज्य है। हमारे देश का 10.4 प्रतिशत भू-भाग, 7 प्रतिशत जनसंख्या तथा 1.15 प्रतिशत जल राजस्थान में है । साथ ही यहाँ की धूल भरी प्रबल वेग से चलने वाली आँधियाँ भी जन-जीवन को अस्त-व्यस्त करती रहती हैं ।

सदियों से थार का ग्रामीण जीवन, प्रकृति से प्राप्त चारा एवं पशुपालन, कम पानी वाली कृषि, वनस्पति व अन्य सूक्ष्म प्राकृतिक संपदा पर निर्भर रहा है । चारा, जलावन, खेतों की बाड़ व रहने के लिए भवन-निर्माण आदि गाँव के संसाधनों से उपलब्ध होते रहे हैं, जिनका मुख्य आधार जल व भूमि रही है ।

थार कम वर्षा व जल अभाव वाला क्षेत्र है । यहाँ पर 10 से० मी० से 40 से० मी० तक वार्षिक वर्षा होती है । यहाँ न केवल कम वर्षा होती है, वरन् अनिश्चितता भी बनी रहती है । इस सम्पूर्ण क्षेत्र में20 से 30 प्रतिशत जल ही पीने योग्य है ।

हमारे देश की स्वतंत्रता के पश्चात राज्य में जल की कमी को दूर करने एवं सिंचाई के साधन सुलभ कराने के लिए विविध प्रकार के सुनियोजित प्रयास प्रारम्भ किए गए । इस दिशा में "राजस्थान नहर" वर्तमान में 'इंदिरा गाँधी नहर परियोजना' का शुभारंभ किया गया और अन्य छोटे-मोटे बाँध बनाए गए तथा नहरें निकाली गईं । इसमें नदियों के अभाव में वांछित लाभ प्राप्त नहीं हो सका ।

सर्वसाधारण को कम खर्च में स्थल विशेष पर जल सुलभ कराने का सरलतम तरीका यह है कि उनके कुएँ, जो या तो बिल्कुल सूखे पड़े हैं या जिनसे जल की प्राप्ति कम होती है एवं कड़ा पत्थर आ जाने के कारण उनके द्वारा गहरे नहीं किए जा सकते, उन्हें मशीनों द्वारा काफी गहरा कर दिया जाए, ताकि उनमें आवश्यकता के अनुसार जल उपलब्ध हो सके । इसके अतिरिक्त उनके लिए नलकूप बनाये जाएँ, जिससे सिंचाई के लिए आवश्यक जल की कमी न होने पाये ।

मरुस्थल में अपर्याप्त वर्षा, अकाल, सूखा तथा सतही जल का अभाव आदि प्रतिवर्ष यहाँ के निवासियों, विशेषकर किसानों के सामने परीक्षा की कठिन घड़ी के रूप में आती है । अतः मात्र उपलब्ध भू-जल ही आपूर्ति का साधन रह जाता है । मरुस्थल में पेयजल एवं सिंचाई के लिए आवश्यक जल की खोज एवं उपलब्धि की व्यवस्था के उद्देश्य से भारत सरकार ने वर्ष 1949 में 'राजस्थान भू-गर्भ मण्डल' का गठन, खाद्य और कृषि मंत्रालय के अन्तर्गत किया । मण्डल का पूर्व में कार्यालय जयपुर रखा गया तथा बाद में वर्ष 1951 में ज़ोधपुर में स्थानान्तरित कर दिया गया ।

इस मण्डल में आरंभ में एक प्रशासनिक अधिकारी के अधीन एक रोटरी ड्रिलिंग रिग तथा एक परकशन ड्रिलिंग रिग से कार्य आरंभ किया । राज्य सरकार के कृषि विभाग ने भी मण्डल के तहत विद्यमान कुँओं के गहरा करने तथा नलकूप आदि बनाने के लिए कुछ मशीनों की खरीद की और मण्डल एवं राज्य के कृषि विभाग की मशीनरी विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रबन्ध निकायों के अधीन समान कार्य करती रही । भारत सरकार ने वर्ष

1955 में ही मण्डल के प्रबन्ध का कार्य राज्य सरकार को सौंप दिया तथा इस मण्डल का पुर्नगठन जनवरी 1956 में पूरा किया गया। इसमें राज्य सरकार ने यह विशेषता रखी कि मण्डल को पहले की तरह स्वायतशासी न रखकर, राज्य सरकार के एक विभाग के रूप में गठित किया। उस समय पुर्नगठित भू-गर्भ जल मण्डल के अधीन कुँओं के तल के पत्थर को बारूद द्वारा तोड़ कर गहरा करने छिद्रण करने तथा नलकूपों का विकास एवं निर्माण करने, आदि के लिए कम ही साधन उपलब्ध थे। वर्ष 1968 में राजस्थान सरकार ने इस मण्डल को राजस्थान भू-जल विभाग की संज्ञा प्रदान की।

भू-गर्भ की स्थिति एवं जल प्राप्ति के उपाय

वर्षा का जल जो पृथ्वी तल पर गिरता है वह या तो भूमि द्वारा सोख लिया जाता है या वाष्प बनकर उड़ जाता हैं। वर्षा के जल का वह अंश जो भूमि सोख लेती है, भूमिगत चट्टानों में एकत्रित होता रहता है। इस प्रकार धीरे-धीरे भू-गर्भ में जल के भण्डार निर्मित होते रहते हैं। जिस प्रकार भूतल के ताल-तलैया अथवा झीलों को उनके आस-पास का ढालू क्षेत्र जल संचय में सहायक होता है, उसी प्रकार भू-जल के भण्डार के लिए भी आस-पास की भूमिगत चट्टानें जल-संचय में सहायक होती हैं। इसके अतिरिक्त भूतल के नदी-नाले, ताल-तलैया आदि भी भू-जल भण्डार की वृद्धि में योगदान देते हैं। भू-जल के जो भण्डार पृथ्वी तल से कुछ ही गहराई पर होते हैं, कुँओं द्वारा प्रयोग में लाये जा सकते हैं, परन्तु जो भू-जल भण्डार भूतल से काफी गहराई पर हों, उन्हें प्रयोग में लाने के लिए नलकूप बनाना अति आवश्यक है।

राजस्थान में भू-गर्भ की स्थिति बड़ी विचित्र है। ऊपरी सतह पर तो अधिकतर बालू रेत है, परन्तु कुछ ही गहराई पर जाने के बाद कडी चट्टानें मिलनी प्रारम्भ हो जाती हैं। सर्वसाधारण कम गहराई पर मिलने वाले भू-जल भण्डारों को प्रयोग में लाने के लिये सदा प्रयत्नशील रहे हैं, परन्तु कुँआ खोदने के पश्चात् अधिकतर कड़ी चट्टानें आ जाती हैं, इसके कारण उन्हें निराशा ही हाथ लगती है। ऐसे कूंओं को, जिनसे पानी की एक बूंद भी प्राप्त नहीं हुई और जो काफी संख्या में बेकार पड़े थे। गहरा करने के लिये भू-जल विभाग ने उल्लेखनीय कार्य किये हैं। इस विभाग के कुशल अभियंताओं ने न केवल राजस्थान वरन् असम, जम्मू एवं कश्मीर जैसे प्रदेशों में जाकर भू-जल से लाभ प्राप्त करने हेतु नलकूप बनाए हैं।

भू-जल प्राप्ति के विविध उपाय

1. स्फुटन

कुँओं को गहरा करने में स्फुटन या ब्लास्टिंग (Blasting) का महत्वपूर्ण योगदान है। इसमें कुँओं को गहरा करने के लिए उनके तल की कड़ी चट्टान में बर्मे द्वारा छेद किए जाते हैं और उन छिद्रों में शक्तिशाली बारूद भरा जाता है तथा सभी छिद्र एक दूसरे से तारों द्वारा जोड दिए जाते हैं। एक तार कुँए के बाहर लाया जाता है, जिसे 'एक्सप्लोडर' नामक मशीन से जोड़ा जाता है। एक्सप्लोडर में बिजली पैदा की जाती है और उस बिजली की शक्ति से कुँए की तली के छिद्रों में भरे हुए बारूद को एक साथ विस्फोटित किया जाता है। बारूद की शक्ति से तल की चट्टान टूटती है जिससे गहराई में एकत्रित या बहने वाला पानी कुँए में एकत्रित होना आरंभ हो जाता है।

2. छिद्रण

कई कुँए ऐसे भी होते हैं, जिनकी तली में कड़ी चट्टान नहीं होती, फिर भी उनसे पानी की प्राप्ति नहीं के बराबर होती है। ऐसे कूँओं से जल की प्राप्ति कम होने का कारण यह है कि कुँए की गहराई तक कोई भी जल भण्डार स्थित नहीं होता। इन कुँओं से जल प्राप्त करने का तरीका यह है कि उनमें रिगो द्वारा काफी गहराई तक छिद्रण (Boring) कर गहराई में स्थित भू-जल भण्डारों तक पहुँचाया जाये। जो छिद्र, कुँए की तली में परकशन रिग द्वारा बनाया जता है, उसमें पाइप व जाली आवश्यकतानुसार डाली जाती है, जिससे भू-जल भण्डार से जल भी प्राप्त होता रहे ओर छिद्रों के ढह जाने का खतरा भी न रहे। कुँए में छिद्रण करा लेने से जल की मात्रा बहुत बढ़ जाती है। राजस्थान के भू-जल विभाग ने विगत वर्षों में 27 हजार से अधिक विद्यमान कुँओं में विस्फोट तथा बेधन आदि प्रक्रियाओं से उनकी जल क्षमता में वृद्धि की है।

3. नलकूप

सामान्यतया भू-जल में किसी भी प्रकार का संदूषण नहीं होता है। अत: सतही जल की अपेक्षा भू-जल ही सर्वोत्तम माना जाता भू-जल प्राप्ति के साधनों में नलकूप या हैण्डपम्प सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। नलकूप का निर्माण भू-तल से रोटरी अथवा अन्य रिग द्वारा किया जाता है जिसमें ऊपरी सतह एवं निचली गहराइयों में मिलने वाले जल भण्डार बेधे जाते हैं। भू-जल भन्डार के क्षेत्र में जाली डालकर और अतिरिक्त क्षेत्र में पाइप डालकर नलकूप निमित किए जाते हैं। भू-जल विभाग के पास ऐसी द्रुतगति से चलने वाली रिग है जो 24 घन्टे में ही नलकूप बना लेती है। इस विभाग ने अपनी स्थापना के बाद गत वित्तीय वर्ष तक 15 हजार 454 नलकूपों का निर्माण किया है। इनमें से 9 हजार से अधिक नलकूप पेयजल योजनाओं के लिए, ढ़ाई हजार से अधिक सिंचाई कार्यों के लिए तथा शेष नलकूप अन्य कार्यों के लिए तैयार किए गए हैं।

भू-जल सर्वेक्षण और अन्वेषण

राजस्थान में सतही जल की मात्रा बहुत ही सीमित है तथा वर्षा भी देश के अन्य भागों की अपेक्षा बहुत कम और अनियमित होती हैं। थार के रेगिस्तानी क्षेत्र में वर्षा के अभाव का एक प्रमुख कारण अरावली पर्वतमाला की स्थिति है। जब अरब सागर वाला मानसून राजस्थान में प्रवेश करता है, तो यह उसे रोकने तथा ऊपर उठने के लिए विवश नहीं कर सकता। फलत: मानसून इसके दोनों ओर से निकलकर हिमालय की तरफ बढ़ जाता है। यदि हिमालय पर्वत श्रृंखलाओं की तरह इसका विस्तार भी उत्तर-दक्षिण न होकर पूर्व-पश्चिम में होता, तो मानसून को इसे पार करने के लिए जबरन ऊपर उठना पड़ता। इससे मानसूनी हवायें घनीभूत होकर इस क्षेत्र में भी मूसलाधार वर्षा करतीं।

राजस्थान में वर्षा करने वाले दूसरा मानसून बंगाल की खाड़ी से उठता है, परन्तु पूर्वी राजस्थान में अच्छी वर्षा करने के बाद जब यह मरुस्थल पर पहुँचता है, तो इसमें पानी नहीं रहता है। यदि कभी थोड़ी बहुत वर्षा हो भी जाती है, तो उच्च वाष्पीकरण के कारण वर्षा का पानी अतिशीघ्र भाप बनकर उड़ जाता है। ऐसी दशा में यहाँ कृषि में वृद्धि करने के लिए भू-जल भण्डारों का अन्वेषण एवं उनका प्रयोग अत्यावश्यक हैं। मरुस्थल में जल की उपलब्धि भी समान नहीं है। कई भागों में तो भू-जल अत्यधिक गहराई पर उपलब्ध है, अत: ऐसे स्थानों में गहरे

नलकूपों द्वारा ही भू-जल का उपयोग किया जा सकता है। परन्तु नलकूप बनवाने में अत्यधिक धन राशि खर्च करनी पड़ती है और कभी-कभी इतना करने पर भी या तो अपेक्षित मात्रा में भू-जल की उपलब्धि नहीं होती या पानी लवणीय अथवा कृषि के लिए अनुपयुक्त होने के कारण नलकूप बनवाने वालों को हानि उठानी पड़ सकती है। इन सभी कठिनाइयों एवं परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए यह विचार किया गया कि राज्य की भौगोलिक विषमता को देखते हुए तथा राज्य के भू-जल के बारे में समुचित जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रांत का वैज्ञानिक ढंग से भू-जल सम्बन्धी सर्वेक्षण एवं अन्वेषण करवाया जाय।

इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु भू-जल विभाग द्वारा वर्ष 1967 में सम्पूर्ण राज्य के भू-जल का सर्वेक्षण कार्य प्रारम्भ किया गया तथा विभिन्न मानचित्रों के आधार पर तकनीकी प्रतिवेदन तैयार किए गए। इन मानचित्रों के द्वारा विदित होता है कि कौन-कौन से क्षेत्र नलकूप, साधारण खुले कुँओं में बोरिंग अथवा छिद्रण करने अथवा केवल साधारण कुँओं के योग्य है, कहाँ कितनी गहराई पर जलयुक्त चट्टाने हैं और कहाँ किस गहराई पर कितना जल उपलब्ध होग। पेया तथा कृषि योग्य जल के बारे में भी जानकारी प्राप्त हो सकती है। नलकूप के क्षेत्र में भी ज्ञात होता है कि नलकूप कितनी गहराई तक बनाना उपयोगी रहेगा तथा उससे कितनी मात्रा में जल उपलब्ध हो सकेगा। इन प्रतिवेदनों से यह भी ज्ञात हो सकता है कि जिन क्षेत्रों में वर्तमान कुँओं में कम पानी या लवणीय पानी है, वहाँ कुँओं को गहरा करने से पानी की उपलब्ध मात्रा या गुणवत्ता में सुधार किया जा सकता है या नहीं। भू-जल अन्वेषण में भू-जल विज्ञान के अतिरिक्त भू-भौतिकी, भू-जल रसायन एवं जल मौसम-विज्ञान की भी महत्वपूर्ण भूमिका है तथा उपर्युक्त सभी बातों को ध्यान में रखते हुए क्षेत्र विशेष में नलकूप बनवाने की सिफारिश की जाती है, जिससे धन का अपव्यय न हो।

भू-जल स्थिति

मरु क्षेत्रों में भू-जल की स्थिति सामान्य जलभृतों की प्रकृति तथा भू-आकारिकी पर निर्भर होती है। राजस्थान के मरु क्षेत्रों में भू-जल मुख्यतया कैम्ब्रीयन पूर्व से चतुष्क अवस्था वाली चट्टानों में पाया जाता है। कठोर क्रिस्टलीय चट्टानों यथा-जेनीसेस, सिस्ट, फाइलाइटस तथा क्वार्टजाइट में भू-जल मिलता है तथा संयुक्त रूप से विभंग शल्कन प्लेन तथा अपक्षमुखी क्षेत्रों में गमन करता है। जबकि तलछटी चट्टानों में जैसे बालुकाश्म में भू-जल मिलता है तथा इसका गमन छिद्ररूप में कठिन तलछट के अंतरालों मुखद्वारा होता है। पश्चिमी राजस्थान में भु-जल कठोर तथा जलाद शैल समूह में मिलता है। तृतीक प्राचीन अवस्था के बालुकाश्म में भू-जल अर्ध परिरुद्ध दशा में अपारगम्य संस्तर में मिलता है।

मरु क्षेत्रों में भू-जल 10 मीटर से 140 मीटर तक की गहराई में मिलता है तथा बीकानेर क्षेत्र के भागों में सबसे ज्यादा गहराई पर भू-जल देखा गया है। जैसा कि वर्णित है, राजस्थान में प्राकृतिक आपदाओं के कारण हर दूसरे तीसरे वर्ष अकाल की विभिषिका बनी रहती है, फलतः वर्षा के अभाव के कारण खाद्यान्न उत्पादन के लिए क्या मनुष्यों एवं मवेशियों के पीने हेतु पानी की भी गंभीर समस्या बन जाती है। ऐसे समय में भू-जल प्राणदान का कार्य करता है। राज्य के भू-जल विभाग ने ऐसी संकट की घड़ियों में युद्धस्तर पर अकाल प्रभावित क्षेत्रों में शीघ्र नलकूप बनाकर जन कल्याण के सराहनीय कार्य किए हैं।

वस्तुतः भू-जल तथा सतही जल ही पानी के मुख्य स्रोत होते हैं, जो कि पीने, सिंचाई कार्यों तथा औद्योगिक क्षेत्र में जल की आपूर्ति करते हैं। सिंचाई के लिए इन स्रोतों की उपयोगिता का विवरण सारणी संख्या-1 में दिया गया है।

सतही जल चम्बल कमाण्ड क्षेत्र, जो कि दक्षिण-पूर्वी.राजस्थान, इंदिया गाँधी नहर उत्तरी तथा उत्तर-पश्चिमी राजस्थान तथा माही कमाण्ड दक्षिणी राजस्थान के मुख्य स्रोत हैं। राजस्थान में सतही जल से सिंचित क्षेत्र मात्र 18.2 लाख हेक्टेयर है।

गंगानगर तथा बीकानेर क्षेत्र के अतिरिक्त अरावली पर्वत के पश्चिम का सम्पूर्ण क्षेत्र भू-जल पर ही निर्भर है। इसके अतिरिक्त प्रदेश का अन्य भू-भाग भी भू-जल पर आश्रित है। भू-जल के कारण प्रदेश का 23.4 लाख हेक्टेयर क्षेत्र सिंचित है, जो कि राज्य के कुल सिंचित क्षेत्र का 56.3% है। भू-जल से पेय जल आपूर्ति 489.46 एम० सी० एम० है।

राज्य में भू-जल विकास की अवस्था 47.86 प्रतिशत है जो कि समरूप नहीं है। विकास की अवस्था के आधार पर भू-जल विभव क्षेत्रों का वर्गीकरण वाईट, ग्रे तथा डार्क क्षेत्रों में किया गया है। भू-जल आकलन समिति के अनुसार वाईट क्षेत्र में भू-जल विकास की संभावना 65 प्रतिशत से कम, ग्रे में 65 से 85 प्रतिशत तथा डार्क में 85 प्रतिशत से अधिक हैं। वाईट क्षेत्र का अधिकतम भाग बीकानेर, बाड़मेर तथा चुरू में है तथा इनमें भू-जल विकास की संभावना कम है। मरुस्थलीय क्षेत्रों में भू-जल विकास की अवस्थाओं का विवरण सारिणी संख्या-2 में दिया गया है।

सारणी -1

जल स्रोतों की उपयोगिता

क्र० सं०	जिला	कुल सिंचित शेत्र (हेक्टेयर)	सिंचाई स्रोत	
			सतही जल (%)	भू-जल (%)
1	बाड़मेर	25449	—	25449 (100.0)
2	बीकानेर	124101	124101 (99.9)	100 (0.1)
3	चुरू	2973	—	2973 (100,0
4	गंगानगर	815101	815101 (100.0)	—
5	जैसलमेर	1961	1321 (67.4)	640 (32.6)
6	जालोर	101372	11301 (5.9)	180071 (94.1)
7	झुंझुनू	72471	—	72471 (100.0)
8	जोधपुर	55453	—	55453 (100.0)
9	नागौर	135810	—	135810 (100.0)
10	पाली	76998	—	76998 (100.0)
11	सीकर	103037	—	103037 (100.0)

सारणी-2

मरुस्थलीय क्षेत्रों में भू-जल विकास की अवस्थाएँ

क्र० सं०	जिला	विभव क्षेत्र	विकास की अवस्था के अनुसार वर्गीकरण		
			वाईट 65%	ग्रे 65 से 85%	डार्क 100%
	अधिक विकसित क्षेत्र				
1.	जालोर	8128.10	1369.61 (16.1)	932.37 (11.5)	5826.12 (7106)
2.	झुंझुनू	5273.69	707.37 (13.4)	575.83 (11.0)	3990.49
3.	नागौर	15106.37	1479.55 (9.8)	988.04 (6.5)	12638.78 (83.7)
4.	सीकर	7263.46	2069.62 (28.5)	—	5193.84(71.5)
	सामान्य विकसित क्षेत्र				
1.	जोधपुर	16606.32	9463.68 (60.0)	4140.59 (21.9)	3002.26 (18 1)
2.	पाली	7362.54	5493.81 (74.6)		1868.73 (25.4)
	कम विकसित क्षेत्र				
1.	बाड़मेर	12951.16	12196.78 (94.2)	—	754.38 (5.8]
2.	बीकानेर	11561.00	11561.00	—	—
3.	चुरू	6440.34	6440.34	—	—
4.	गंगानगर	2836.10	2836.10	—	—
5.	जैसलमेर	8718,64	8718.64	—	—

मरुस्थलीय भू-जल की गुणवत्ता

गुणवत्ता की दृष्टि से मरुस्थलीय क्षेत्र के भू-जल की स्थिति बड़ी विषम है। इन क्षेत्रों के भू-जल में विभिन्न रासायनिक संघटकों के वितरण में असाम्य अवस्था व्याप्त है। अत्यधिक लवणीयता के अतिरिक्त इन क्षेत्रों के भू-जल में नाइट्रेट तथा फ्लोराइड की भी विषाक्तता है। कई स्थानों के भू-जल में नाइट्रेट तथा फ्लोराइड का सान्द्रण भी भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद् तथा विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा निर्धारित मानकों से अधिक है। मिट्टी तथा फसल विशेष की किस्म पर भू-जल की लवणीयता सहन करने की क्षमता निर्भर करती है। रेतीली मिट्टी में 8000 माइक्रोसाइमन प्रति से० मी० विद्युत चालकता सहन करने की क्षमता होती है। मरुस्थलीय क्षेत्र के कई भागों यथा-गंगानगर, चुरू, जैसलमेर का 89.5 प्रतिशत, 86.2 तथा 76.5 प्रतिशत भाग लवणीय है। इसी प्रकार बाड़मेर तथा बीकानेर का लगभग आधा भाग लवणीय है (सारिणी-3)।

सारिणी -3

लवणीय भू-जल का क्षेत्रफल प्रतिशत

क्र० सं०	जिला	कुल क्षेत्रफल	लवणीय क्षेत्र (प्रतिशत)
1.	बाड़मेर	28,387	14,871.64 (52.4)
2.	बीकानेर	27,244	15,683.00 (57.6)
3.	चुरू	16,830	14,503.96 (86.2)
4.	गंगानगर	20,634	18,555.84 (89.9)
5.	जैसलमेर	38,401	29,374.24 (76.5)

बीकानेर, गंगासागर व नागौर क्षेत्रों के भू-जल में क्लोराइड तथा सल्फेट एवं मैगनीशियम की अधिकता होने से उपभोक्ताओं में जठर रोग भी देखे गये हैं। मरुस्थलीय क्षेत्र के नागौर जिले के भू-जल में सर्वाधिक 4750 पी०पी० एम० तथा 34 पी०पी०एम०नाइट्रेट तथा क्लोराइड का मान पाया गया। अत्याधिक फ्लोराइड मनुष्यों तथा मवेशियों में दो तरह की फ्लोरोसिस (दंत एवं अस्थि) उत्पन्न करता है। बाड़मेर, नागौर, सीकर, झुंझुनू, बीकानेर के कुछ भाग तथा जालोर के कुछ भागों में फ्लोरोसिस की समस्या अधिक है, जबकि चुरू, बाड़मेर तथा नागौर एवं बीकानेर के कुछ भागों में नाइट्रेट की विषाक्ता है। सिंचाई हेतु उपयोगिता की दृष्टि से बाड़मेर, जैसलमेर, चुरू, नागौर तथा जालौर के भू-जल में सोडियम अधिशोषण अनुपात (SAR) का मान ज्यादा है, जबकि कम से कम मध्यम लवणीयता वाले क्षेत्रों के भू-जल में उच्च अवशिष्ट सोडियम कार्बोनेट पाया गया है। अतः मध्यम से लवण सहनशील फसलों के उत्पादन के लिए यह क्षेत्र ज्यादा उपयुक्त है।

अंत में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भू-जल अन्वेषण का कार्य जन कल्याण एवं राष्ट्रोन्नति का महत्वपूर्ण आयाम है। उपभोक्ताओं का यह दायित्व है कि वे इसका अत्याधिक दोहन न करें। औद्योगिक संस्थानों का भी यह कर्त्तव्य है कि वे अपने उद्योगों से निकलने वाले अपशिष्टों के परिष्कार के लिए ट्रीटमेन्ट संयंत्रों की स्थापना करें, जिससे भू-जल के जलमृत प्रदूषित न हो सकें।

स्मरण रहे यदि भू-जल से एकबार भी जलमृत प्रदूषित हो गए तो उनके शुद्धिकरण में अत्यधिक कठिनाई होती है।

■ ■

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय सुहृद !

विज्ञान का 'मरु विशेषांक' आपके सामने प्रस्तुत करते हुए मुझे प्रसन्नता और संतोष की मिली-जुली अनुभूति हो रही है।

बचपन से ही मुझे रेगिस्तान के प्रति विशेष आकर्षण रहा है। रेगिस्तान का जहाज ऊँट मुझे सदैव विचित्र प्राणी लगता रहा। बालू में भी कुछ उग सकता है, इसकी तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। किन्तु आज से लगभग 20 वर्ष पूर्व जब मेरा जोधपुर विश्वविद्यालय की बी० एस-सी० वनस्पति विज्ञान की प्रयोगात्मक परीक्षा सम्पन्न कराने के संबन्ध में जोधपुर जाना हुआ तो पहली बार मुझे निकट से थार मरुस्थल को देखने-समझने का अवसर मिला। दूर-दूर तक फैली रेत। तेज आंधियों से बालू के बनते-बिगड़ते टीले, सैकड़ों तरह की वनस्पतियाँ, नमक के ढेर, ऊँट, मोर जैसे पशु-पक्षी और विषम परिस्थितियों से जूझते हुए वहाँ के निवासियों की जिजीविषा ने मुझे अभिभूत कर दिया। और तो और मैण्डोर उद्यान की हरियाली देखकर तो मैं आश्चर्यचकित रह गया था। उस समय मैं जिस बात से अत्यधिक प्रभावित हुआ था वह था वहाँ के निवासियों का परिश्रमी जीवन और ईमानदारी। दूसरे वर्ष पुनः प्रयोगात्मक परीक्षक के रूप में जाने से मरु प्रदेश के विषय में बहुत कुछ जानने का अवसर मिला।

लगभग साल डेढ़ साल पूर्व मुझे एक बार फिर जोधपुर जाने का अवसर मिला और पुराने मित्रों से मिलने का सौभाग्य भी। इस बार की यात्रा दूसरे संदर्भ में थी। भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर ने जोधपुर में विज्ञान-लेखन की एक कार्यशाला आयोजित की थी, बस इसी कार्यशाला में मैं भी शामिल था।

बीस वर्ष पूर्व के जोधपुर और आज के जोधपुर में काफी बदलाव आ गया है। आबादी बढ़ी है, भवन और बाजार भी बढ़े हैं। पानी पहले से अधिक खारा हो गया है। सड़कों पर वाहनों की संख्या भी बढ़ी है, पर जिस तेजी से शहर बढ़ा है, वनस्पतियों की संख्या नहीं बढ़ी है। पहले की अपेक्षा मुझे मोर कम दिखे। 'राजा' के नये भवन में आधे में होटल और आधे भाग में संग्रहालय है। मैण्डोर उद्यान में भी छोटा संग्रहालय दिखा किन्तु मरु प्रदेश की विषम परिस्थितियों में तो मुझे कोई अंतर नहीं दिखा। 'इंदिरा गांधी नहर' से हरियाली बढ़ी, किन्तु भूमि अधिक

खारी हो गई है। अब धीरे-धीरे 'इंदिरा गाँधी नहर' वरदान के बजाय अभिशाप लगने लगी है, कुल मिलाकर जहाँ जोधपुर की इस यात्रा में पुराने गुरु डॉ० डी० एन० सेन, मित्रवर डॉ० हर प्रसाद श्रीवास्तव, डॉ० देवेन्द्र दत्त कौशिक, डॉ० रामगोपाल, श्रीमती सुशीला राय आदि से मिलकर प्रसन्नता हुई, वहीं वहाँ के आम लोग किन कठिन परिस्थितियों में रह रहे हैं, यह देखकर दुःख भी हुआ। तभी से मेरे मन में एक विचार बार-बार कौंध जाता था कि क्यों न "विज्ञान" पत्रिका का एक विशेषांक निकाला जाय, जिसमें रेगिस्तान और वहाँ के पर्यावरण पर प्रामाणिक साहित्य उपलब्ध हो।

यह अंक निकालने में मुझे डॉ० शिवगोपाल मिश्र जी का विशेष सहयोग और प्रोत्साहन मिला है। मैं अत्यन्त आभारी हूँ। इस अंक के लेखकों के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके लेखकीय सहयोग के बिना यह कार्य सम्भव ही नहीं था। हम इस विशेषांक को कुछ और बड़ा आकार और सुन्दर रूप देना चाहते थे, पर परिषद् की अपनी सीमायें हैं। इसलिए इस 'मरु विशेषांक' को भी आम अंकों की भाँति 32 पृष्ठों का ही रखना पड़ा। फिर भी मुझे संतोष है कि मैं यह अंक आपको दे पाया। यह अंक जैसा भी है, अब आपका है। यदि इस संबन्ध में हमें और लेख नई जानकारियों से युक्त प्राप्त हुए तो "विज्ञान" के आगामी अंकों में प्रकाशित किये जायेंगे।

शेष फिर।

आपका
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1995

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।
(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।
(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।
(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।
(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1995 से दिसम्बर 1995 माह के बीच प्रकाशित हो।
(6) लेखक को लेख के साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।
(7) विज्ञान परिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।
(8) वर्ष 1995 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1996 है।
(9) पुरस्कार के लिए पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागियों को इस प्रतियोगिता के लिए उपयुक्त नहीं समझा जायेगा।

लेख निम्न पते पर भेजें—
संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामायिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जायें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पत्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं।

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु० चौथाई पृष्ठ 50.00
आवरण : द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 5000.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०
प्रति अंक : 3 रु 50 पैसे

प्रेषक : विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

ISSN 0373-1200

सितम्बर-अक्टूबर 1995 अंक
मूल्य : 6 रु०

कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च
नई दिल्ली के
आर्थिक अनुदान द्वारा प्रकाशित

विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913 : विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
सितम्बर-अक्टूबर 1995 : वर्ष 81 अंक 6-7

मूल्य

आजीवन : 200 रु०, व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु०, वार्षिक : 25 रु०

एक प्रति : 3 रु० 50 पैसे

यह अंक : 6 रु०

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक	सम्पादक	मुद्रक	सम्पर्क
डॉ० डी० डी० नौटियाल	प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव	अरुण राय	विज्ञान परिषद्
प्रधानमंत्री	सहायक संपादक	प्रसाद मुद्रणालय	महर्षि दयानन्द मार्ग
विज्ञान परिषद् प्रयाग	डॉ० दिनेश मणि	7 ए-बेली एवेन्यू, इलाहाबाद	इलाहाबाद-211002

पर्यावरण संरक्षण प्रयासों का मूल्यांकन

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

आज की विचार गोष्ठी के अध्यक्ष परम आदरणीय श्री दर्शनानन्द जी और उपस्थित विद्वतजन !

मैं प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव, विज्ञान पत्रिका का सम्पादक, 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' की ओर से और अपनी ओर से आज 'विश्व पर्यावरण दिवस' के अवसर पर आप सभी का स्वागत करता हूँ, अभिनन्दन करता हूँ और आपको प्रणाम करता हूँ। इन दिनों इलाहाबाद में शिद्दत की गर्मी पड़ रही है। दिन में सड़कें सूनी दिखती हैं और लोग घरों से बाहर नहीं निकलना चाहते। ऐसे में आप सब यहाँ आये, यह आपके विज्ञान परिषद् प्रयाग के प्रति लगाव का सूचक है और साथ ही आज की जो पर्यावरणीय चुनौतियाँ हैं, उन्हें स्वीकार करते हुए उनसे जूझने के लिए अदम्य साहस का परिचायक है। आज हम लोग यहाँ बिगड़ते पर्यावरण को सुधारने के लिए किए गए प्रयासों, अपनी सफलता और असफलताओं का मूल्यांकन करने के लिए एकत्र हैं। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि आप पर्यावरण के किसी एक पक्ष को लेकर अपनी बात कहेंगे। आपकी सोच से निकली हुयी सुझाव की एक बूंद भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि 'बूंद-बूंद से घट भरे' वाली कहावत पर्यावरण के संदर्भ में शत प्रतिशत सत्य सिद्ध होती है।

पर्यावरण की समस्या सारे संसार की समस्या है। एक देश की विषैली गैसें हवा के साथ उड़कर दूसरे देशों में जाती हैं। एक देश की नदी का प्रदूषित जल वर्षाकाल में दूसरे देशों की नदियों में जाता है। और सागर प्रदूषण का क्या कहना ! खाड़ी देशों में युद्ध की विभीषिका के समय सागर के तेल प्रदूषण के प्रभाव को बम्बई के सागर में तो मैं अपनी आँखों से स्वयं देख चुका हूँ।

आज विश्व के सम्मुख जो कुछेक पर्यावरणीय समस्यायें विकराल रूप धारण कर रही हैं, उनमें धरती का बढ़ता तापमान, रेगिस्तानीकरण की प्रक्रिया का तेज होना, वनस्पति एवं प्राणि प्रजातियों का बिलुप्तीकरण, पारम्परिक ऊर्जा स्रोतों में कमी आना, अम्ल वर्षा, धरती की सम्पदा का ह्रास, सूखे और बाढ़ का प्रकोप प्रमुख हैं।

साथ ही यह शुभ लक्षण है कि जनमानस में पर्यावरण के प्रति चेतना बढ़ रही है। सभी देशों की राजनीतिक पार्टियाँ अपने चुनावी नीति-पत्रों (इलेक्शन मैनीफेस्टो) में पर्यावरण के संरक्षण की बातें अवश्य सम्मिलित करती हैं।

आयोजक एवं संचालक, पर्यावरण संरक्षण प्रयासों का मूल्यांकन विषयक संगोष्ठी, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद-211002

अनेक स्वयंसेवी संस्थायें सरकारों पर पर्यावरण विरोधी परियोजनाओं के विरूद्ध दबाव डालने के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सक्रिय हैं। जर्मनी की राजनीतिक 'ग्रीन पार्टी' और अंतराष्ट्रीय स्तर का संगठन 'ग्रीन पीस' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'ग्रीन पीस', संगठन दिल्ली में भी अपना 'क्लियरिंग हाउस' खोल रहा है। दिल्ली स्थित यह शाखा भारत सहित पूरे दक्षिण-पूर्व एशिया में अपनी गतिविधियाँ चला सकेगी। इस संगठन के जहाज ने सागरों में कचरा डालने वाले जहाजों को भी पकड़ा है। इसी संदर्भ में भारत में टेहरी और नर्मदा बाँध निर्माण के विरोध में खड़ा किया गया जनान्दोलन, जो इन दिनों अखबार की सुर्खियों में है, भी उल्लेखनीय है।

आज से तीन वर्ष पूर्व ब्राजील के शहर रियो डि जेनेरो में सम्पन्न 'पृथ्वी सम्मेलन' में विकासशील देशों की आवाज पर्यावरण को बचाने के लिए मुखर हुई थीं और ऐसी आशा का उदय हुआ था कि पर्यावरण को सुधारने के लिए कुछ प्रभावी कदम अवश्य ही उठाये जायेंगे, किन्तु आज यदि तीन वर्षों बाद हम 'पृथ्वी सम्मेलन' का मूल्यांकन करते हैं तो हमें निराशा ही हाथ लगती है।

ऐसे तो विकसित देश बड़ी-बड़ी बातें करते हैं किन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। एक तो वे ऊर्जा की खपत में सबसे आगे हैं, किन्तु ऊर्जा का त्याग और ग्रीन हाउस गैसों पर नियंत्रण रखने और कम करने की बात विकासशील देशों से करते हैं। और दूसरी बात यह कि वे पर्यावरणमित्र टेक्नोलॉजी की भारी कीमत विकासशील और निर्धन देशों से वसूलना चाहते हैं। उत्तर के देशों का दक्षिण के देशों के प्रति जो 'दादागीरी' का रवैया है, उसी कारण 1988 का 'मॉन्ट्रियल प्रोटोकाल' से लेकर 1995 के 'बर्लिन सम्मेलन' तक ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन की मात्रा घटाने पर कोई समझौता नहीं हो सका। सच्चाई यह है कि विकसित देश पर्यावरण का 'हौवा' खड़ा करके विकासशील देशों को भयभीत करना चाहते हैं और वे नहीं चाहते कि ये देश प्रगति कर सकें। पर्यावरण को क्षति तो विकसित देशों ने पहुँचाई है, पर चाहते यह हैं कि भरपायी विकासशील देश करें। अर्थात् हम जहाँ हैं वहीं रहें।

इन शब्दों के साथ मैं एक बार पुनः आपका स्वागत करते हुए अध्यक्ष जी की अनुमति चाहता हूँ ताकि मैं इस विचार गोष्ठी में उपस्थित विद्वतजनों से अपने-अपने विचार व्यक्त करने का निवेदन कर सकूँ।

■ ■

पर्यावरण के प्रति जागरूकता पर कितनी

डॉ० सुनील दत्त तिवारी

मॉन्ट्रियल प्रोटोकाल,···स्टाकहोम सम्मेलन···रियो डी जेनेरो सम्मेलन···ग्रीन पीस···चिपको आन्दोलन आदि। क्या ये सब हमारी पर्यावरण के प्रति जागरूकता को प्रदर्शित नहीं करते ? स्पष्ट है कि पर्यावरण पर अनेक बार बहस हो चुकी है। हर साल हम पर्यावरण दिवस मनाते हैं। नये लक्ष्य निर्धारित करते हैं। लक्ष्य प्राप्ति को अमली जामा पहनाने का संकल्प लिया जाता है। फिर भी यह कहा जाता है कि पर्यावरण में प्रदूषण दिनोंदिन बढ़ता ही जा रहा है। तो क्या हमारे निर्धारित लक्ष्य खोखले हैं या केवल शोर मचाने के लिए हैं ? आइये इस पर विचार करें।

सामान्यतः प्रकृति के सामान्य संघटन में किसी एक घटक की मात्रा में कमी अथवा वृद्धि, अन्य किसी बाह्य पदार्थ का प्रवेश जो पारिस्थितिकी तन्त्र, जीवजन्तुओं, मनुष्य पर विपरीत प्रभाव डाले, प्रदूषण के अन्तर्गत आता है। इस तरह से देखें तो पर्यावरण के कई घटक सामने आते हैं जिनमें वायु, मृदा, आदि मुख्य हैं। प्रदूषण की चर्चा भी इन्हीं के सन्दर्भ में की जाती है।

सर्व प्रथम वायु प्रदूषण को ही लें। वैज्ञानिक विश्लेषणों के अनुसार करोड़ों टन कार्बन डाइऑक्साइड, नाइट्रोजन के ऑक्साइड, सल्फर डाइऑक्साइड, क्लोरीन, मीथेन आदि गैसे वायुमंडल में जाकर घुल रही हैं। कारखानों से निकली फ्लाई ऐश, कोयले की खानों से निकली धूल, सीमेन्ट कारखानों की गर्द–यह सब मिलकर वायु प्रदूषण की मात्रा में और अधिक वृद्धि ही कर रही हैं। कुल मिलाकर वायुमंडल पहले की अपेक्षा पृथ्वी पर जीवन के लिए अनुपयुक्त होता जा रहा है। तो क्या इसको कम करने या रोकने के प्रयास हो रहे हैं या नहीं। एक तरफ हम वायु प्रदूषण कम करने की बात करते हैं और यहीं हम देखते हैं कि जीवाश्म ईंधन से चलने वाले दुपहिया-तिपहिया और चार पहिया वाहनों की संख्या में अतिशय वृद्धि हो रही है। इन वाहनों से धुंआ चाहे जितना अधिक निकले, वाहन चालक को इससे कुछ लेना देना नहीं है, वाहन के ट्यूनिंग कराने का कोई अर्थ नहीं, भले पेट्रोल या डीजल की अधिक खपत की कीमत उन्हें चुकानी पड़े। शहरों में विभिन्न स्थानों पर प्रदूषण नियन्त्रण हेतु जाँच केन्द्र बनाये गये हैं, किन्तु कितने लोग यहाँ वाहनों की जाँच कराते हैं ? वास्तव में इनके कार्य करने की क्षमता और लगन, दोनों लगभग नगण्य है। रेफ्रीजरेटरों में इस्तेमाल होने वाले क्लोरोफ्लोरोकार्बन वाष्पित होकर वायुमंडल में ओजोन के अणुओं को तोड़ता है। इस बात की जानकारी होने पर इसके विकल्प की खोज की गयी। लेकिन इसका प्रयोग कितने रेफ्रीजरेटरों में किया गया ? स्पष्ट है कि वायु प्रदूषण में इन गैसों की लगातार वृद्धि हो रही है, पर कम करने के प्रयास जो भी किए जा रहे हैं कारगर नहीं हो पा रहे हैं।

औद्योनिक प्रयोग एवं प्रशिक्षण केन्द्र, राजकीय उद्यान, खुशरू बाग, इलाहाबाद

वायु में हर साल घुलने वाली कुछ गैसों की मात्राएँ

गैसें	मात्रा
कार्बन डाइऑक्साइड	50000 $\times 10^6$ टन
कार्बन मोनोऑक्साइड	3500 $\times 10^6$ टन
सल्फर डाइऑक्साइड	146 $\times$ 10^6 टन
गैस (मानव कृत स्रोत)	50 $\times 10$ टन
प्राकृतिक स्रोत	1.5 $\times 10^9$ टन
मीथेन	1600 $\times$ 10^6 टन

दूसरा है जल प्रदूषण । शहरों में उत्पादित मलजल एवं अबमल पाइपों, नालियों और नालों के माध्यम से बिना किसी उपचार के नदियों में गिरा दिये जाते हैं। इस प्रकार के जल में अनेक प्रकार के कार्बनिक और अकार्बनिक पदार्थ होते हैं, जिनके कारण जलस्रोत प्रदूषित होकर मानब तथा पशुओं के उपयोग के लायक नहीं रह जाते । विभिन्न भारतीय शहरों में मलजल उत्पादन पर एक दृष्टिपात करें—

शहर	मलजल (सीवेज) उत्पादन करोड़ लीटर में	सफाई
दिल्ली	180	126
कलकत्ता	80	67.6
बम्बई	180	146
बंगलूर	27.5	25
मद्रास	25	23.8
लखनऊ	40	25
पटना	14.1	8.22
अहमदाबाद	40	24
सूरत	13	7

स्रोत : इन्डिया टुडे, 31 अक्टूबर 1994 से साभार

यह तो केवल मलमूत्र की बात है। इसके अलावा शहरों के आसपास स्थित अनेक उद्योगों का बहिर्स्राव भी किसी न किसी रूप में नदियों में ही पहुँचाया जाता है। वैसे उद्योगों द्वारा बहिर्स्राव का शोधन करने हेतु शोधन संयन्त्र लगाये गये हैं, परन्तु ये उतने कारगर नहीं हैं। कानपुर के पास चमड़ा कमाई के कारखानों द्वारा निसरित क्रोमियमयुक्त जल गंगा प्रदूषण में कोई कसर नहीं छोड़ता। प्रतापगढ़ के पास सई नदी में चीनी मिलों से निकले बहिर्स्राव

द्वारा जल का काला हो जाना इसी प्रदूषण का परिणाम है। लखनऊ के पास बहने वाली गोमती नदी भी कम प्रदूषित नहीं है। 'राष्ट्रीय सहारा' (29 मई 1995) में अप्रैल-1995 के आँकड़ों के अनुसार गोमती नदी का पीएच मान 7.96-8.36, घुलित ऑक्सीजन 0.85-8.12 मिग्रा० प्रति लीटर, कुल कोलीफार्म जीवाणुओं की मात्रा 3500-350000 एम० पी० एन० प्रति 100 मिली० तथा फीकल कोलीफार्म की मात्रा 2800-220000 एन० पी० एन० प्रति 100 मिली० हो गयी है जो अनुमन्य स्तर मे कहीं अधिक है। कारण यही है कि प्रदूषण नियन्त्रण के नियमों की उपेक्षा धड़ल्ले से की जाती है।

अब आते हैं भूमि या मृदा प्रदूषण पर। रहन-सहन के स्तर में वृद्धि, जनसंख्या में वृद्धि आदि कारणों से भूमि का प्रदूषण भी बढ़ रहा है। इसका भी प्रमुख कारण है कूड़े-कचरे का निपटान ठीक से न हो पाना।

विभिन्न शहरों में कूड़ा उत्पादन और निपटान का ब्योरा

शहर	कूड़ा उत्पादन (टन)	निपटान (टन)
दिल्ली	3880	2420
कलकत्ता	3500	3150
बम्बई	5800	58000
बेंगलूर	2,130	1,800
मद्रास	2,675	2,140
लखनऊ	1,500	1,000
पटना	1,000	300
अहमदाबाद	1,500	1,200
सूरत	1,250	1,000

स्रोत : इंडिया टुडे, 31 अक्टूबर 1995

ऐसा नहीं कि इसका निपटान सम्भव नहीं। परन्तु अव्यवस्था के चलते ऐसा नहीं हो पा रहा है। उपरोक्त विवरण में पटना शहर में बहुत अधिक मात्रा में अवैध रूप से रह जाता है। कूड़े को नष्ट करने की भी अपनी समस्या है। उदाहरण के लिए दिल्ली नगर निगम के पास कूड़ा जलाने का देश का एकमात्र संयन्त्र है लेकिन इसका भी उपयोग नहीं होता। कूड़े से कम्पोस्ट बनाने की क्रिया भी बहुत कम होती है। कूड़े के निस्तारण हेतु उपयुक्त स्थान भी अब कम ही रह गये हैं। समय रहते अगर ध्यान नहीं दिया गया तो कूड़े-कचरे के माध्यम से मिट्टी में मिलने वाले प्रदूषक जैसे प्लास्टिक, विभिन्न भारी धातुएँ (कैडमियम, क्रोमियम, लेड, आर्सेनिक आदि) मृदा संरचना को खराब करने के साथ अनुर्वर भी बना सकते हैं। भूमि क्षरण भी एक प्रकार का प्रदूषण ही है। मृदा की ऊपरी पर्त जो सैकड़ों-हजारों वर्षों में बन कर तैयार होती है, वह क्षण भर में ही कट कर नष्ट हो जाती है—कारण है कृषि कार्य एवं जनसंख्या निवास के लिए जंगलों का सफाया। अनुमानतः हर साल लगभग 54 टन पोषक तत्व भूक्षरण

द्वारा नष्ट हो जाते हैं। भूमि के जर्रे-जर्रे से फसल उगाने की कोशिश का नतीजा है फैलते रेगिस्तान। एक अनुमान के अनुसार भारत समेत दुनिया के 100 से अधिक देशों में नये मरुस्थल पनप रहे हैं और पुराने मरुस्थल अपना आकार बढ़ाते जा रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र की रिपोर्ट के अनुसार दुनिया के शुष्क और अर्धशुष्क क्षेत्रों की 80% उपजाऊ भूमि पर मरुस्थलीकरण का खतरा मंडरा रहा है। परन्तु इसे रोकने के लिए उत्तरदायी कारणों का निवारण करने की कितनी चेष्टा की गयी ? बहुत कम।

यदि हम वर्तमान पारिस्थितिकीय संकट का अनुमान करें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस धरती पर रहने वालों को अपने रहन-सहन के सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन लाना होगा, पुनर्निर्माण करना होगा। प्रदूषण के कारणों का निवारण करना होगा। प्रदूषण न फैलाने वाले साधनों का विकास करके उन्हें उपयोग में लाना होगा। रहन-सहन, उद्योग, कृषि आदि के परम्परागत तरीकों में परिवर्तन लाकर पर्यावरण को क्षति न पहुँचाते हुए विकास के नये तरीके ढूँढ़ने होंगे। तभी हम सुखमय जीवन व्यतीत कर सकेंगे। खुशहाली और स्वस्थ पर्यावरण बनाये रखने के लिए मुख्य दो ही बातों पर विशेष ध्यान देना होगा—पहला लक्ष्य का निर्धारण और दूसरा उसे पूरा करने की दृढ़ इच्छा शक्ति और लगन। ■■

(पृष्ठ 8 का शेष)

गणना सम्भव नहीं है, कि पर्वतों के ग्लेशियर पिघलने के बाद कैसा प्रभाव छोड़ेंगे। ग्रीनलैण्ड में बर्फ की अतिरिक्त पर्तें और अन्टार्कटिक के बर्फ, जलवाष्प की मात्रा में वृद्धि, समुद्र तल को नीचा करेंगे। इसे अच्छा तो कहा जा सकता है, लेकिन यह कहाँ तक सत्य होगा, निश्चित नहीं है।

समुद्र कार्बन डाइऑक्साइड को अवशोषित करने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। पृथ्वी तल और समुद्र तल की गहराई में धीमी गति से संचरण होने के कारण इस गैस को अवशोषित करने की समुद्री जल की क्षमता पहले की अपेक्षा कम है। कार्बन डाइऑक्साइड के निष्कासन का केवल आधा भाग ही समुद्र अवशोषित कर पाते हैं। यदि इस गैस की मात्रा में और अधिक वृद्धि न हो, तो आने वाले 100 वर्षों में यह क्षमता 85 से 90% हो जायेगी। इसका एक सुपरिणाम यह होगा कि हमें पुनः प्राप्त करने योग्य ऊर्जा के स्रोत मिल जायेंगे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा में हो रही वृद्धि जीव-जगत् के लिए विषम स्थिति पैदा कर रही है। पर्यावरण में बढ़ रहे कार्बन डाइऑक्साइड को नियन्त्रित करने के लिए वैज्ञानिकों को ऐसी तकनीकों का विकास करना होगा जो कि पर्यावरण को कार्बन डाइऑक्साइड के प्रदूषण से मुक्त रख सकें। वनस्पतियों की वायुमण्डल से कार्बन डाइऑक्साइड अवशोषित करने की क्षमता विलुप्त न हो, इसे ध्यान में रखते हुए प्रत्येक नागरिक को वृक्षारोपण जैसे पुनीत कार्य में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करनी चाहिए। साथ ही साथ सरकारी मशीनरी को भी चाहिए कि पर्यावरण को स्वच्छ बनाये रखने के लिए जो भी कानून बनाये गये हैं, उनका सख्ती से पालन किया जाय। इसके लिए "सचल परीक्षण प्रयोगशाला" का भी उपयोग किया जाना चाहिए, जिससे कार्बन डाइऑक्साइड के स्तर को मापा जा सके। वह दिन दूर नहीं, जब हम दृढ़ इच्छाशक्ति के साथ इस कार्य में जुट जायेंगे और आने वाले समय में 'उज्ज्वल भारत, सुखमय भारत' के निर्माण में सफल होंगे। ■■

कार्बन डाइऑक्साइड का बढ़ता स्तर कितना भयावह

सुनील कुमार पाण्डेय

वायु अनेक प्रकार की गैसों का मिश्रण है। इन गैसों में नाइट्रोजन तथा ऑक्सीजन के पश्चात् तीसरी मुख्य गैस कार्बन डाइऑक्साइड है। वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा सामान्यत: 300 पी० पी० एम० होती है, परन्तु आजकल जनसंख्या व कल-कारखानों की संख्या में वृद्धि होने के कारण कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा में लगातार वृद्धि हो रही है। यही नहीं, वनों के काटे जाने से वातावरण में कार्बन डाइऑक्साइड के अवशोषित होने की मात्रा में भी कमी आयी है। प्रत्येक वर्ष वायुमण्डल में लगभग $50,000 \times 10^6$ टन कार्बन डाइऑक्साइड घुल रही है।

यह जल-विलेय गैस है। आर्हीनियस ने गैस को वायुमण्डल में तापमान के वितरण के लिए उत्तरदायी बताया है। यह गैस निम्न तल के वायुमण्डल और पृथ्वी को गरम रखती है, जबकि ऊपरी तल को ठण्डा रखती है। हालांकि यही एकमात्र गैस ही वायुमण्डल के तापक्रम के लिए जिम्मेदार नहीं है, बल्कि जलवाष्प, मीथेन, क्लोरो-फ्लोरोकार्बन, डाइ-नाइट्रोजन ऑक्साइड आदि भी उत्तरदायी हैं।

यह गैस वायुमण्डल में आने वाली सूर्य की ऊष्मा को अवशोषित करती है और पृथ्वी द्वारा निस्सरित होने वाली ऊष्मा को वायुमण्डल में जाने से रोकती है। पिछली शताब्दी के मध्य से अब तक कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा में 25% की वृद्धि हुई है। ऐसा अनुमान है कि वायुमण्डल में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा में दुगुनी वृद्धि होने पर तापमान में 2.5 सेग्रे० की वृद्धि होगी। पृथ्वी का प्राकृतिक औसत तापमान 15^0 सेंग्रे० है। ऐसा अनुमान है कि इस तापमान में प्रति दशक 2.3^0 की वृद्धि होगी और सन् 2025 तक यह वृद्धि 10^0 सेंग्रे० होगी। लेकिन यह वृद्धि समान नहीं होगी। कार्बन डाइऑक्साइड का वातावरण पर सापेक्ष आवर्ती प्रभाव 61% है।

भूमण्डल तापमान वृद्धि के सम्बन्ध में विशेषज्ञों के विचार ज्ञात करने हेतु 'संयुक्त राष्ट्र संघ' द्वारा गठित की गई एक समिति (1990) की प्रथम रिपोर्ट के अनुसार कार्बन डाइऑक्साइड तथा अन्य ग्रीन हाउस गैसों से आगामी शताब्दी में वायुमण्डल के तापमान में $1.5\text{-}4^0$ सेंग्रे० तक की वृद्धि हो सकती है।

पौधों की अनुकूलता

प्रयोगों द्वारा प्राप्त परिणामों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विभिन्न प्रकार के पौधे पर्यावरणीय परिवर्तन—जैसे ताप और आर्द्रता के अनुसार स्वयं को किस प्रकार उसके अनुकूल बना लेते हैं। कार्बन

शोध छात्र, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद 211002

डाइऑक्साइड का बढ़ता स्तर इस दिशा में महत्वपूर्ण है। विकासशील देशों में उत्पादन घटाने वाले प्रमुख कारणों के बारे में वैज्ञानिकों के विचार हैं कि कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा में वृद्धि होने पर पौधों की बढ़वार या वृद्धि दर अपेक्षाकृत अधिक हो जायेगी, किन्तु उपज घट जायेगी। लेकिन यह भी सत्य है कि ऐसा एक निश्चित सीमा तक ही होगा तथा इस सीमा के बाद उसमें कमी आने लगेगी। मिट्टी और पौधों की सतह से पानी का वाष्पन अधिक होने के कारण भी उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। इसके अतिरिक्त शीतकाल में फिलहाल जितना तापमान होता है, बदली हुई परिस्थितियों में उसका अभाव हो जायेगा, फलस्वरूप शीतकाल में बोयी जाने वाली फसलों का विकास व उत्पादन प्रभावित होगा।

यदि कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा में कोई वृद्धि न हो और धरती का तापमान ज्यों का त्यों बना रहे तो भी सन् 2060 तक भूख से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या 64 करोड़ 10 लाख तक पहुँच जायेगी।

कार्बन डाइऑक्साइड आधारित जलवायु की भविष्यवाणी और इसके लिए विभिन्न प्रतिमानों का कोई विशेष महत्व नहीं है। प्रतिमान अधिक से अधिक दो सप्ताह तक चल सकते हैं, क्योंकि इससे अधिक समय के लिए ये उपयुक्त नहीं होते और इनकी विश्वसनीयता भी संदेहास्पद है। ऐसा इसलिए भी है कि जो प्रतिमान बने हैं वे किसी विशेष क्षेत्र के बारे में वास्तविक भविष्यवाणी करने के लिए पूर्णतया विकसित नहीं हैं, उदाहरण के लिए अमेरिका के पश्चिम में गर्मी में सूखा पड़ने के कारण बहुत से वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि यह हरित पौध गृह प्रभाव का परिणाम है। हालांकि यह गलत है, क्योंकि जब तक वैज्ञानिक इस विषय में स्पष्ट व पूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं कर लेते, उस समय तक इन दर्दीले राजनैतिक मापनों के परिणामों को स्थगित रखना चाहिए।

इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा में और अधिक वृद्धि जलवायु में परिवर्तन लायेगी और चिन्तित होने का कारण उस परिवर्तन का प्रभाव है। प्राकृतिक वनस्पति को जलवायु परिवर्तन के कारण अपने आपको उसके अनुकूल बनाने में लम्बा समय आवश्यक है। वनस्पतियों में, जो अनुकूलता का अन्तिम परिवर्तन हुआ है, वह 10 हजार वर्ष पूर्व हुआ है। यदि हम वर्तमान पारिस्थितिक तन्त्र पर, परिवर्तन के लिए लगाये गये दबाव की तुलना करते हैं, तो हम पाते हैं कि अनुकूलनशीलता अत्यन्त क्षीण है।

एक और चिन्तित होने की बात है और वह यह कि जलवायु परिवर्तन, समुद्री जल के स्तर में निश्चित रूप से वृद्धि लायेगा। पिछले 100 वर्षों के आँकड़े समुद्र की सतह में 10 सेमी० की वृद्धि प्रदर्शित करते हैं। यह औसत मान अलग-अलग स्थानों पर तापमान के अनुसार अलग-अलग होता है। समुद्री जल का उष्मीय प्रसार समुद्र तल को ऊँचा करने में सहायक है। रोबिन (1987) के अनुसार विश्व के तापमान में 1.5-5.5° सेंग्रे० की वृद्धि होने पर समुद्री तल 25-125 सेमी० ऊँचा उठ सकता है।

इसका तात्पर्य यह है कि बांग्लादेश, बोस्टन (स० रा० अ०), थाईलैण्ड और अन्य छोटे द्वीप समूह जलमग्न हो जायेंगे। पृथ्वी की सतह पर 7×10^6 घन मीटर पानी बर्फ के रूप में है। यदि इतनी बर्फ पिघले तो यह समुद्र तल को 60-70 मीटर ऊँचा उठा सकती है। इसके अलावा यह अनुमान है कि पश्चिम अन्टार्कटिक के बर्फ के पिघलने से समुद्र जल के तल में 6 मीटर की वृद्धि होगी, जिसे हम आज असम्भव समझते हैं। वर्तमान् में इसकी

(शेष पृष्ठ 6 पर)

मृदा संरचना बनाने में केंचुए की भूमिका

संजीव त्रिपाठी

केंचुए मिट्टी में निवास करने वाले जीव हैं। केंचुए, मिट्टी एवं आंशिक रूप से सड़े कार्बनिक पदार्थों को भोजन के रूप में ग्रहण करके उन्हें आपस में मिला देते हैं तथा ग्रहण किये गये पदार्थों को पृष्ठ-मलों अथवा अवपृष्ठ जमावों के रूप में त्याग देते हैं। इस प्रकार ये छिद्र प्रणाली का निर्माण करते हैं तथा इन छिद्रों में से होकर मिट्टी में प्रवेश कर जाते हैं। इन सब क्रिया विधियों का समन्वित प्रभाव मृदा-संरचना को अच्छा बनाता है।

डार्विन ने 1881 में केंचुओं की प्रकृति एवं क्रियाविधि पर एक रोचक लेख प्रकाशित किया था। उन्होंने 7.5 से 18.12 टन प्रति एकड़ मृदा के बीच चार विभिन्न मिट्टियों पर वार्षिक कृमि-मल उत्पादन का आकलन किया। वोल्नी (1890) ने सर्वप्रथम मृदा संरचना पर मृदा-कृमि क्रियाशीलता का लाभदायक प्रभाव देखा। उन्होंने वात संरन्ध्रता में 5.9 से 31.2% वृद्धि प्राप्त की। केंचुओं के बिल वायु तथा जल दोनों के प्रति मृदा की पारगम्यता को बढ़ाते हैं।

डाव्सन (1947) ने केंचुए द्वारा निर्मित मृदा समुच्चयों की स्थिरता का मापन 'वाटर ड्राप तकनीकी' द्वारा किया। कृमि मल (Worm cast) तथा कृमि रहित मृदा में, केंचुए की छोटी आँतों से उत्पन्न मृदा समुच्चयों को देखा गया। सम्पूर्ण प्रयोग, कार्बनिक पदार्थ के प्रयोग के साथ तथा बिना प्रयोग किये भी किया गया। परिणामस्वरूप अधिकतम स्थिरता केंचुए की छोटी आँत से उत्पन्न मृदा समुच्चयों में पायी गयी। इन समुच्चयों की स्थिरता पर कार्बनिक पदार्थों का कोई प्रभाव नहीं देखा गया, फिर भी कार्बनिक पदार्थ केंचुए के मल की स्थिरता पर सार्थक प्रभाव डालते हैं। छोटी आँत से उत्पन्न मलों के मृदा समुच्चयों में जीवाणुओं की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। कार्बनिक पदार्थ की उपस्थिति में भी, कृमि-रहित मृदा में समुच्चय अस्थिर थे। केंचुओं की क्रियाशीलता का स्थिर मृदा पुन्जों के निर्माण पर निश्चित प्रभाव पड़ा है।

एवान्स (1948) के अनुसार बदलते कृषि इतिहास में कृमि-मलों से उत्पादन में भिन्नता केंचुओं की प्रजातियों (स्पीशीज) पर निर्भर करती है। अलग की गयी केंचुओं की विभिन्न 25 प्रजातियों में से केवल 8 से 10 ही खेतों में प्रयोग की जाती है। इनमें से केवल तीन पृष्ठ कृमि मल उत्पादन करती हैं तथा अन्य खेत की प्रजातियाँ ग्रहण किये गये पदार्थों को मृदा-नालियों अथवा दरारों में मल के रूप में त्यागती हैं। एवान्स (1948) ने औसत वार्षिक उत्पादन 11 से 11.5 टन कृमि-मल प्रति एकड़ रिपोर्ट किया है। यह कृमि-मल उत्पादन, केंचुए की प्रजाति व मृदा उपचार दोनों के आधार पर बदलता रहता है। पर्याप्त कृमि-मल एक पुराने चरागाह में तैयार हो जाता है, जो कि 10 वर्ष में 2.4 इंच गहराई तक मृदा सतह को ढँक लेता है। मल-उत्पादक केंचुओं की प्रजातियों से युक्त मिट्टी में वातन-संरन्ध्रता-प्रतिशत अधिक होती है।

गिल्ड तथा एवान्स ने केंचुओं को उनके छिद्र करने की प्रवृत्ति के आधार पर दो प्रमुख वर्गों में विभाजित किया—

शोध छात्र, शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-2

1—गहराई तक छिद्र करने वाली प्रजातियाँ अधो मृदा (Sub-Soils) में कई फीट की गहराई तक प्रवेश कर जाती हैं। किन्तु ये मल सतह पर त्यागती हैं और गहराई तक जाने के बावजूद सतह पर मल त्यागने वाली सिद्ध हो चुकी हैं।

2—उथली छिद्र करने वाली प्रजातियाँ सामान्यतया ऊपर से 6 इंच की गहराई तक पायी जाती हैं।

मलरहित केंचुओं की प्रजातियों के छिद्रों से लिए गये मृदा समुच्चय छोटे व अस्थायी होते हैं। सभी केंचुओं के मृदुकण विन्यास (Crumbs) स्थायी नहीं होते हैं। मृदा संस्तर-बी से लाया गया कृमि-मल पूर्णतः अस्थायी होता है। कृषित क्षेत्र से लिए गये कृमि-मल-स्थलों की अपेक्षा कम स्थायी होते हैं। केंचुओं की मृदुकण विन्यास की स्थिरता, कार्बनिक पदार्थों में उनकी मात्रा के सीधा अनुलोमानुपाती होता है। मृदा प्रबन्ध क्रियायें केंचुओं की क्रियाशीलता एवं संख्या दोनों को प्रभावित करती हैं।

कृमि-मल स्थिरता की क्रियाविधि

कृमि-मल एवं साँचे में ढली मृदा से तैयार किये गये कृत्रिम मल उपचार के ऊपर निर्भर करते हैं। कृषित भूमि की अपेक्षा घास स्थलों से प्राप्त कृमि-मल और कणिकाओं की स्थिरता अधिक होती है। निवेशन घास स्थल के कृमि-मल की स्थिरता को बढ़ा देता है, परन्तु कृषित भूमि में नहीं। यदि 0.5 प्रतिशत घासों की जड़ों और प्राकृतिक मिटटी के मिश्रण से बने कृत्रिम मल का निवेशन किया जाय तो वह स्थायी (दृढ़) नहीं होता है। निवेशित घासस्थलों एवं कृषित कृत्रिम मलों की स्थिरता में बहुत कम भिन्नता पायी जाती है। निवेशित मलों में, कवक-जाल प्रभावी स्थिरीकरण कारक होता है। सेवेल (1958) ने कृमि-मल के स्थिरीकरण में चार संभव क्रियाविधियाँ सुझायी हैं—

1—कृमि-मल, संवहन बंडलों के तन्तुओं और जडों के टुकड़ों के द्वारा एक साथ बँधे होते हैं जो कि केंचुओं की छोटी आँतों में भोजन के रूप में पादप पदार्थों के साथ ग्रहण किये जाते हैं। फिर भी जड़ तथा मिटटी के मिश्रण से स्थायी कृत्रिम मल बनाने में सफलता नहीं मिली।

2—मृदा कण, समुच्चयों में केंचुवों की छोटी आँतों के स्राव जैसे कैल्सियम कार्बोनेट अथवा आन्त्र श्लेष्मा (Intestinal mucus) के द्वारा एक साथ जुड़े हो सकते हैं। फिर भी, यह संभावना कृषित भूमि और घास स्थल से प्राप्त कृमि-मलों की स्थिरता के बीच भिन्नता का भेद नहीं कर सकता है।

3—कृमि-मल, छोटी आँतों में सूक्ष्मजैविक संश्लेषण के उत्पादों के द्वारा स्थिर हो सकता है। कृमि-मल की बढ़ी हुई स्थिरता छोटी आँत में गोंद-उत्पादक जीवाणुओं के कारण हो सकती है। पॉलीसैकराइड और सम्बन्धित यौगिक, उत्पादक एजेन्ट के रूप में जाने जाते हैं। प्रतिबंधित वातन के कारण केंचुओं की छोटी आँतों में कवक (फंजाई) नहीं पाये जाते हैं केवल जीवाणु स्थायी मृदा समुच्चयों को तब उत्पन्न करते हैं, जब उन्हें पोषक कार्बनिक पदार्थ के साथ अच्छी तरह मिलाते हैं।

4—कृमि-मल की स्थिरता की संभावना कैल्सियम-ह्यूमेट का सीमेंटीकरण भी हो सकता है। यह कैल्सियम ह्यूमेट, ग्रहण किये गये सड़े कार्बनिक पदार्थ के द्वारा छोटी आँत की नलियों में संश्लेषित होता है तथा कैल्सियम केंचुए के कैल्केरियस ग्रन्थि के द्वारा त्याज्य होता है। समुच्चयों के सतह पर कैल्सियम ह्यूमेट की परत निर्जलीकरण के उपरान्त एक सख्त स्थिरीकरण एजेन्ट की तरह कार्य करती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि केंचुओं के मल से मृदा संरचना (Soil structure) में सुधार के फलस्वरूप जहाँ एक ओर मृदा भू-क्षरण के प्रति काफी हद तक प्रतिरोधी हो जाती है, वहीं दूसरी ओर मृदा की उर्वरा शक्ति में आशातीत वृद्धि हो जाती है।

■ ■

डी एन ए की खोज शैलचित्रों में

जो लोग शैल चित्रों से परिचित हैं वे जानते हैं कि इनमें से काफी सारे चित्र जानवरों के हैं। हजारों वर्ष पूर्व बनाए गए इन शैल चित्रों का अध्ययन पुराविद करते आए हैं। इन चित्रों के आधार पर उस समय के मानवीय क्रियाकलापों की एक झलक भी मिलती है तथा इनका विश्लेषण उस युग को समझने का एक माध्यम हो सकता है।

इन चित्रों में प्राकृतिक रंगों का उपयोग किया गया है। जाहिर है कि उस समय संश्लेषित रंग तो उपलब्ध थे नहीं। ये रंग वनस्पतियों से प्राप्त किए जाते थे। पुराविद् हमेशा से यह मानते रहे हैं कि इन रंगों को बनाने में पशु जन्य पदार्थों का भी उपयोग होता रहा होगा। हाल ही में अमेरिकी वैज्ञानिकों ने इस बात के प्रमाण एकत्रित किए हैं। 4000 वर्ष पुराने शैल चित्रों में से इन वैज्ञानिकों ने डी० एन० ए० अंश प्राप्त किया है। डी० एन० ए० (यानी डीऑक्सीराइबोन्यूक्लिक एसिड) वह पदार्थ है जो सजीवों में आनुवंशिकता का निर्धारण करने का कार्य करता है। शैल चित्रों के रंगों में डी० एन० ए० की उपस्थिति पता लगाने के लिए वैज्ञानिकों ने पोलीमरेज चेन रिएक्शन का उपयोग किया। यह एक ऐसी विधि है जिससे डी० एन० ए० की कई प्रतिलिपियाँ बनाई जाती हैं।

इस डी० एन०ए० का विश्लेषण करने से स्पष्ट हुआ कि यह मानव डी०एन०ए० नहीं है। मानव डी०ए०ए० की संभावना को निरस्त करना इसलिए जरूरी था कि कहीं ऐसा न हो कि स्वयं वैज्ञानिकों के डी० एन० ए० उनमें जा मिले हों। अभी तक जो विश्लेषण हुआ है उससे प्रतीत होता है कि यह डी०एन०ए० किसी पशु का है। परन्तु यह तय करना काफी मुश्किल काम है कि सचमुच किस प्रजाति के पशु का डी०एन०ए० है। परन्तु वैज्ञानिकों को यकीन है कि यह किसी खुर वाले पशु का डी०एन०ए० है। सबसे संभावित उम्मीदवार गेंडा या हिरण है। अब वैज्ञानिक ऐसा डी०एन० ए० प्राप्त करने की कोशिश कर रहे हैं जो उन्हें पशु की शिनाख्त करने में मदद दे सकें। वैज्ञानिकों का मानना है कि यदि इन रंगों से संबंधित पशु का पता लग जाए तो इन चित्रों की व्याख्या में भी मदद मिलेगी। (स्रोत फीचर्स)

(देशबन्धु, रायपुर, 10-6-95 से साभार)

कैरोलस लीनियस : द्विनाम पद्धति के जनक

(1707-1778)

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

कैरोलस लीनियस (कार्ल वॉन लिने) का जन्म 23 मई 1707 को स्वीडेन में हुआ था। पिता निल्स लीनियस क्लैरजीमैन (चर्च में काम करने वाले या पुजारी) थे। वे काले और ठिगने थे। किन्तु उनकी पत्नी सुनहरे बालों वाली लम्बी सुन्दर युवती थीं। उनका संबंध पादरी-परिवार से था। पिता की बागवानी में विशेष रुचि थी। उन्हें प्रकृति से प्रेम था। सो प्रकृति प्रेम, पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों से लगाव उन्हें विरासत में पिता से मिला और माता से मिला चीजों को व्यवस्थित करना। आगे चलकर कार्ल के जीवन के ये दो विशिष्ट गुण बन गए। वे पिता के छोटे से बागीचे के पेड़-पौधों के नाम की पहचान में जुट गए। अनेक प्रकार की चिड़ियों की भी पहचान की। पिता से प्रेरणा पाकर वे उत्तरी स्वीडेन में स्थित लैप लैण्ड के पहाड़ों और जंगलों की यात्रा पर नये पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों की तलाश में चले गए। उनका मन प्रकृति में रमा हुआ था।

कार्ल के विद्यार्थी जीवन की एक घटना विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एक बार कक्षा में अध्यापक हरबेरियम शीट दिखाकर पौधों के नाम बता रहे थे। एक नाम पर लीनियस ने विनम्रतापूर्वक अपने अध्यापक द्वारा बताये गए नाम से अपनी असहमति जताई और तत्काल उसका सही नाम बता दिया। फिर तो जहाँ भी अध्यापक को संशय होता वे सही नाम जानने के लिए लीनियस को बुलाते।

उनके जीवन से संबन्धित एक और घटना का उल्लेख समीचीन होगा। उन्हें 18 वर्षीय सारा एलिजाबेथ मारिया नाम की एक युवती से प्रेम हो गया। इस युवती के पिता चिकित्सक थे और उन्होंने ब्याह के लिए एक शर्त लगा दी कि वे अपनी पुत्री का विवाह कार्ल से तभी करेंगे जब वे डॉक्टरी की विधिवत शिक्षा पूरी कर लेगें। सो प्रेम में पागल कार्ल सारा से शादी करने के लिए प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ॰ बोर्हाव के पास हालैण्ड डॉक्टरी पढ़ने चले गए।

डॉक्टर बोर्हाव का एक सुन्दर-सा बागीचा भी था। एक दिन कार्ल ने एक वृक्ष का सही नाम बताकर डॉ० बोर्हाव को अत्यन्त प्रभावित कर दिया। इसी बीच एक और घटना घटी। डॉ॰ बोर्हाव के एक रोगी जार्ज क्लिफोर्ड को एक ऐसा रोग था जिसके लिए एक निजी चिकित्सक की उन्हें आवश्यकता थी। डॉ॰ बोर्हाव ने इस काम पर कार्ल को लगा दिया। कार्ल के लिए यह सुनहरा अवसर था क्योंकि क्लिफोर्ड का अपना एक बहुत बड़ा बागीचा क्या, यदि चिड़िया घर कहें तो अधिक उपयुक्त होगा, था। कार्ल रोगी की देखभाल के साथ ही वहाँ पेड़-पौधे और पशु-पक्षियों

संपादक, ''विज्ञान'', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

के अध्ययन में भी जुट गए और अपनी लगन से क्लिफोर्ड को प्रभावित किया। क्लिफोर्ड की सहायता से कुछ दिनों के लिए उन्हें लण्डन जाने का भी सुअवसर प्राप्त हुआ जहां उनके ज्ञान का और विस्तार हुआ। वे वापस हालैण्ड चले आये। इसी बीच इन्हें सूचना मिली की उनकी पत्नी को कुछ दूसरे युवक रिझाने की कोशिश कर रहे हैं। इस समय तक उनकी तीन वर्ष की डॉक्टरी की पढ़ायी भी पूरी हो चुकी थी। वे वापस स्वीडेन आ गए और सारा से वैवाहिक बन्धन में बँध गये। सारा उनकी मां की तरह लम्बी, सुनहरी बालों वाली, सुन्दर युवती थीं।

उप्सला विश्वविद्यालय में उन्हें वनस्पति विज्ञान विभाग का अध्यक्ष बना दिया गया। उन्होंने विधिवत डॉक्टरी भी प्रारम्भ कर दी और जल्दी ही एक चिकित्सक के रूप में इतने प्रसिद्ध हो गए कि स्वीडेन के तत्कालीन राजा ने उन्हें अपना निजी चिकित्सक ही बना दिया। किन्तु जिस शोध के लिए लीनियस का नाम आज भी सम्मान के साथ लिया जाता है वह चिकित्सा के क्षेत्र में नहीं, वरन् वनस्पति विज्ञान के क्षेत्र में है और वह है उनके द्वारा प्रतिपादित पौधों के नामकरण की "द्विनाम पद्धति" (बाइनामियल सिस्टम ऑव नामेनक्लेचर) और दूसरा पौधों के वर्गीकरण का "सेक्सुअल सिस्टम"। उदाहरण के लिए आलू या पोटैटो का वानस्पतिक नाम है सोलेनम ट्यूबरोसम। इसमें सोलेनम जेनेरिक और ट्यूबोरोसम स्पेसिफिक नाम हैं। यानी हर पौधे के दो नाम—एक 'जीनस' और दूसरा 'स्पीशीज'। 'सेक्सुअल सिस्टम' पौधों के लिंग अर्थात् नर और मादा जननांगों पर आधारित है।

इनकी अमर कृतियों में 'जेनेरा प्लैन्टेरम,' 'सिस्टेमा नेचुरेली' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये पुस्तकें लैटिन भाषा में लिखी गयी हैं क्योंकि उस समय लैटिन पढ़े-लिखे लोगों की भाषा समझी जाती थी। इनके अतिरिक्त लैटिन में ही लिखी गयी रचना जिसका शीर्षक ग्रीक भाषा में था—'फलोरल्स नुप्टिल्स' (फूलों का व्याह) जिसमें उन्होंने जोर देकर यह प्रतिपादित किया कि फूलों में जानवरों की भाँति जननांग होते हैं। इस क्रान्तिकारी बिचार के लिए उन्हें कड़े विरोध का सामना करना पड़ा किन्तु अन्ततः विजय उनकी ही हुयी। बाद में प्रकाशित रचनाओं में "लेपलैण्ड डायरी" विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

लीनियस का अपने जीवन काल में देश-विदेश के छोटे-बड़े सभी स्तर के वैज्ञानिकों से सम्पर्क था। पौधों की पहचान और नामकरण के लिए देश-विदेश से पौधों के नमूने या हरबेरियम शीट्स लोग भेजते थे। उनका स्वयं का पौधों के नमूनों, हरबेरियम शीट्स, तरह-तरह के पत्थर, कीट-पतंगे और पुस्तकों का विशाल संग्रह था। उनकी मृत्यु के बाद उनके संग्रह में 19,000 हर्बेरियम शीट्स, 3,200 कीट-पतंगों के नमूने, 1,500 शेल्स, 7-800 कोरल्स, 2,500 किस्म के पत्थर और खनिजों के नमूने, और 2,500 पुस्तकें थीं।

अपने समय में लीनियस की गणना विद्वानों और भाषाविदों में की जाती थी। लीनियस का निधन 71 वर्ष की वय में फ्रेंच रेबोल्यूशन से एक वर्ष पूर्व 10 जनवरी 1778 को हो गया। उनके स्वर्गवास को स्वीडेन के राजा ने 'राष्ट्रीय विपत्ति' की संज्ञा दी थी। उनकी कब्र पर लिखा है—"प्रिंसेप्स बोटेनिकोरम" यानी वनस्पति विज्ञानियों का राजकुमार। किन्तु वास्तव में लीनियस वनस्पति विज्ञानियों के राजा थे।

उनकी मृत्यु के बाद लण्डन के 24 वर्षीय एक धनी युवक जेम्स एडवर्ड स्मिथ ने 1000 गिनीज में लीनियस की विधवा से उनके द्वारा छोड़े गये सभी सामान खरीद लिये। इस समय तक लीनियस के पुत्र जिन्हें

उप्सला विश्वविद्यालय में वनस्पति विज्ञान के अध्यक्ष की कुर्सी सौंप दी गयी थी, उनका भी निधन हो चुका था। आगे चलकर स्मिथ ने लन्दन में 'लीनियन सोसायटी' की स्थापना की जो आज सारे संसार में विख्यात है।

लीनियस द्वारा छोड़ी गयी अप्रकाशित पाण्डुलिपियों और पत्रों के ढेर के बीच उनके द्वारा लिखा गया एक प्रेम पत्र भी मिला। यह पत्र उन्होंने एक भारतीय महिला वनस्पति विज्ञानी लेडी ऐन मोन्सन को लिखा था जिसमें उन्होंने अपना हृदय खोल कर रख दिया था। उन्होंने लिखा था कि 'हमारे और तुम्हारे द्वारा जो अनोखी बेटी अत्पन्न होगी उसका नाम मोन्सीनिया रखेंगे।' यह इस बात की ओर इंगित करता है कि अपने बाद वे ऐसी संतति छोड़ना चाहते थे जो वनस्पति विज्ञान के क्षेत्र में बेजोड़ शोध कर सके।

लीनियस अपने कार्यों में आज भी जीवित हैं और अमर रहेंगे। मैं उनकी पावन स्मृति को श्रद्धापूर्वक नमन् करता हूँ।

(विज्ञान परिषद् में 23 मई 1995 को दिए गए व्याख्यान से)

■ ■

ताज को बचाने हेतु अमेरिका में तकनीक की तलाश

वाशिंगटन, 18 जून (वार्ता)। आगरा के विश्व प्रसिद्ध ताजमहल और वहां के फाउन्ड्री उद्योग को बचाने के सस्ते और कारगर तकनीकी समाधानों की तलाश में 14 सदस्सीय भारतीय प्रतिनिधिमंडल इन दिनों अमेरिका की यात्रा पर है।

इस प्रतिनिधिमंडल में ताजमहल के आसपास की फाऊंड्रियों के मालिक शामिल हैं। प्रतिनिधिमंडल अमेरिका में इस्तेमाल में लाई जा रही उन प्रक्रियाओं, प्रौद्योगिकी और उपकरणों का मूल्यांकन करेगा जो फाऊन्ड्री उद्योग से निकलने वाले हानिकारक उत्सर्जन पर रोक अथवा नियंत्रण में सहायक साबित हो सके। भारत के उच्चतम न्यायालय ने 1993 में आगरा में फाऊन्ड्री उद्योग से कहा था कि वह वायु प्रदूषण के नियंत्रण के लिए समुचित उपकरण लगाए अन्यथा उद्योग बंद कर दे। प्रतिनिधिमंडल के अनुसार अधिकतर फाऊंड्री मालिकों ने न्यायालय के आदेश का पालन किया है किन्तु उद्योगों से निकलने वाले हानिकारक धुएं और रसायनों पर नियन्त्रण के सस्ते और कारगर उपायों की अभी भी तलाश है।

फाऊन्ड्री उद्योग से निकलने वाली हानिकारक गैसों में से सल्फर डाइऑक्साइड से ही ताजमहल को सर्वाधिक नुकसान पहुँचता है। अन्य हानिकारक पदार्थों में अधजले कार्बन और कार्बन डाइऑक्साइड भी शामिल हैं। ये सभी रसायन आगरा में वायु प्रदूषण पैदा कर रहे हैं। अपनी किस्म के इस पहले प्रतिनिधिमंडल का प्रायोजन ट्रेड इन इन्वायरन्मेंटल सर्विसेज एवं टेक्नोलॉजी (टेस्ट) कार्यक्रम के तहत किया जा रहा है।

(देशबन्धु, रायपुर, 19-6-95 से साभार)

समीक्षा

पत्रिका का नाम—**पर्यावरण पत्रिका**
(पर्यावरण नीति विशेषांक)

वर्ष—4
अप्रैल-1995
अंक-1

प्रकाशक—राष्ट्रीय पर्यावरण अभियांत्रिक अनुसंधान संस्थान (नीरी), नागपुर

प्रकृति का अतिक्रमण मनुष्य क्या, देवताओं के लिए भी निषिद्ध है। सम्पूर्ण जैवमंडल का नियमन ही जैवमंडल की सुरक्षा है। परन्तु हम मानव को क्या कहें, वह तो प्रकृति के विनाशक का पर्याय बनता जा रहा है। इस सन्दर्भ में रामकिशोर शर्मा की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

हरा भरा हिमवान आज खल्वाट हो चला
पारिजात से सघन वृक्ष अब ठूह मात्र हैं
रसवन्ती सरिताएँ सब रसहीन हो चलीं।

भयावह स्थिति की आशंका को देखते हुए पर्यावरण से सम्बन्धित नीतियों का निर्माण तथा प्रभावी क्रियान्वयन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। ऐसे में 'पर्यावरण पत्रिका' का 'पर्यावरण नीति विशेषांक' हिन्दी भाषा में लोगों को नीतिगत जानकारी उपलब्ध कराने में मील का पत्थर सिद्ध होगी।

पत्रिका में प्रकाशित सभी लेख, लेखकों के खोजपूर्ण प्रवृत्ति के द्योतक हैं। उनमें कुछ लेखों जैसे 'भारत की पर्यावरण नीति कैसी हो ?' (शिवगोपाल मिश्र तथा दिनेश मणि), 'सतत विकास की रणनीति : उपयुक्त पर्यावरण नीति' (प्रदीप के. बसू), 'उत्पादकता के माध्यम से पर्यावरण संरक्षण' (के. पी. न्याती) में पर्यावरण संरक्षण हेतु सुझाये गये उपाय प्रभावी तथा परिणामोत्पादक हैं। उर्मिला रूस्तगी द्वारा प्रस्तुत लेख—'वैदिक कालीन पर्यावरण नीति' हमारी पर्यावरण के प्रति चली आ रही आदिकालीन जागरूकता को स्पष्ट करता है।

पत्रिका का आवरण आकर्षक और मनमोहक है। वह अपनी पूर्ण साज-सज्जा एवं कलेवर के साथ अवतरित हुई है। इसमें उपयोग किये गये उत्तम किस्म के चिकने कागज पर की गयी छपाई आकर्षक बन पड़ी है। बहुरंगी कवर के कारण पत्रिका की कशिश और बढ़ गयी है। कहीं-कहीं एक आध प्रूफ सम्बन्धी त्रुटियों के होते हुए भी निःसंदेह यह एक संग्रहणीय अंक है।

इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि पत्रिका का इस रूप में आना सम्पादक श्री शर्मा जी के अथक परिश्रम का परिणाम है। कुशल सम्पादन के लिए श्री शर्मा जी को कोटिशः बधाई।

अन्ततः इस पत्रिका के प्रस्तुतीकरण से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े लेखक, प्रकाशक, मुद्रक सहित सभी व्यक्ति बधाई, सराहना और साधुवाद के पात्र हैं।

—डॉ॰ सुनील दत्त तिवारी
औद्यानिक प्रयोग एवं प्रशिक्षण केन्द्र
राजकीय उद्यान, खुशरूबाग, इलाहाबाद

भारतीय वनों की वर्तमान स्थिति और जंगल की आग पर गोष्ठी संपन्न

एक प्रजाति के लुप्त होने पर पौधों की दस अन्य प्रजातियाँ लुप्त हो जाती हैं

विज्ञान परिषद् के सभागार में 27 जून को "भारतीय वनों की वर्तमान स्थिति और जंगल की आग" विषय पर एक सामयिक विचार गोष्ठी आयोजित की गयी, जिसकी अध्यक्षता भारतीय वनस्पति सर्वेक्षण, इलाहाबाद के वरिष्ठ वैज्ञानिक डॉ० आर० सी० श्रीवास्तव तथा संचालन "विज्ञान" पत्रिका के सम्पादक प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने किया।

गोष्ठी की शुरुआत में प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने विषय प्रवर्तन करते हुये कहा कि भारतीय वनों की स्थिति पहले से ही खराब है। पेड़ों की अन्धाधुंध कटान तथा असफल वृक्षारोपण के कारण सिर्फ 8 प्रतिशत भू-भाग पर ही वन रह गये हैं। वनों में प्राकृतिक रूप से आग लगने का प्रतिशत सिर्फ 5 प्रतिशत है। 95 प्रतिशत मानवजनित आग ही लगती है जिससे होने वाला नुकसान कल्पनातीत है। जंगल की आग से 870-980 डिग्री सेन्टीग्रेड (1600-1800 डिग्री फारेनहाइट) ताप उत्पन्न होता है जो जंगल के सम्पूर्ण पर्यावरण को प्रभावित करने में सक्षम है। अतः हम सभी को प्राकृतिक तथा कृत्रिम दोनों ही रूपों से लगी आग को बुझाने के लिये अमेरिका, जर्मनी और जापान जैसे राष्ट्रों की भाँति 'प्रशिक्षित अग्निशामकों' की व्यवस्था करनी होगी।

डॉ० रमेश चन्द्र श्रीवास्तव ने अपने अध्यक्षपदीय उद्‌बोधन में कहा कि एक प्रजाति के लुप्त होने पर पौधों की 10 अन्य प्रजातियाँ और लुप्त हो जाती हैं। एक प्रजाति के जीव के नष्ट होने से भोजन-शृंखला टूट जाती है। चीड़ के जंगलों में लगी आग अत्यन्त भयानक होती है क्योंकि इसके तने और पत्तियों में रेजिन नामक पदार्थ होता है। दियासलाई की एक तीली से एक पूरा चीड़ वन नष्ट हो सकता है। चीड़ के वन के स्थापित होने में 400-500 वर्ष लगते हैं, किन्तु कटने में कोई समय नहीं लगता। उन्होंने बल देकर कहा कि केवल पर्यावरणमित्र योजनाओं से ही सरकार द्वारा स्वीकृति मिलनी चाहिये।

प्रो० शिवगोपाल मिश्र ने कहा कि वैसे तो प्राकृतिक रूप से पेड़ों के संघर्षण से वनों में आग लगती रही है किन्तु मानवीय हस्तक्षेप से इस बार जो पर्वतीय क्षेत्रों में आग लगी है उससे जैव-विविधता का नुकसान हुआ है। इसे बुझाने के लिये रणनीति बनानी चाहिए।

डॉ० मुरारी मोहन वर्मा ने कहा कि प्रकृति में सृजन तथा विघटन का कार्य स्वाभाविक रूप से होता है किन्तु माफियों, उग्रवादियों तथा ठेकेदारों की साजिश के तहत लगायी गयी इस बार जंगल की आग से वास्तव में काफी नुकसान हुआ है।

डॉ० अशोक महान ने कहा कि आतंकवादियों के अतिरिक्त अधिकारी वर्ग और राजनेताओं की उदासीनता के कारण यह आग विस्तृत रूप से बेकाबू होकर फैली है। इसके लिये हम सभी जिम्मेदार हैं।

डॉ० दिनेश मणि ने कहा कि जंगल की आग से नुकसान अधिक हुआ है। पशु चारे की उपलब्धता के लिये पहले जो आग लगायी जाती रही है उसमें इतना नुकसान नहीं होता था। निःसन्देह इस बार की आग से जैव विविधता नष्ट हुयी है। इसके दूरगामी दुष्परिणाम सामने आयेंगे मगर विडम्बना यह है कि कई वर्षों से लगी लोगों के पेट की आग को जब कोई नहीं बुझा रहा है तो जंगल की आग या तेल कुंओं की आग की बात ही क्या।

डॉ० सुनील दत्त तिवारी ने कहा कि जंगल में आग लगने से धरती का तापमान बढ़ रहा है इसका हिमालय के ग्लेशियर पर भी प्रभाव पड़ेगा।

श्री सुनील कुमार पाण्डेय ने कहा कि प्रतिवर्ष भारतीय वनों की स्थिति दयनीय होती जा रही है। वनाच्छादित क्षेत्रफल घट रहा है। वैसे ही पेड़ों की कटान अपने आप में एक गम्भीर समस्या है। ऊपर से जंगल की आग ने तो सब कुछ चौपट ही कर दिया।

श्री देवी दयाल पाण्डेय ने कहा कि चाय बागानों को लगाने के लिये कुछ लोगों ने जान बूझकर जंगल नष्ट करने हेतु आग लगवाई है साथ ही बुझाने भी नहीं दिया गया जिससे काफी नुकसान हुआ है। श्री संजीव त्रिपाठी ने कहा कि पहले जंगलों की आग को हरी टहनियों से पीट-पीटकर बुझाया जाता था। आग जब बेकाबू हो जाती है तो वह आसानी से बुझ नहीं पाती है। इसके लिए आदिवासियों तथा जंगलवासियों की सहभागिता आवश्यक है।

श्री विनोद कुमार पाण्डेय ने कहा पहले ब्रिटिश काल में विरोध प्रदर्शित करने के उद्देश्य से जंगलवासी आग लगाते थे परन्तु बाद में स्वतः बुझा भी देते थे। इस बार जंगलवासियों-आदिवासियों ने लाल फीताशाही के कारण आग नहीं बुझाई।

(दैनिक जागरण 28-6-1995 से साभार)

तम्बाकू की खेती पर प्रतिबन्ध : समय की पुकार है

दर्शनानन्द

तम्बाकू सेवन धूम्रपान या किसी भी रूप में करने से गला, मुंह, फेफड़ा, भोजन नलिका और मूत्राशय आदि जैसे शरीर के अंगों में कैंसर होने की सम्भावनाएं बढ जाती हैं। यह अब निर्विवाद है कि तम्बाकू सेवन की प्रक्रिया कैंसर, हृदय रोग, ब्रांकाइटिस, तपेदिक, दमा, उच्च रक्तचाप, स्नायविक दौर्बल्य, रक्त-प्रवाह में गड़बड़ी, नेत्र-ज्योति की कमजोरी, त्वचा रोग, बांझपन एवं नपुंसकता तथा लकवा जैसे घातक रोगों को जन्म देता है।

तम्बाकू द्वारा उत्पन्न इन दुष्परिणामों की तथा तम्बाकू सेवन पर प्रतिबंध लगाने की चर्चा दशकों से होती चली जा रही है। हर वर्ष 31 मई को 'तम्बाकू विहीन दिवस' मनाया जाता है, यादें ताजा की जाती हैं और तम्बाकू के दुष्प्रभावों पर विचार-विमर्श भी होते हैं। परन्तु स्थिति यथावत बनी रहती है। इस दिशा में विशेषकर अपने देश में कोई प्रभावी कदम अभी तक नहीं उठ पाया है।

एक सिगरेट पीने से मनुष्य की 5 मिनट आयु कम हो जाती है। साथ ही उसके ही शरीर से 25 मिली ग्राम विटामिन 'सी' भी निकल जाता है।

धूम्रपान करने या तम्बाकू चबाने से उत्पन्न रोगों के कारण विश्व भर में प्रतिवर्ष 30 लाख व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है। इनमें से 3,90,000 व्यक्ति केवल संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में मरते हैं।

वर्तमान समय में विश्व भर में एक अरब से भी अधिक व्यक्ति धूम्रपान करते हैं तथा प्रति मिनट 50 लाख से भी अधिक सिगरेटें पी जाती हैं। इस कारण करोड़ों रुपये जल कर राख हो जाते हैं अथवा धुंआ बन कर उड़ जाते हैं। विश्व में प्रति वर्ष लगभग सात हजार करोड़ सिगरेटें पी जाती हैं।

भारत में 15 वर्ष से ऊपर की आयु के 21.4 करोड व्यक्ति तम्बाकू के शिकार हैं। इनमें 7.2 करोड़ स्त्री तथा 14.2 करोड़ पुरुष हैं। एक आंकड़े के अनुसार वर्ष 1986 में अपने देश में 60 अरब सिगरेटों की बिक्री हुई। यह संख्या 1991 में बढ़ कर 85 खरब हो गई। इसी प्रकार बीड़ी की बिक्री में सिगरेट की अपेक्षा 10-12 गुना बढोत्तरी हुई।

तम्बाकू सेवन से उत्पन्न रोगों के कारण अपने देश में हर वर्ष 8,03,000 तथा रोजाना 2,200 व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है। तम्बाकू सेवन का प्रतिफल विश्व की किसी ऐसी आपदा से भी अधिक हो सकता है, जो लाखों-करोड़ों व्यक्तियों को मौत के घाट उतार देती है।

उपनिदेशक, उद्यान, इलाहाबाद मण्डल (उ० प्रा०), सी-67, गुरु तेगबहादुर नगर, करेली हाउसिंग स्कीम, इलाहाबाद-211016 (उ० प्र०)

विकसित देशों में तो तम्बाकू सेवन कम हो रहा है, परन्तु भारत जैसे विकासशील देशों में तम्बाकू सेवन करने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है। विकसित देश अपने यहाँ धूम्रपान में तो कमी कर रहे हैं, पर साथ ही ये अपने सिगरेट विकासशील देशों को बेच रहे हैं।

सिगरेट की बहुत सी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ भारत व अन्य विकासशील देशों में सिगरेट के व्यापार में वृद्धि करने के प्रयास में लगी हुई हैं। अमेरिका का लक्ष्य है कि 21वीं शती के आरम्भ तक उनका देश धूम्रपान मुक्त हो जाए, जबकि भारत में इस प्रकार के प्रयासों का अभाव दिखता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने सचेत किया है कि यदि धूम्रपान करने और तम्बाकू सेवन की यही गति जारी रही तो विकासशील देशों में वर्ष 2020 तक प्रति वर्ष 70 लाख व्यक्ति मरने लगेंगे, जबकि वर्तमान समय में यह संख्या केवल 10 लाख है।

सिगरेट के धुएँ में सब से घातक वस्तु निकोटीन होती है, जिसके बाद टार की गणना की जाती है। निकोटीन को फेफड़े से मस्तिष्क तक पहुँचने में केवल छः सेकेण्ड लगते हैं। एक सिगरेट में जितना निकोटीन होता है उतना यदि किसी को इन्जेक्शन के रूप में लगा दिया जाय या एक सिगरेट का पूरा धुआँ यदि मनुष्य अपने मुँह से बाहर न निकाले तो उसकी तुरन्त मृत्यु हो सकती है।

सिगरेट के धुएँ में कुछ भारी धातुओं के यौगिक भी होते हैं, जो पर्यावरण को प्रदूषित करते हैं। सोवियत विशेषज्ञों का मत है कि सिगरेट पीने से प्रति वर्ष वायुमंडल में 10.5 टन कैडमियम, 14.8 टन सीसा तथा 48.5 टन तांबा और अन्य धातुएँ फैल जाती हैं। इससे वायु प्रदूषण का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। किन्तु वास्तविक धूम्रपान करने से कहीं अधिक घातक होता है पार्श्व धूम्रपान। धूम्रपानी इस बात की कतई परवाह नहीं करते और न ही उन्हें इस बात का थोड़ा भी ध्यान रहता कि उनके मुँह से निकला धुआँ कहाँ या किसके मुँह पर पड़ रहा है। यहाँ तक कि वे अपने बीबी-बच्चों तक के पास बैठकर धूम्रपान करते रहते हैं। इस प्रकार धूम्रपानी के मुँह से निकाला गया सिगरेट का विषैला धुआँ उसके आस पास के व्यक्तियों को बाध्य होकर अपनी सांस के साथ खींचना ही पड़ता है।

सिद्धान्ततः यह सभ्यता के विपरीत है। परन्तु अफसोस की बात यह है कि अनेक शिक्षाविद् भी इन बातों पर ध्यान नहीं देते।

केलिफोर्निया के एक प्रशासन संगठन 'आकूपेशनल एण्ड हेल्थ एडमिनिस्ट्रेशन' द्वारा इस प्रकार [illegible]गत किया गया है :

"पार्श्व धूम्रपान के कारण उत्पन्न हृदय रोग से लगभग 43000 तथा फेफड़े के कैन्सर से 3000 मौतें प्रति वर्ष होती हैं। इनके अतिरिक्त गैर जानलेवा हृदयाघात से 1,50,000 व्यक्ति हर साल प्रभावित होते हैं।"

अतएव यह स्पष्ट है कि तम्बाकू प्रयोग और धूम्रपान पर प्रत्येक देश को प्रतिबंध लगाना चाहिए। इसके लिए जन साधारण को स्वयं तथा साथ ही प्रशासन को भी जागरूक होना होगा। प्रशासन को इस दिशा में कठोर

क़दम भी उठाना होगा। ऐसा करना इसलिए आवश्यक है क्योंकि जहाँ के लिए कानून बने भी हैं, जैसे सिनेमा घर, रेलगाड़ी, बस या अन्य सार्वजनिक स्थान आदि, वहाँ भी कानून तोड़ कर धूम्रपान किए जाते हैं। यहाँ तक कि जहाँ स्पष्ट लिखा हुआ है कि "धूम्रपान करना दण्डनीय अपराध है", वहाँ भी धूम्रपान होते हैं। इसका मुख्य कारण है ढीला प्रशासन।

मेरे विचार से तम्बाकू को जड़ से समाप्त कर देना ही तम्बाकू के प्रयोग को रोकने का ठोस उपाय हो सकता है। कई बार भारत में इस आशय की घोषणाएँ की जा चुकी हैं कि तम्बाकू की खेती पर प्रतिबंध लगाया जा रहा है। परन्तु ये केवल घोषणाएँ ही रह गई हैं। बहुत से देश, जिसमें भारत प्रमुख है, तम्बाकू की पैदावार से बिदेशी मुद्रा कमा रहे हैं। तम्बाकू उद्योग से सरकार को अच्छी खासी आमदनी होती है। इससे बड़ी संख्या में लोगों को रोज़-गार भी उपलब्ध होते हैं।

फिर भी इस फैलते हुए विष से बचने के लिए तात्कालिक लाभ को त्यागना पड़ेगा। अपने देश में एक से एक बढ़कर फसलें उपलब्ध हैं, जो देश, सरकार और कृषक को अच्छी आमदनी दे रही हैं। तम्बाकू उद्योग में लगे लोगों को इस ओर मोड़ना होगा। किसी की जान पर खेल कर तम्बाकू पैदा करना और उससे आमदनी लेना किसी भी दशा में न्यायोचित नहीं है। तम्बाकू की खेती और बीड़ी-सिगरेट व तम्बाकू-निर्माण व इनका प्रयोग प्रत्येक दशा में प्रतिबंधित करना होगा।

भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद् के अनुसार तम्बाकू की खेती पर प्रतिबंध लगाने से अपने देश को प्रति वर्ष 1078 करोड़ रुपयों की क्षति होगी, परन्तु इसी के साथ यह भी इंगित किया है कि तम्बाकू के प्रयोग द्वारा उत्पन्न रोगों के उपचार में उक्त आमदनी से कहीं अधिक धनराशि अर्थात् 2394 करोड़ रुपये पानी की तरह बह जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि अपने देश में तम्बाकू की खेती से वास्तव में लाभ के बजाय हर साल 1346 करोड़ रुपयों की क्षति होती है।

अतएव तम्बाकू द्वारा उत्पन्न समस्या को समाप्त करने के लिए तम्बाकू की खेती पर प्रतिबंध लगाना मान-वता के हित में श्रेयस्कर होगा।

■ ■

विज्ञान वार्ता

डॉ० अरुण आर्य

1. जीव रक्षक जीव भक्षक बना

ब्राज़ील की एक पत्रिका 'न्यू साइं...' से अनुसार ब्राजील के द्वीपों में चूहों को मारने के लिए एक छिपकली को छोड़ा गया। लेकिन अब यह छिपकली वहाँ के वन्य जीवों के लिये एक खतरा सिद्ध हो रही है।

ट्यूपिनाम्बिस टेगुइक्सिन (Tupinambis teguixin) को ब्राजील के द्वीप फरनान्डी ने नोरन्हा में चूहों को मारने के लिये छोड़ा गया। पर अब यह समुद्री पक्षियों के अंडों को खाने लगी है और लुप्तप्राय हाक्स बिल कछुओं के अण्डों को अपना स्वादिष्ट भोजन समझ रही है।

इस छिपकली के डर से समुद्री पक्षी जमीन में नहीं बल्कि पेड़ों में अपने अण्डे देने लगे हैं।

इस छिपकली को साधारण भाषा में 'तेजू' कहते हैं। यह उत्तरी ब्राजील में बहुत अधिक संख्या में पायी जाती थी। लेकिन खाल एवं मांस के लिये इसे मारा जाने लगा। अब वर्तमान स्थिति को देखते हुये, ब्राजील सरकार की पर्यावरण संस्था 'इबामा' इस सोच में है कि इस छिपकली के शिकार को स्वीकृति दी जाय अथवा नहीं।

2. घातक मूंगफली

जाड़े के दिनों में प्रायः सभी लोग मूंगफली (पीनट), जिसे गुजराती में सींगदाना कहते हैं, खाते हैं। मूंगफली, अरेकिस हाइपोजिया (Arachis hypogea) फैबेसी (Fabaceae) कुल का पौधा है। इसके दानों का स्वाद सभी को अच्छा लगता है।

मूंगफली खाते-खाते कभी-कभी अनजाने ही मुंह में ऐसे दाने पहुँच जाते हैं कि अचानक मुंह कड़वा हो जाता है और थूकने के अलावा कोई रास्ता नहीं रहता। परन्तु इसके बाद हम पुनः पूर्ववत् मूंगफली खाने लग जाते हैं। बहुत कम लोग जानते हैं कि मूंगफली के दानों में उत्पन्न इस तीव्र कड़वाहट का कारण क्या होता है।

प्रवक्ता, बनस्पति विज्ञान विभाग, म० स० राव० वि० वि०; बड़ौदरा, गुजरात-390002

भागलपुर विश्वविद्यालय (बिहार) के ख्यातिप्राप्त पादप रोग वैज्ञानिक डॉ० के०एस० बिलग्रामी एवं उनके सहयोगियों ने पता लगाया कि मूंगफली में कड़वाहट का कारण एफ्लाटॉक्सिन (Aflatoxin) नामक विषैले पदार्थ एस्परजिलस (Asplergillus) कवक द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। एफ्लाटॉक्सिन वास्तव में कवक द्वारा उत्पन्न रसायनों का समूह होता है, जिसमें कई घातक विष शामिल रहते हैं।

वैज्ञानिक शोधों से पता चला है कि मूंगफली के जिन दानों पर कवक उग जाती है, उन्हें छीलने पर उनमें से एक पीला पाउडर (चूर्ण) निकलता है जो स्वाद में काफी कड़वा होता है।

एफ्लाटॉक्सिन का अर्थ है एस्परजिलस फ्लेवस टॉक्सिन अथवा विष। यह विष यकृत में कैंसर पैदा करने में सक्षम है।

युगाण्डा में लोपेज एवं क्राफोर्ड (1967) ने बाजार से मंगवाये मूंगफली के नमूनों की जाँच की और 15 प्रतिशत नमूनों में। पी० पी० एम० एफ्लाटॉक्सिन बी-1 और 2.5 प्रतिशत नमूनों में 2.5 पी० पी० एम० बी-1 पाया गया। टेबर एवं स्कूडर ने 1967 में स्पेन से प्राप्त 324 नमूनों का परीक्षण किया और पाया कि 95 नमूनों में एफ्लाटॉक्सिन मौजूद है। तुंग एवं लिऊ (1968) ने ताइवान की मूंगफली, मूंगफली बटर, मूंगफली केक, मूंगफली तेल में एफ्लाटॉक्सिन होने की पुष्टि की है।

श्रीनिवासमूर्ति एवं उनके सहयोगियों ने 1965 में मैसूर के बाजारों में मिलने वाली मूंगफली से एसपरजिलस फ्लेवस नामक कवक खोज निकाला। हैदराबाद एवं जबलपुर से भी मूंगफली में एफ्लाटॉक्सिन होने की पुष्टि की जा चुकी है। मूंगफली के तेल से एफ्लाटॉक्सिन विष उस समय नष्ट हो जाता है जब उसका शोधन किया जाता है। शोधन के दौरान ये विष क्षार के कारण नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार मूंगफली का परिष्कृत तेल एफ्लाटॉक्सिन से मुक्त होता है।

3. लहसुन : तपेदिक के उपचार में सहायक

दिल्ली के वैज्ञानिकों ने जैव-रसायन एवं जैव-विज्ञान की एक अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में यह उद्घाटित किया कि लहसुन टी० बी० (क्षय रोग) के जीवाणुओं को मारने में सक्षम है।

'एलिसिन' नामक पदार्थ जो कि लहसुन से प्राप्त होता है, ने तीन सप्ताह में माइकोबैक्टीरियम ट्यूबरक्यूलोसिस की वृद्धि को रोक दिया।

सुश्री डॉ०श्री लता ने गुरु तेग बहादुर अस्पताल के बीमार रोगियों पर इसके सफल प्रयोग किये। 'आयुर्वेद में इस प्रकार के उपचार के बारे में पहले से ही बताया गया है। डॉ० डी० श्रीलता ने कहा है कि रोगियों पर इ प्रकार के प्रयोग 1946 में किये गये थे लेकिन ऐसे परीक्षणों को आगे नहीं बढ़ाया गया।

4. यूरोएयर : शुद्ध हवा का आधार

वायुजन्य कवकों के बारे में विश्व के अनेक देशों में शोध हुये हैं। ये कवक पेड़-पौधों, जानवरों एवं मनुष्यों में बीमारियाँ उत्पन कर सकते हैं। अधिक नम स्थानों में संग्रहीत दालों, बीजों एवं आनाजों के साथ ही साथ अन्य खाद्य पदार्थों का इनसे विनाश भी हो सकता है।

अनेक संग्रहालयों, पुस्तकालयों और जहाँ पर भी कार्बनिक पदार्थ हैं, जैव-नाश की क्रिया द्वारा राष्ट्रीय सम्पत्ति का विनाश हो रहा है।

आज आन्तरिक वायु जैविक शोध (Indoor airobiological studies) तेजी से किये जा रहे हैं। अनेक स्थानों पर 'एलर्जी' उत्पन्न करने वाले कवकों का पता चला है। एक सर्वेक्षण में तो दिल्ली के अस्पतालों में ही अनेक प्रकार के 'एलर्जी' उत्पन्न करने वाले कवक स्पोरों की उपस्थिति का पता चला है। बड़ौदा के विभिन्न संग्राहालयों में भी ऐसे स्पोरों का पता चला जो 'एलर्जी' उत्पन्न करने में सक्षम थे।

यूरेका फोर्ब्स नामक कम्पनी ने 'यूरोएयर' नामक हवा को शुद्ध करने की एक मशीन का निर्माण किया है। इसमें पॉलीप्रोपेलीन और पानी में धो सकने योग्य पॉलीयूरेथेन फोम फिल्टर का प्रयोग किया गया है और एक ऋण आयन उत्पन करने वाले सिस्टम का उपयोग किया गया है। लगभग 5 हजार रुपये के मूल्य का यह यन्त्र 1000 क्यू० फीट क्षेत्र वाले कमरे के लिये उपयुक्त है।

महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय के वनस्पति विज्ञान विभाग में एक प्रयोग किया गया। इसमें 'कल्चर प्लेट एक्सपोजर मेथड' के द्वारा कवकों का पता प्रयोगशाला में लगाया गया। आल्टरनेरिया आल्टरनाटा, एस्परजिलस फ्यूमीगेटस, ए०नाइजर, बाट्रीयोडिप्लोडिया थियोब्रोमाई, म्यूकर, पेनीसीलियम नामक कवकों की उपस्थिति हवा में पायी गई। 5 पेट्री प्लेट्स को 10 मिनट तक सूखा रखने पर 4 दिन पश्चात् ए०नाइजर (Aspergillus niger) की 6 कॉलोनियाँ पाई गईं।

दूसरे दिन प्रातःकाल 8 बजे कमरे को ए० नाइजर के 'कोनीडिया' से 'कन्टेमिनेट' किया गया। फिर यूरोएयर को चलाया गया। जहाँ सुबह 9 बजे कॉलोनियों की संख्या 20 थी, 11 बजे घट कर 5 और सायं 6 बजे केवल 2 रह गई। इस प्रयोग द्वारा यह साबित होता है कि यूरोएयर 2 से 10 माइक्रॉन वाले सूक्ष्म कवक के स्पोरों को हवा से छानने में सक्षम है।

■ ■

प्राणियों में व्याप्त प्रजातीय हिंसा का मानव संदर्भ में वैज्ञानिक विवेचन

डॉ० राजीव रंजन उपाध्याय

क्रमिक विकास के परिणाम का स्वरूप मानव है। इसे इस स्थित में आने में करीब 4 करोड़ वर्ष लगे हैं। स्वाभाविक है कि इसमें निहित हिंसा, क्रोध आदि गुण पूर्ववर्ती मानवेत्तर पूर्वजों से विरासत के रूप में प्राप्त हुये हैं। इस प्रकार प्रजातीय हिंसा मात्र विपन्न समाज अथवा समुदाय की समस्या नहीं है, यह तो संपन्न, समृद्धिशाली समाज में भी व्याप्त है। यदि ऐसा न होता तो विश्व के विभिन्न राष्ट्रों द्वारा इस समस्या के राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक निदान असफल न हुये होते। विश्वभर में मानव के विकासोन्मुख होने के साथ-साथ प्रजातीय संघर्ष बढ़ रहा है। यह उन देशों में, जिनकी जनसंख्या समान धर्मा है, जहाँ पर एक ही धर्म के अनुयायी हैं, जो अनेक दृष्टि से एक प्रकार की जीवन पद्धति और विचार रखते हैं, वे भी इस जातीयता के संघर्ष से नहीं बच पाये हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण हमारा पड़ोसी देश पाकिस्तान है।

पाकिस्तान में जातीय संघर्ष आये दिन सुनने को मिलते हैं—चाहे यह मुजाहिरों एवं सिंधियों का हो, बलूचों और पठानों का हो अथवा सुन्नी मातवलंबी और शिया या अहमादिया आदि संप्रदायों के बीच। धर्म के नाम पर बना बंगलादेश भी इसी व्याधि से पीड़ित है।

इसी प्रकार की समस्या निग्रो बहुल, विकसित देश लाइबीरिया में देखने को मिलती है। इस देश में सभी को जीवन की समस्त सुख-सुविधायें उपलब्ध हैं, परन्तु यहाँ पर भी अश्वेत अमेरिकी निग्रो लोगों तथा नवागंतुक निग्रो-अश्वेतों के बीच जातीय संघर्ष आए दिन सुनने और देखने को मिलता है। इस संदर्भ में यह बताना आवश्यक है कि लाइबेरियावासी मुख्य रूप से इसाई हैं। यहाँ के लोग ईसा मसीह के अनुयायी हैं परन्तु यहाँ भी 'इस्लाम' के नाम पर गठित देशों के नागरिकों की भाँति ही, जातीय हिंसा होती रहती है। धर्म और हिंसा दोनों विभिन्न ध्रुवों की भाँति हैं जो सदैव एक दूसरे से दूर रहते हुये भी जुड़े रहते हैं। इस प्रकार वैज्ञानिक रूप से चिन्तन करने पर ऐसा लगता है कि हिंसा का स्वाभाविक गुण मानव में अपने पूर्ववर्ती जीव-कपियों से विरासत में मिला है।

इस विषय की गंभीरता में जाने के पूर्व यह उत्तम होगा कि हम मानव-प्रकृति के अध्येता वैज्ञानिकों के विचारों से। इस विषय में परिचित हो जायें।

विख्यात रूसी प्राणि वैज्ञानिक डॉ० जी० यफ० गाउस की पुस्तक "द स्ट्रगल फॉर इग्जिस्टेंस (The Struggle For Existence) जो 1934 में प्रकाशित हुयी थी, में उन्होंने जीवों में व्याप्त आक्रामक प्रवृत्ति, हिंसा आदि विभिन्न गुणों पर अध्ययनों परान्त निम्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था—

उपाध्याय कैंसर शोध संस्थान, परिसर कोठी काके बाबू, देवकाली मार्ग, फैजाबाद

किन्हीं भी जीवों की दो प्रजातियां एक स्थान पर दीर्घकाल तक सह अस्तित्व में नहीं रह सकती हैं, क्योंकि उनमें भोजन के हेतु स्पर्धा का प्रारम्भ हो जाता है। इस स्पर्धा का अन्त निम्न प्रकार से होता है—

प्रथम स्वरूप में एक प्रजाति दूसरी प्रजाति का विनाश, भोजन न देकर अथवा उस वर्ग की हत्या कर, उसको समाप्त कर देती है।

दूसरी विधि में संघर्षोपरान्त एक प्रजाति पराजित होकर अपने वासस्थल से कहीं दूर चली जाती है। अथवा

तीसरी विधि में दो प्रजातियों में से एक प्रजाति जो कम शक्तिशाली सिद्ध होती है, अपनी आवश्यकताओं में परिवर्तन, संशोधन कर, उसी स्थल पर वास करने लगती है। यह परिवर्तन उस प्रजाति की भोजन समस्या के अनुरूप होता है। इस प्रकार एक ही प्रकार का भोजन न होने के कारण दोनों प्रजातियाँ एक ही स्थल पर वास तो कर लेती हैं परन्तु इनमें से जो प्रजाति शक्तिशाली रहती है वह बहुसंख्यक होती है तथा उसका वर्चस्व रहता है। जातीय संघर्ष के इन सिद्धान्तों को विकसित करने में वैज्ञानिकों को साठ (60) से अधिक वर्षों का समय लगा है और ये धारणायें अनेक प्रकार के जीवों और वनस्तपतियों के अध्ययन पर आधारित हैं। डॉ० एलवर्ट सेन्टगिर्योगी जिनको 1931 में उनकी जैविक शोधों के लिए 'नोवेल पुरस्कार' से सम्मानित किया गया था, की अवधारणा है कि जातीय संघर्ष का गुण, जो मानव स्वभाव में निहित है, उसका विकास मानवेत्तर जीवों से, उसे प्राप्त हुआ है। इसी का प्रतिपादन उन्होंने अपनी पुस्तक "द क्रेजी ऐप" (The Crazy Ape) में किया हैं।

डॉ० कोनराउड लोरेन्ज, जिनको 1973 में चिकित्साशास्त्र एवं फिज़िओलॉजी में 'नोबेल पुरस्कार' से सम्मानित किया गया था, भी डॉ० सेन्टगिर्योगी की अवधारणा से सहमत हैं। उनका भी विचार है कि प्रकृति में, व्याप्त जीवों में जो हिंसा की भावना जुड़ी हैं, जो कि मूलभूत रूप में आक्रामक प्रवृत्ति का दूसरा स्वरूप है, का अध्ययन, मानव की इसी भावना को समझने में सहायक हो सकती है।

मानवों के विषय में इस सत्य का उद्घोष डॉ० हरोल्ड मोरविट्ज (Dr. Harold Morewitz) जो कि विश्वविद्यालय, अमेरिका में, मालीक्यूलर एवं बायलोजी एवं बायोकेमेस्ट्री के प्रोफेसर हैं, के शब्दों में सुनिए—

"सांस्कृतिक रूप से भिन्न तथा पारस्परिक वैवाहिक बंधन न रखने वाले मानव समुदायों पर, जो एक ही स्थान पर जीवन यापन करते हैं, तथा उनमें भूमि, भोजन, कार्य और जीवन के संसाधनों के विषय में स्पर्धा है, उन पर भी डॉ० गाउस का सिद्धान्त सत्य उतरता है। प्राणिधारियों की ही भाँति उनकी दो प्रजातियाँ एक ही स्थान पर अधिक अवधि तक नहीं रह सकती हैं। उनमें जातीय संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है, जो स्वाभाविक है। इस प्रकार यह आवश्यक है कि मानव की इस हिंसात्मक प्रवृत्ति को स्पष्ट रूप से समझने के लिए डॉ० गाउस के सिद्धान्तों की, वनस्पतियों और जीवों के अनुभवों पर आधारित, अनुसंधानों की विवेचना की जाये।"

डॉ० गाउस के प्रथम सिद्धान्त के अनुसार प्रजाति हिंसा में एक ही स्थान पर वास करने वाली दो प्रजातियों में, एक शक्तिशाली प्रजाति दूसरी प्रजाति को भोजन आदि से विमुख कर, उसकी हिंसा, हत्या कर नष्ट कर देती है, इसका उदाहरण जीववैज्ञानिकों ने गुबड़ौलों की दो प्रजातियों के दृष्टान्त से दिया है।

फ्लोर बीटिल की दो प्रजातियाँ **ट्राइबोलियम कानफ्यूसम** एवं **ट्राइबोलियम कास्टानियम** को प्रयोगशाला में कम भोजन की मात्रा पर पाला। उन्होंने देखा कि एक प्रजाति को 90% भोजन पर अधिकार कर लेती है वह दूसरी प्रजाति को कम अथवा कुछ भोजन न देकर मृत्यु के द्वार पर पहुँचा देती है।

इसी प्रकार जब इन दो प्रजातियों में से किसी एक को कम भोजन देकर पाला जाता है तो यह अपनी जनसंख्या का नियंत्रण अपने बच्चों को खाकर अथवा अपनी प्रजनन क्षमता को घटा कर करती हैं। परन्तु जब भी ये दोनों प्रजातियाँ साथ-साथ जीवन यापन करती हैं तो वे जाति विशेष नियंत्रण समाप्त कर, भोजन प्राप्त हेतु संवर्धरत हो जाती हैं।

इसी प्रकार के परिणाम वाटर फ्लाई **डैफिनिया यूलोकेरिया** तथा **डैफिनिया मागना** को प्रयोगशाला में एक स्थान पर वर्धन करने से प्राप्त होते हैं। इनमें से बहुसंख्यक प्रजाति दूसरी प्रजाति को नष्ट कर देती है। इसी प्रकार के उदाहरण वनस्पति में भी विद्यमान हैं।

यूरोप के मूल वासी **रोडोडेन्ड्रान** को जब इंग्लैण्ड में लाकर रोपित किया गया तो वह वहाँ की पहाड़ियों पर फैल गया। इसकी वृद्धि ने इंग्लैण्ड की मूल वनस्पति होप जो पहाड़ों पर फैली थी, को दबा दिया। होप के पौधे सूर्य का समुचित प्रकाश न पाकर नष्ट हो गये और **रोडोडेन्ड्रान** पहाड़ों पर व्याप्त हो गयी।

एक दूसरी विधि में यह देखा गया कि जब अर्जेन्टीना एवं दक्षिण अमेरिका की चीटियाँ, जो **इरीडोमाइर-मेक्स ह्यूमीलिस** तथा **सोलोनोप्सिस सेवासियारिश्तरी** के नामों से जानी जाती हैं—को जब उत्तरी अमेरिका में लाया गया तो उन्होंने अमेरिका की वासिनी चीटियों का सफाया कर डाला।

इसी भाँति एक दूसरे अनुभव में पूर्वी-यूरोप की झींगा-प्रजाति-क्रे-फिश, **पोटोमोवियस लेप्टोडिक्टैलिस** को जब मध्य यूरोप के तालाबों में डाला गया तो इसने उन झीलों में व्याप्त चौड़ी टाँगों वाली क्रे-फिश की **पोटोमोवियस एस्टाकस** का संपूर्ण विनाश कर डाला। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण प्राणि जगत् में व्याप्त हैं।

इस प्रवृत्ति को जब मानवों के संदर्भ में देखा जाता है तो उस समय द्वितीय विश्व युद्ध के बीच जर्मन नाजियों द्वारा यहूदियों पर हुये अत्याचार बरबस सजीव हो उठते हैं। डारबाऊ से लेकर बुखेनवाल्ड तक के यातना केन्द्रों (Concentration camps) की कथा सभी जागरूक जनों को ज्ञात है। नाजियों की दृष्टि में जर्मनी की समस्त समस्याओं के जड़ में यहूदी ही थे। अतः **हिटलर** ने उनके सर्वनाश का संकल्प लिया था। इसी द्वितीय विश्व युद्ध के काल में राष्ट्र प्रेम में ओत प्रोत, शक्तिशाली जापानियों के विनाश हेतु अमेरिकनों ते जो जघन्य अपराध, परमाणु बमों को हिरोशिमा और नागासाकी पर 8 अगस्त 1947 को डाल कर किया, उसके सम्मुख वर्बर मंगोलों के सर भी लज्जा से झुक जाते। 'परमाणु बम' का प्रयोग एशिया के वासी जापानियों पर परीक्षण हेतु अधिक तथा युद्ध को रोकने हेतु, कम किया गया था।

ईरान में अरबों के अत्याचार, इस्लाम के प्रसार के नाम पर, तथा इसी धर्म के अनुयायियों द्वारा अफगान बौद्धों और हिन्दुओं पर अफगानिस्तान में हुये अत्याचार, मानव की इसी प्रवृत्ति को स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं।

स्पेन में इस्लाम के प्रभाव को नष्ट करने में इसाइयों द्वारा संघर्ष, अमेरिका में रेड-इन्डियनों पर, जो वहाँ के मूलवासी थे, पर साम्राज्यवादी योरोपियों द्वारा हत्यायें और दुष्कर्मों की याद तथा पाकिस्तान के धर्म के नाम पर बनने के फलस्वरूप वहाँ से भागे हिन्दुओं पर जो अत्याचार हुये, वे सभी इसी तथ्य का समर्थन करते हैं। ये तथ्य यह भी दर्शाते हैं कि शान्तिप्रिय, सभ्य जातियाँ पुरा काल से ही बर्बरों द्वारा आक्रान्त होती रही हैं। उनका उत्पीड़न होता रहा है।

डॉ० गाउस द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार (द्वितीय सिद्धान्त) संघर्ष क्षेत्र से पराजित जाति सुदूर स्थल पर निवास करना प्रारम्भ कर देती है का सुन्दर उदाहरण मुनिया प्रजाति की मुनिया माजा, जो कि सिंगापुर के घने जंगलों की निवासिनी थी, मुनिया पंकटूलाटा की आक्रामक वृद्धि के फलस्वरूप, पलायन कर मलेशिया के वनों की निवासिनी हो गयी। इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण भारतीय बया प्रजाति के संदर्भ में उपलब्ध है। भारतीय बया प्रजाति ने, जिसका वैज्ञानिक नाम ओरथोटोमस सूटोरियस है, ने जब दक्षिण भारत की तरफ बढ़ना आरम्भ किया तो उस क्षेत्र में अपनी पर्याप्त संख्या के बढ़ जाने के कारण उसने पुनः सिंगापुर के जंगलों में अपना अधिकार जमा कर वहाँ की निवासिनी-बया प्रजाति-ओरथोटोमस सेरीसियस को मलेशिया के घने जंगलों में शरण लेने को बाध्य कर दिया।

यदि एशिया के पक्षियों को छोड़कर योरप के पक्षियों का संघर्ष लिया जाय, तो यही तथ्य पुनः सामने आता है। कनेरी द्वीप में वास करने वाली गौरैया प्रजाति पेट्रोनिया पेट्रोनिया जो अधिकतर पहाड़ों पर रहती हैं, को वहाँ पर मानव द्वारा दूसरी प्रजाति पासेर हस्पैनियोलेन्सिस के वहाँ लाये जाने के कारण, भाग कर दूरस्थ ग्रामों के वृक्षों पर शरण लेनी पड़ी। इस प्रकार पासेर हस्पैनियोलेन्सिस ने पहाड़ियों पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

जब हम इस प्रवृत्ति को मानव के संदर्भ में देखने का प्रयास करते हैं तो छठी (6वीं) शताब्दी के समीप, ईरान में इस्लाम की तलवार से बचने हेतु प्राचीन ईरानी (जिन्हें पारसी कहा जाता है) पारसियों का ईरान से पलायन कर भारत में शरण लेना। चीन के आधिपत्य से बचने हेतु तिब्बतियों का भारत में शरण लेना तथा काश्मीरी हिन्दुओं तथा कुछ मुसलमानों का आतंकवादियों से जीवन रक्षा हेतु काश्मीर की उपत्यका का परित्याग कर अन्यत्र बस जाना, तथा दानवीय कृत्य करने वाले उगान्डा के विधाता ईदी आमीन के भय से एशियायी मूल के लोगों का वहां से पलायन, कुछ जीवन्त दृष्टान्त हैं। पुरा काल की बात करें तो मिस्र के फैराओं (सम्राट) के भय से त्रस्त यहूदियों का पलायन कर पैलिस्टाइने की ओर प्रस्थान, इसी तथ्य के दर्शन कराता है।

तीसरे सिद्धान्त के अनुसार कम शक्तिशाली प्रजाति शक्तिवान प्रजाति के साथ, अपनी आवश्यकताओं में परिवर्तन कर, सह अस्तित्व में रह लेती है, का प्रतिपादन गैलपागस द्वीप समूह की निवासिनी फिंच प्रजाति के पक्षियों में देखने को मिलता है।

इस द्वीप में बारह प्रकार की फिंच प्रजातियाँ रहती हैं परन्तु इनका कुल एक है। यह सभी एक पूर्वज की संतानें हैं। परिस्थिति के साथ इन्होंने बहुत ढँग से समांजस्य स्थापित किया है। कुछ फिंच पक्षी शाकाहारी हैं तो कुछ कीड़ों का भक्षण कर जीवित रहती हैं। कुछ तो नागफनी और अन्य कैक्टाई के फूलों को खाकर जीवन व्यतीत करती हैं, तो कुछ फलों के बीजों से काम चला लेती हैं।

यह तो तो रही भोजन की बात। यह प्रजातियाँ अपना घोसला भी अलग-अलग स्थानों पर बनाती हैं। कुछ तो पेड़ के तने की जमीन के पास तो कुछ वृक्षों की शाखाओं पर नीड़ का निर्माण कर लेती हैं।

कुछ भोजन की खोज में प्रातः निकलती हैं तो कुछ दोपहर में भोजन हेतु निकलती हैं। कुछ ने तो रात्रि में भोजन करना इस कारण से प्रारम्भ कर दिया क्योंकि इसी विधि से भोजन हेतु संघर्ष टाला जा सकता है। तात्पर्य यह है कि इन पक्षियों ने अपनी परिस्थितियों के साथ तारतम्य बैठा लिया। यदि हम इन पक्षियों के उदाहरण को मानवों के संदर्भ में तलाशने का प्रयास करें तो इसका सर्वोत्तम उदाहरण भारतीय वर्ण व्यवस्था थी। यह एक प्रकार से निश्चित भौगोलिक परिस्थितियों में, विभिन्न वर्णों की, जिनमें वैवाहिक संबन्ध वर्जित थे, के सह-अस्तित्व में जीने, जीवन यापन करने हेतु कृषि पर आधारित व्यवस्था थी। इसके पालन से उस काल में भोजन को उत्पन करने और सबन्धित जीवन के हेतु आवश्यक संसाधन उत्पन करने में अभूतपूर्व सहायता मिली थी।

जब तक भारतीय व्यवस्था पूर्णरूपेण कृषि पर आधारित थी उस काल तक यह व्यवस्था चलती रही। परन्तु जब भारत में औद्योगिकीकरण का प्रारम्भ हुआ तो यह व्यवस्था चरमरा उठी। परिणामतः आज इस व्यवस्था का अस्तित्व खतरे में है और यह आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अर्थ संगत नहीं रह गयी है। तीव्र गति से औद्योगिकीकरण की वृद्धि इस व्यवस्था को धराशायी कर देगी। ठीक इसी प्रकार का वातावरण औद्योगिकीकरण के पूर्व अमेरिकी अश्वेतों नीग्रो जनों के प्रति अमेरिका में था, जो आज अनेक उतार-चढ़ाव देखने के बाद करीब-करीब समाप्त-सा हो गया है।

मानव का परिस्थितियों से तारतम्य बैठाने में और फिंच प्रजाति की पक्षियों में अद्‌भुद साम्य है। जैसे एक ही वृक्ष पर वास करने वाली फिंच प्रजातियों में कुछ नीड़ वृक्ष की ऊपरी शाखाओं पर बनाती हैं तो अन्य उसके तने के और भूमि से थोडा ऊपर अपने घोंसले का निर्माण करती हैं, इसी का उदाहरण मनुष्यों में महानगरों में रह रहे सम्पन्न और झोपड़-पटटी के वासी लोगों में मिलता है। अथवा आज भी विदेशों में बसे सम्पन्न भारतीयों और उनके कम धनवान बंधुओं में जो कि संपन्न क्षेत्रवासी लोगों के निवास स्थान से दूर अपेक्षाकृत कम सुविधा वाले क्षेत्रों में जीवन काटते हैं, के उदाहरण में देखने को मिलता है। यह प्रत्येक देश में व्याप्त समस्या है।

आज कल विश्व में अधिकतर देशों में अल्पसंख्यकों द्वारा प्रतिपादित आतंकवाद बढ़ रहा है। इसके पीछे भी प्राणियों में स्वभावतः वर्तमान् मूल प्रवृत्ति है, जिसका दर्शन पुनः उन्हीं के उदाहरण से प्राप्त होता है। यह प्रयोग में देखा गया है कि जब एक प्रजाति, जो अपेक्षाकृत कम प्रभावशाली अथवा शक्तिमान रह जाती है और उसकी जन-संख्या घटने लगती है, उस समय वह अपने स्वाभाव में परिवर्तन कर आक्रमक हो जाती हैं और अपनी जनसंख्या की तीव्रता से वृद्धि आरम्भ कर देती है। यह जनसंख्या वृद्धि एक सीमा तक ही चलती है और जब यह सीमा प्राप्त हो जाती है, तो उसके स्वाभाव में पुनः परिवर्तन हो जाता है। मनुष्यों में भी तो यही तथ्य कार्यरत हैं। अल्प-संख्यकों में बढ़ते हुये आतंकवाद की प्रवृत्ति, चाहे वह पंजाब में रही हो, काश्मीर में अथवा तमिलों का श्रीलंका में रहा हो, इनकी परिणति वही होती हैं। कुछ कालोपरान्त इनका शमन हो जाता है। इन आतंकवादियों को किसी प्रकार की आर्थिक सहायता उन्हें इस मार्ग से हटाने में असमर्थ रहती है। क्योंकि जब तक उनके स्वभाव में असंतोष व्याप्त है, उनके लिये किसी वस्तु का महत्व नहीं रहता है। यदि यह सत्य नहीं है तो आज क्यों काश्मीर में, श्रीलंका के तमिलों में, अमेरिका में अश्वेतों में, इजरायल में, पैलेसतीनी अरबों में, यूरोप में कैथोलिकों और प्रोटेस्टेन्टों में

तथा भारत में मुख्य रूप में हिन्दुओं और मुसलमानों में, इस समस्या का कोई राजनैतिक हल न निकल पाया। इसी प्रकार इस्लाम के अनुयायी शिया और सुन्नियों की समस्या भी सुलझती नहीं दिखती, क्योंकि इसका निदान राजनीति में नहीं है। इसके स्पष्टीकरण हेतु पुनः एक बार विज्ञान का सहारा लेना पड़ेगा।

विज्ञान की वह शाखा जो मानव की मूलभूत प्रवृत्ति के अध्ययन से जुड़ी है, उसे मालीक्यूलर बायोलोजी कहते हैं। इससे परिचित सभी लोगों को ज्ञात है कि जातियों की प्रजातियों में अनेक कारणवश, जो कि वातावरण जनित भोजन, स्थान और अन्य परिस्थितियों के कारण, उनमें निहित गुणसूत्रों पर स्थित जीनों में परिवर्तन हो जाते हैं। यह परिवर्तन कुछ काल के बाद आनुवंशिक हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में एक जाति के डि-ऑक्सीराइवो-न्यूक्लीइक एसिड, जिसे संक्षेप में डीएनए कहते हैं, के मॉलीक्यूलों में एक विशेष क्रम से लगे न्यूक्लीओटाइडों में जब कोई एक न्यूक्लीओटाइड, परिवर्तन के कारण, प्रभावित हो जाता है तो एक प्रजाति का उदभव होता है। कुछ समय बाद यही अपने गुणों को अपनी संतति में परिवर्धित करता है। इस संतति में कुछ गुण मुख्य रहते हैं और कुछ गुण गौण। जब इस प्रजाति को दूसरी प्रजाति से, जिसमें उसी प्रकार के गुण होते हैं, मिलाया जाता है तो सामान्य रूप में मुख्य गुण पूर्ण रूप से विकसित हो जाते हैं और उस प्रजाति के यही जातीय गुण हो जाते हैं। यह जाति उन्हीं गुणों के कारण पहचानी जाती है। यदि इसके संसर्ग में दूसरी कम शक्तिवान जाति रहती है तो दोनों का जीवन यापन हो सकता है। यह सर्व विधि सत्यापित निष्कर्ष है।

मानव समाज में इस प्रकार के मिश्रणों ने अच्छा प्रभाव उत्पन्न कर जातियों का विलय कर उनमें एक-रसता उत्पन्न की है। इसका उदाहरण हवाई द्वीप समूह में देखने को मिलता है।

हवाई द्वीप में 18वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में गौरवर्ण अमेरिकन तथा पीतवर्णी जापानी इस द्वीप के वासी पालोनीसियनों (Polynesians) से संघर्षरत रहे। पर जब उनमें वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो गये तो दो तीन पीढ़ियों बाद उनमें जातिगत संघर्ष कम ही नहीं हो गये, वरन् ये तीनों जातियाँ मिश्रित होकर एक हो गयीं। उनमें स्पर्धा और संघर्ष का स्थान, स्नेह-संबन्धों ने ले लिया। इसी प्रकार ब्राजील में भी पोर्तगीजी और वहाँ के आदिवासियों में संघर्ष ने समयोपरान्त वैवाहिक संबन्धों को जन्म दिया। जापानियों ने भी इसमें सहयोग दिया। परिणामस्वरूप मिश्रित जातियों ने एक ऐसे समुदाय को जन्म दिया जो पूर्णरूपेण एकीकृत और एक स्वरूपमय हो गया। यही आधुनिक ब्राजील है।

भारत में भी तीव्र गति से बढ़ता औद्योगिकीकरण प्रदेश और क्षेत्रीय बंधनों को तोडकर मानवों को एक स्थान पर जाकर जीवन यापन हेतु बाध्य करेगा। परिणाम होगा जाति प्रथा का अन्त, मिश्रित विवाह, समाज के विघटन के स्थान पर संगठन और संघर्ष और हिंसा के स्थान पर प्रेम। तभी भारतीय समुदाय एक हो पायेगा। तभी भारत महान हो पायेगा। तभी 'कृण्वुवतम् विश्वमार्यम्' की अवधारणा की सभी सभ्य, सज्जन और आर्यगुणों (अच्छे) से युक्त हो, स्वरूप ले पायेगी। परन्तु यह सत्यापित होने में कुछ समय लेगा, तब तक मिश्रण जो कि जातीय होगा, की क्रिया चलेगी और पुनः इस प्रकार जाति रहित एवं, उपनामों, कुलनामों, आस्पदों रहित नव समाज का उदय होगा।

■■

हिमालय की घाटियों का कल्पवृक्ष—च्यूर

तारादत्त काण्डपाल

तीन ओर से महासागरों और उत्तरी भाग में हिमालय पर्वतमलाओं से घिरा भारत भौगोलिक दृष्टि से अप्रतिम है। अप्रतिम केवल भौगोलिक संरचना अथवा जलवायु विविधताओं के कारण ही नहीं, वरन् इस विशाल भू-भाग से उपलब्ध नानाविध प्राकृतिक संसाधनों के कारण भी। देश के मैदानी भू-भाग को जीवन्तता प्रदान करने वाली अधिकांश नदियों का उद्‌गम स्थल होने के साथ-साथ हिमालय क्षेत्र विपुल प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर है जिनसे अनेक औषधियाँ और जीवनोपयोगी पदार्थ प्राप्त किये जा सकते हैं। जलवायु की विविधताओं वाला यह देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा क्यों रह गया हैं ? 'शस्य श्यामला' भूमि की संतानों का यह देश कृषि प्रधान होने के बावजूद कृषि उत्पादों में विश्व के अनेक देशों की तुलना में क्यों पीछे रह गया है ? प्राकृतिक संसाधनों का समुचित रूप से दोहन कर पाने में हम, क्यों सक्षम नहीं हो पा रहे हैं ?

यूरोप में स्विट्‌जरलैण्ड, स्पेन, आस्ट्रिया आदि अनेक देश हैं जो पूरे के पूरे अथवा जिनका बड़ा हिस्सा पर्वतीय क्षेत्र है। फिर भी ये देश आर्थिक दृष्टि से इतने सम्पन्न हैं कि ये दूसरे देशों की आर्थिक सहायता कर सकने में सक्षम हैं। इसके विपरीत हमारे देश के पर्वतीय क्षेत्रों को आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा माना जाता रहा है। भारत के उत्तरी भाग में जम्मू और कश्मीर से लेकर अरुणाचल तक फैले हुए लगभग सभी राज्यों को आर्थिक रूप से पिछड़ा मानकर, इन्हें किसी न किसी प्रकार की विशेष श्रेणी में रखा गया है और इन क्षेत्रों को केन्द्रीय आर्थिक सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश के पूरे पर्वतीय क्षेत्र को एक अलग राज्य न बनाये जा सकने के पीछे एक ठोस तर्क यह भी दिया जाता रहा है कि पहाड़ी क्षेत्रों में आर्थिक कार्यकलापों की संभावनाएं क्षीण हैं। अतएव ऐसे राज्य या ऐसे क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर नहीं हो सकते, ऊपरी तौर पर तो यह तर्क सही प्रतीत होता है, परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं हैं। प्रस्तुत लेख में हिमालय क्षेत्र के पर्वतीय भागों में पाये जाने वाले एक ऐसे वृक्ष के सम्बन्ध में प्रारम्भिक जानकारी देने का प्रयास किया गया है जिसका फल चीनी और घी से भरपूर है।

गढ़वाल और कुमायूं के घाटी वाले क्षेत्रों में जहाँ अत्यधिक ठण्ड नहीं पड़ती, उन स्थानों में एक पेड़ होता है, स्थानीय भाषा में इसे च्यूर कहा जाता है और वनस्पति विज्ञान के अनुसार इसे 'बैसिया ब्यूटेरेसिया' नाम से जाना जाता है, यह पेड़ पूरे हिमालय के बाहरी क्षेत्रों में दो हजार से पांच हजार की ऊँचाई वाले पहाड़ों में उगता है, आकार में यह पेड़ बहुत बड़ा और घनी-चौडी पत्तियों वाला छायादार वृक्ष है और वर्ष में एक बार, वसन्त ऋतु में फूलता है। पूरे पेड में बड़े-बडे गुच्छों के साथ फल लगते हैं, फल जुलाई से अगस्त तक पक जाते हैं। इन क्षेत्रों में अभी तक च्यूर के जो पेड हैं, वे उगाए गए या रोपे गए पेड नहीं हैं वरन् स्वत: ही उगे पेड हैं, ऐसे च्यूर के पेड जोत की भूमि तथा वनों में भी पाये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि च्यूर की बागवानी में कृषि विज्ञान की आधुनिक तक-नीकों को अपनाया जाए तो ये पेड़ और भी पुष्ट होंगे तथा इनकी गुणता और पैदावार में चहुंमुखी विकास की प्रबल संभावनाएं हैं।

च्यूर के फल पक जाने पर इसमें से एक गाढ़े दूध की तरह का पदार्थ निकलता है, इस पदार्थ में शक्कर के तत्वों की प्रचुरता होती है। इस कारण यह फल अत्यधिक मीठा होता है, स्थानीय लोग, अभी तक इसको चूसकर खाने का ही एक सीमित उपयोग जानते हैं तथा कभी-कभार च्यूर के गूदे को निचोड़ कर गुण भी बनाया जाता है, जो स्वाद में बहुत अच्छा होता है। इस फल के भीतर लगभग एक पौन इंच की एक कड़ी परतदार गुठली होती है। स्थानीय लोग इसके कड़े छिलके को अलग करके इसके भीतर के पदार्थ को उखल में कूटकर इसे गरम पानी के साथ आटे की तरह सानते हैं और इसे निचोड़ कर इससे तेल निकालते हैं जो ठण्डा हो जाने पर जमकर एकदम घी के समान हो जाता है, स्थानीय भाषा में इसे च्यूर का घी कहा जाता है। कुमायूं के पिथौरागढ़ जिले के अनेक गांवों तथा नेपाल की इसी पट्टी पर स्थित बस्तियों में च्यूर का घी काफी प्रचलित है। यहाँ के लोग प्रायः पकवान आदि इसी घी में पकाते हैं। कहते हैं अगर असली देशी घी में च्यूर का घी मिलाया गया हो तो खरीददार के लिए इसकी परख करना कठिन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि च्यूर का घी देखने-खाने में, देशी घी के समान ही लगता है।

परम्परागत विधि से च्यूर से प्रायः चालीस से पचास प्रतिशत तैलीय पदार्थ ही निचोड़ा जा सकता है और शेष खली के साथ बरबाद चला जाता है, जबकि एक किलोग्राम च्यूर की गुठली में लगभग पाँच सौ ग्राम तैलीय पदार्थ होता है। च्यूर के फल के भीतरी गूदे और गुठली में 3:2 का अनुपात होता है। एक मोटे अनुमान के आधार पर इनमें निहित चीनी और घी समान अनुमान में होती है। 'च्यूर के एक भरे-पूरे पेड़ में वर्ष भर में लगभग 5-6 क्विंटल फल लगते हैं। यदि इन फलों के गूदे और गुठली (भीतरी पदार्थ) से आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से चीनी और तेल बनाने की विधि विकसित की जाये तो कृषि के विकास के क्षेत्र में यह एक अभिनव प्रयोग सिद्ध होगा। इस प्रकार एक च्यूर के पेड़ से एक वर्ष में लगभग डेढ़-दो क्विंटल चीनी और इतना ही वनस्पति तेल पैदा किया जा सकता है। इस दिशा में कृषि और ग्रामीण विकास से सम्बन्धित संस्थाओं और देश के कृषि विश्वविद्यालयों के सहयोग से गहन अध्ययन तथा आगे और शीघ्र किये जाने की आवश्यकता है। इसके अलावा च्यूर के चौड़े पत्तों से पत्तल, दोनो आदि भी आसानी से बनाये जा सकते हैं, जिससे इनसे जुड़े परिवारों के लिए आय का एक अतिरिक्त साधन सुलभ हो जाएगा।

च्यूर के पेड़ों की व्यावसायिक आधार पर बागवानी के लिए पहाड़ों में उपयुक्त जलवायु के क्षेत्रों की पहचान करना आसान है। स्थानीय अनुभवों के आधार पर, इस प्रयोजन से एक व्यापक सर्वेक्षण किये जाने की आवश्यकता है। पहाड़ों की बंजर भूमि, ग्राम पंचायतों के वन तथा अच्छी उपज न दे सकने वाली जोत की जमीन का उपयोग च्यूर की बागवानी के लिए किया जा सकता है। गाँवों के समीप खाली पड़ी भूमि पर च्यूर के पेड़ रोपने और इनकी देखभाल का जिम्मा उन्हीं गाँवों के खेतिहर मजदूरों तथा अन्य बेरोजगार लोगों को सौंप दिया जाये और उन्हें एक प्रकार से उन पेड़ों का मालिक बना दिया जाये तो वे पेड़ों की पूरी तरह से देखभाल और रक्षा करेंगे। इन पेड़ों से उत्पादित कच्चे माल की सरकार द्वारा समय-2 पर निर्धारित मूल्य पर परिष्कृत माल (चीनी और घी) का उत्पादन करने वाली इकाइयों को बेचे जाने पर होने वाली आय का लाभ भी उन्हीं को मिल सकेगा। बागवानी के लिए केन्द्रीय पौधशालाओं की स्थापना करके निकटवर्ती क्षेत्रों में पौधरोपण की व्यवस्था करने से अच्छी उपज वाले पौधों को उपलब्धता सुनिश्चित होगी। इस प्रकार समूचे हिमालय क्षेत्र में च्यूर की बागवानी करके उनसे चीनी और वनस्पति घी का उत्पादन किया जा सकता है जिससे कृषि के क्षेत्र में नयी क्रान्ति लायी जा सकती है। इससे न केवल देश के पहाड़ी क्षेत्रों का ही विकास होगा वरन् देश में खाद्य तेलों और चीनी की कमी को पूरा करने में भी इससे

सहायता मिलेगी, सरकार द्वारा प्रवर्तित हरित क्रान्ति अथवा सघन दहलन उत्पादन कार्यक्रम की भाँति च्यूर से घी-चीनी उत्पादन की वृहत योजना बनाये जाने की आवश्यकता है जिससे हमारा देश, कृषि उत्पादनों के मामले में पूरी तरह आत्मनिर्भर हो सके। इससे जहाँ एक ओर देश के पहाड़ी क्षेत्रों में आर्थिक सम्पन्नता लायी जा सकेगी वहीं दूसरी ओर समूचे हिमालय क्षेत्र में हो रहे पर्यावरणीय क्षरण को भी रोका जा सकता है।

(राष्ट्रीय सहारा, लखनऊ, 30-6-95 से साभार)

अमलतास

दीपक कोहली

जिस तरह **गुलमोहर और टेसू** अपने लाल फूलों से बसन्त-काल में चारों ओर सुन्दरता बिखेर देते हैं, उसी तरह **अमलतास** अपने पीले फूलों से बसन्त के नयनाभिराम दृश्यों के चुम्बकीय आकर्षण को द्विगुणित कर देता है। किसी कवि ने अमलतास के सम्बन्ध में क्या खूब कहा है—

"अमलतास के पीले फूल, मन जाता है जिनमें भूल।
ऐसे लगते हैं, मानों ये, धरती के हों पीत दुकूल॥"

अमलतास को विभिन्न भाषाओं में अनेक नामों से जाना जाता है। आंग्ल-भाषा में 'इण्डियन लेबरनम', मराठी में 'बहावा', तमिल में 'कोनी' तथा तेलुगू भाषा में 'रेलू' कहा जाता है। इसका वैज्ञानिक नाम **कैसिया फिस्टुला** (Cassia fistula) है, जो कि 'सीजेलपीनियेसी' (Caesalpiniaceae) कुल के अन्तर्गत आता है।

अमलतास के वृक्ष इस देश के लगभग सभी भागों में पाये जाते हैं। यह हिमालय के बाहरी क्षेत्र में 1000 मीटर की ऊँचाई पर भी पाया जाता है। यह एक मध्यम ऊँचाई (6-15 मीटर) का वृक्ष है। इसकी पत्तियाँ गहरे हरे रंग की तथा 'संयुक्त' होती हैं। एक संयुक्त पत्ती में 4-8 जोड़ी पर्णिकाएँ होती हैं। पर्णिकाओं की लम्बाई 5-12 सेमी॰ होती है। अमलतास के फूलने का समय शीत की समाप्ति और ग्रीष्म ऋतु के आगमन के साथ होता है। फूलों का आगमन मन में आशा और उल्लास का संचार करता है और एक नये जीवन को जाग्रत करता है। अमलतास का फूलना और उसका पर्ण विहीन हो जाना, जीवन-मरण के शाश्वत नियम को प्रतिबिम्बित करता है। फूलों का आगमन मार्च से आरम्भ होकर जून के अन्त तक जारी रहता है। कभी-कभी तो फूल सितम्बर माह तक आते रहते हैं। लगभग चार महीने तक पेड़ चमकदार पीले फूलों के लटकते हुए 'गजरों' से सजा रहता है। मार्च और अप्रैल के महीने में

वरिष्ठ अनुसंधान अध्येता, बीरबल साहनी पुरावनस्पति वैज्ञानिक संस्थान, 53 विश्वविद्यालय मार्ग, लखनऊ-226107 (उत्तर प्रदेश)

पतझड़ आरम्भ हो जाता है। नयी पत्तियों का आगमन भी साथ-साथ होने लगता है। इसका फल एक गोल लम्बी लटकती फली के रूप में होता है। ये फलियाँ जून-जुलाई में बनने लगती है, जो कि पकने पर लगभग काले रंग की हो जाती हैं। इन फलियों की लम्बाई 50-60 सेमी० एवं मोटाई 2-2.5 सेमी० होती है।

इसकी विशेषता अनुपम सुन्दरता है, जिस कारण यह उद्यानों में एवं सड़कों के किनारे रोपित किया जाता है। पीले पुष्पों से लदा हुआ अमलतास का वृक्ष सुन्दरता में किसी भी सुन्दर वृक्ष से मुकाबला कर सकता है। इसके फूल काफी दिनों तक वृक्ष पर छाए रहते हैं, और इस तरह वन-उपवन की खूबसूरती को बहुत दिनों तक कायम रखते हैं। अमलतास के फूलों में सुगन्ध भी होती है। संथाल जनजाति, इसके फूल और पत्ते दोनों को ही भोज्य-पदार्थ के रूप में प्रयुक्त करते हैं। इसके फल के गूदे से कहीं-कहीं तम्बाकू में सुगन्ध पैदा की जाती है। अमलतास की उपयोगिता आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में दवा के रूप में भी है। यह ज्वर, अपच, कब्ज जैसी व्याधियों में लाभदायक औषधि है। इसके अतिरिक्त, मस्तिष्क-निष्क्रियता तथा चेहरे पर लकवे के प्रभाव जैसे रोगों में भी इसका उपचार लाभदायक होता है। इसके वृक्ष की छाल कपड़ा रंगने के काम में आती है। अमलतास की लकड़ी ईंधन तथा कोयला बनाने के लिये अच्छी मानी जाती है। इसका अन्तःकाष्ठ मजबूत होने के कारण इसकी उपयोगिता खेती-बाड़ी के उपकरण तथा बैलगाड़ी, हल आदि बनाने में भी है।

■ ■

वन्य प्राणी एवं चिकित्सा विज्ञान

डॉ० सतीश कुमार शर्मा

आदि काल से मनुष्य ने अपने आप को रोग मुक्त रखने के लिये अपने आस-पास के पेड़-पौधों, वन्य एवं पालतू प्राणियों एवं उनसे प्राप्त उत्पाद यथा जल, मिट्टी, खनिज आदि को औषधियों के रूप में उपयोग करना प्रारम्भ किया। एथेनोमेडिकोलॉजी नामक विज्ञान के अध्ययन से मनुष्य की परम्परागत चिकित्सा प्रद्धति एवं लोक-दवाओं की अच्छी जान-कारी मिल जाती है। मनुष्य द्वारा उपयोग में ली जाने वाली आदिकालीन दवायें कच्चे प्राकृतिक पदार्थ ही होते थे। धीरे-धीरे चिकित्सा विज्ञान ने इतनी उन्नति कर ली है कि प्राकृतिक कच्चे पदार्थो से सक्रिय तत्व विशुद्ध रूप में अलग कर दवाओं की तरह प्रयुक्त होने लगे हैं।

संसार की अनेक चिकित्सा पद्धतियां यथा आयुर्वेद, यूनानी, होम्योपैथी, ऐलोपैथी आदि में वनस्पतियों से प्राप्त अनेक दवायें प्रयोग में ली जाती हैं लेकिन वन्य प्राणियों का भी चिकित्सा विज्ञान में कोई कम महत्व नहीं हैं। अनेक लोक-दवाओं में विभिन्न वन्य प्राणियों के बाल, सींग, मांस दूध, मूत्र, मल, हड्डी, आदि उपयोग में लाये जाते हैं। संसार की आधुनिक चिकित्सा पद्धतियों में भी वन्य प्राणियों का नाना तरह से उपयोग हो रहा है। आयुर्वेद में सर्पों से प्राप्त विष अनेक चिकित्सीय कार्यों में उपयोग में लाया जाता है। कोबरा (Naja naja) के बिष से शुचिकभरण

क्षेत्रीय वन अधिकारी, अरावली वृक्षारोपण परियोजना, झाडोल (फ०) 313 702, जिला-उदयपुर (राजस्थान)

रस तैयार किया जाता है जो हैजा व तपेदिक के इलाज में काम आता है। कई देशों में कुछ जातियों के सांपों के सूखे मांस का पाउडर कोढ़ (Leprosy) के इलाज में काम आता है। युनानी चिकित्सा पद्धति में सर्प-रक्त ल्यूकोडर्मा के इलाज में काम आता है। कोबरा विष से ऐलोपैथी में न्यूरल लेप्रोसी, आरथ्राइटिस, ऐपीलेप्सी, कैन्सर, न्यूराइटिस, आरथ्रेल्जिया, न्यूराल्जिया, माइग्रेन आदि बिमारियों का उपचार किया जाता है। रेटल-सर्प के विष से ऐपीलेप्सी, अस्थमा, न्यूराल्जिया, न्यूराइटिस, लम्बेगो, साइटिका, टिक्स, कॉक्सीगोडिनिया, लैरिन्जाइटिस, प्लूरिसी आदि रोगों के उपचार में काम आता है। क्रेट सर्प का विष भी उक्त रोगों में कभी-कभी उपयोग में लिया जाता है। सर्पदंश के इलाज के लिये एन्टीवीनम साँप के विष से तैयार किया जाता है। भारत में एन्टीवीनम हॉफकिन संस्थान, बम्बई तथा केन्द्रीय अनुसंधान संस्थान, कसोली में बनाये जाते हैं। एन्टीवीनम सहित अनेक टीके विभिन्न पालतू एवं जंगली जीवों से तैयार किये जाते हैं। किसी रोग की एन्टीजन या विष सुरक्षित मात्रा में घोड़े, खरगोश, बंदर, चूहों आदि के शरीर में इन्जेक्शन द्वारा प्रवेश कराया जाता है। प्राणी प्रतिक्रिया में एन्टी-बॉडी पैदा करता है जिन्हें मनुष्यों के विभिन्न रोगों के इलाज में टीकाकरण के काम में लिया जाता है।

व्हेल, कस्तूरी मृग, सिवेट आदि से मिले सुगंधित पदार्थ अनेक दवाओं में काम आते हैं। कस्तूरी मृग से मिले कस्तूरी से हृदय सम्बन्धी बीमारी, सन्निपात, ज्वर, मुर्च्छा, उन्माद, अपस्मार, पक्षाघात, वीर्य विकार आदि का इलाज आयुर्वेद पद्धति में किया जाता है। भारतीय बडी सिवेट (Viverra zibetha) तथा भारती छोटी सिवेट (Viverricula indica)की गंध-ग्रंथियों से संग्रह किया गया पदार्थ अनेक दवाओं एवं वाजीकर (Aphrodisiac) के रूप में काम में लिया जाता है। अमेरिका से आयात किया जाने वाला सिवेट परफ्यूम बीवर नामक प्राणी से प्राप्त किया जाता है। कस्तूरी-मृग एवं सिवेट को सुगन्धित पदार्थ पैदा करने की कीमत अपनीजान दे कर अदा करनी पड़ती है।

आयुर्वेद पद्धति में मृगों के सींग, फर्लआस्टर नामक समुद्री जीव से मिले मोती, सीप, शंख, घोंघे व कौडी के कवच, प्रवाल, कछुओं के पृष्ठवर्म (Carapaoe). इन्द्रगोप (Mite), केंचुआ, रेशम कीट का ककून, मधुमक्खी का शहद, मोरपंख, पक्षियों का मांस आदि रोगोपचार में उपयोगी हैं। समुद्री कवच वाले प्राणियों के कवच केल्शियम से बने होते हैं जिसकी भस्म बनाई जाती है। केचुओं को मूत्रघात, मूत्रकृच्छ, क्षय जैसी बीमारियों के इलाज में काम में लाया जाता है। महर्षि चरक ने राज-यक्ष्मा के रोगी को केचुओं के आहार के रूप में उपयोग करने के निर्देश दिये हैं। रेशम कीट ककून के बाहरी आवरण की भस्म व्रण पर लेप करने, नेत्र-कण्डू, नेत्र-व्रण तथा नेत्र-स्राव में अंजन के रूप में काम में ली जाती है। केचुओं का मांस तथा ककून भस्म का उपयोग युनानी पद्धति में भी होता है। मोर का मांस दमा एवं हिचकी के इलाज में उपयोगी बताया गया है। मानसिक रोगों में मोर, गौरैया तथा कोयल का मांस उपयोगी बताया जाता है। कोयल का मांस, हिस्टीरिया, ऐपीलेप्सी आदि में उपयोग किया जाता है। पेलिकन की वसा रूमेटिज्म में उपयोगी कही गई है। नाइटजार नामक रात्रिचर पक्षी की वसा वर्मा में स्त्रियों के बांझपन का इलाज करने में काम में ली जाती है। कोलोकेलिया नामक पक्षी के घोंसले टॉनिक एवं वाजीकर के रूप में खाये जाते हैं। खरगोश का मांस भी कई रोगों में उपयोगी बताया गया है। शहद का उपयोग सर्वमान्य माना गया है। आठ प्राणियों का मूत्र मूत्राष्ठक के नाम से आयुर्वेद में चिकत्सीय उपयोग में लाया जाता है। नर हाथी, नर घोड़े, नर गधे तथा नर ऊंट एवं गाय, बकरी, भैंस व भेड़ (चार मादा) प्राणियों का मूत्र ही मूत्राष्ठक है। मानव मूत्र भी चिकित्सा उपयोग में

आता है। गाय व बैल के पित्ताशय से निकाला गोरोचन भी चिकित्सीय महत्व का पदार्थ है। जंगली सुअर, मोर, बिल्ली भैंसा, बकरी, राहू मछली से निकाला पित्त भी औषधीय महत्व का है।

भेड़ की प्रास्टेट ग्रन्थि से पोस्टाग्लेन्डिल नामक जैव रसायन प्राप्त किया जाता है जो स्त्रियों में प्रसव पीड़ा प्रेरित करने, गर्भ निरोधक, पुरुष नपुंसकता दूर करने, रक्त थक्का बनने की क्रिया रोकने आदि के लिये उपयोगी माना गया है।

मधुमेह के रोगियों में शर्करा को नियमित करने के लिये इन्सुलिन के इन्जेक्शन दिये जाते हैं। कृत्रिम इन्सुलिन जानवरों के पैंक्रियाज एवं ई० कोलाई नामक जीवाणु से प्राप्त होता है।

कई समुद्री जन्तुओं विशेषकर इकाइनोडर्माटा वर्ग के जानवरों के खोल में कायटिन नामक पदार्थ मिलता है। उसे सुखाकर चूर्ण कर लिया जाता है जिसे 'कायटोसन' नाम दिया जाता है। यह कोलेस्टरॉल व वसा को शरीर में कम करता है तथा रक्त की थक्का पद्धति को सँवारता है। यह एड्स तक के इलाज में काम आता है।

बाघ, तेंदुआ आदि की वसा आरथ्राइटिस में उपयोगी बताई जाती है। इन प्राणियों की वसा वाजीकर के रूप में भी काम में लायी जाती है। मादा बाघ का दूध आखों की बीमारियों के इलाज में भी काम आता है। जिन लोगों के लिये शराब ही 'दवा' है उनको बाघ की हड्डियों से तैयार की गई शराब तक पीने को उपलब्ध हैं। कॉड-मछली का तेल विटामिन सी की कमी से होने वाले स्कर्वी नामक रोग के इलाज में काम आता है। जोंक को दूषित रक्त निकालने के लिये प्राचीन समय से ही काम में लाया जा रहा है। जोंक की लार में मिलने वाला हिरूडिन नामक एन्जाइम एन्टीकोगुलेंट के रूप में जाना जाता है। जैविक नियन्त्रण की प्रक्रिया में कई जीव रोग फैलाने वाले दूसरे जीवों को खाकर मनुष्य के लिये स्वस्थ वातावरण तैयार करते हैं। सांप, बिल्ली, छछुन्दर आदि प्लेग के वाहक चूहों को नष्ट कर देते हैं। चूहे ब्यूबोनिक प्लेग जैसी घातक बीमारी फैलाते हैं जो महामारी के रूप में मानव आबादी को तबाह कर सकती है। हाल ही में सूरत में फैले प्लेग की याद सब को ताजा है। प्लेग घरेलू चूहा (रेटस-रेटस), भूरा चूहा (रेटस नोर्विजिकस), घरेलू मूषक (मस मसकूलस), बेन्डीकूटा तथा गिलहरी से मनुष्य-आबादी में फैलता है। घोड़ों में इन्फ्लुएंजा नामक रोग भी चूहे ही फैलाते हैं। मक्खी, मच्छर व अन्य कीट पतंगे भी अनेक बीमारियां फैलाने के लिये बदनाम हैं। गम्बूसिया नामक मछली मलेरिया मच्छर के लार्वो को खा जाती है। अनेक पक्षी व प्राणी विषैले साँपों को नष्ट करते हैं। किंग कोबरा प्रायः भोजन में दूसरे सांपों को ही खाता है। स्कैवेंजर प्राणी जैसे गिद्ध, जरख आदि सड़े-गले मृत जानवरों को खा कर पर्यावरण को शुद्ध रखते हैं।

नई दवाओं के परीक्षण बन्दर, चूहों, खरगोश आदि जानवरों पर किये जाते हैं। इसके बाद ही इनका उपयोग मनुष्यों पर किया जाता है। प्राणी विज्ञान एवं चिकित्सा विज्ञान के छात्र कॉकरोच, केंचुआ, घोंघा, सीपी, चूहे, बन्दर, गिनी पिग, खरगोश, मेंढक आदि जानवरों पर विच्छेन सम्बन्धी प्रायोगिक कार्य करते हैं।

मानव शरीर के कई चिकित्सा विज्ञान सम्बन्धी अज्ञात पहलू वन्य प्राणियों पर हुए अध्ययन से ही उजागर हुए हैं। मनुष्यों में Rh फैक्टर की खोज रीसस बन्दर (Rhesus macaque—Macaca mulatta) में हुई। Rh फैक्टर की खोज से पूर्व रक्त की A-B-O पद्धति के उपयुक्त चुनाव से किये गये रक्त ट्रांसफ्यूजन कई बार असफल हो

जाते थे। ऐसा Rh एंटीजन के कारण होता था। कम से कम 8 तरह के Rh एंटीजन अब तक ज्ञात हो चुके हैं। यदि किसी में Rh एंटीजन होता है तो उसे Rh+ कहा जाता है। यदि यह एंटीजन नहीं होता है तो व्यक्ति को Rh- कहा जाता है। भारत की 93% जनसंख्या Rh+ है।

संक्षेप में वन्य प्राणियों का चिकित्सा विज्ञान में महत्वपूर्ण उपयोग है। लोक-दवाओं से लेकर संसार की प्राचीन एवं आधुनिक सभी चिकित्सा पद्धतियों में वन्य प्राणियों का विभिन्न तरह से उपयोग जारी है। हमें प्रकृति में जीवों की संख्या एक निश्चित स्तर से कम नहीं होने देना चाहिये। यदि हम हमारी बढ़ती हुई मांग जीवों की प्राकृतिक संख्या से पूरी करेंगे तो एक न एक दिन कोई न कोई प्रजाति समाप्त हो ही जायेगी। अतः जरूरत है हम हमारे उपयोग हेतु प्राणियों की अतिरिक्त संख्या पैदा करें तथा प्रकृति में विद्यमान संख्याओं को एक न्यूनतम स्तर से नीचे न जाने दें।

वन्य प्राणी आने वाली पीढ़ियों के स्वास्थ्य की रक्षा में उपस्थित रहे, इसके लिये जरूरी है कि उन्हें विलुप्त होने से बचाया जाऐ तथा उनका आवश्यकतानुसार संवर्धन भी किया जाये ताकि उनका चिकित्सा क्षेत्र में चिरस्थाई उपयोग सुनिश्चित हो सके।

■ ■

विज्ञान वरदान या अभिशाप

श्रीमती किरन तिवारी

मनुष्य ने जब से आँखें खोली तभी से प्रकृति उसे चमत्कृत करती आ रही है। कौतूहल से अभिभूत मानव अपने आस-पास के जगत को देख आश्चर्यचकित रह गया। जिज्ञासा ने उसके कान में कहा-आगे बढ़ो! देखो यह सब क्या है, बस मनुष्य ने विश्व रहस्य की पर्तें खोलने प्रारम्भ कर दिये। अग्नि, जल, वायु के रहस्य खोजे। भूगर्भ को छान मारा। गगन में उन्मुक्त उड़ान कर चन्द्रमा पर पहुँच गया। विज्ञान के दुर्जेय रथ पर चढ़ा अदम्य साहसी मानव, आज सृष्टि में अपनी विजय-दुन्दुभी बजा रहा है।

प्राकृतिक तत्वों घटनाओं तथा गूढ़ रहस्यों का तथ्य-ज्ञान ही विज्ञान है। विज्ञान की कसौटी तर्क है। वह प्रयोग तथा परीक्षण के बिना किसी बात को नहीं मानता। विज्ञान ने मनुष्य के स्वर्ण की सुन्दर कल्पना को इस पृथ्वी लोक पर ही साकार करना प्रारम्भ कर दिया है। विज्ञान मनुष्य के लिये 'कामधेनु' है, 'कल्पतरु' है। यह प्राणीमात्र के लिये अमृतकुंड है, जीवनदायिनी शक्ति का पुन्ज है, प्रकृति की गुप्त निधियों के पट खोलने की कुन्जी है। वस्तुतः विज्ञान मानव कल्याण का वह नेत्र है जो अहर्निश मानव कल्याण की चिन्ता में ध्यानस्थ है।

विज्ञान ने मनुष्य को अपरिमित शक्ति प्रदान की है। प्रकृति को उसकी चेरी बनाया। ऐश्वर्य और वैभव उसके चरणों में उड़ेल दिये, काल तथा स्थान की बाधाएं मिटा दीं, अन्धों को आँखें, बहरों को सुनने की शक्ति दी,

द्वारा श्री डी०एन०तिवारी द्वारा श्री प्यारे मोहन श्रीवास्तव सिपाह चौराहा, आई०आई०टी०स्कूल, जौनपुर, उत्तर प्रदेश

जीवन को दीर्घायु बनाया आज का विज्ञान मानव के सुदृढ़ कन्धों पर टिका है। अतः आज का युग विज्ञान का युग कहलाता है। प्रतिदिन होने वाले वैज्ञानिक अविष्कार संसार में नूतन क्रान्ति कर रहे हैं। बिज्ञान का वरदान है— विज्ञान द्वारा प्रदत्त विभिन्न आविष्कार।

विज्ञान की इस आशातीत उन्नति और सर्वव्यापकता का श्रेय पिछली चार शताब्दियों को है जिनमें क्रमशः जापान, जर्मनी, हालैण्ड, रूस, अमेरिका, फ्रांस, इटली आदि देशों ने एक से एक बढ़कर अनेकानेक आश्चर्यजनक आविष्कार करके विज्ञान को चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। विद्युत, रेल, वायुयान, राकेट, रडार टेलीविजन, टेलीप्रिंटर, एक्स-रे, रेडियो आदि के आविष्कार ने जीवन और जगत के रूपरंग और अकार को इतना बदल दिया है कि यदि प्राचीन काल का कोई व्यक्ति फिर से इस संसार में अवतरित हो जाय तो जगमग महलों की चकाचौंध को देखकर भौचक्का रह जाय। आँखों को बार-बार मलकर देखने पर भी उसको बदली हुई दुनिया का विश्वास नहीं आयेगा।

विद्युत की सहायता से वैज्ञानिक युग का मनुष्य सर्दी-गर्मी दोनों पर नियंत्रण करने मे सफल हुआ है। विद्युत ईंधन बनी। पंखा, हीटर, कूलर रेफ्रिजरेटर आदि वातानुकूलन के यंत्र बने। सभी कलकारखाने और घरेलू उपयोग के यंत्र तथा मशीनें आज बिजली से चलती हैं। खेत को जोतने-बोने, फसल काटने और उन्हें बाजार तक ढोने का प्रबन्ध विज्ञान ने कर दिया है।

चिकित्सा के क्षेत्र में विज्ञान ने अदभुत आविष्कार किये हैं। इसने मनुष्य को निरोग बनाया है और दीर्घायु प्रदान की है। आज हर रोग का इलाज सम्भव है। चेचक और हैजे के टीके, पेंनिसिलिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन आदि ओषधियां अमृत का काम कर रही हैं। ऐक्सरे के द्वारा डॉक्टर शरीर के भीतर के रोग का पता लेते हैं। छोटी-मोटी शल्यक्रिया के अतिरिक्त आज तो हृदयारोपण तक में सफलता प्राप्त हो रही है। आज का वैज्ञानिक चिकित्सक कृत्रिम दिल, फेफड़े और अस्थियों की सहायता से मनुष्य की असामयिक मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सका है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी विज्ञान की देन कम नहीं है। टेलीविजन और चलचित्रों के द्वारा सरिता, सागर, वन, पर्वत, रेगिस्तान आदि के चित्र दिखाकर बालक-बालिकाओं को शिक्षा दी जा रही है। महापुरुषों के जीवन चरित्रों, युद्धों आदि को फिल्मों द्वारा इतिहास की बीती घटनाएँ सजीव रूप से प्रस्तुत कर दी जाती हैं।

उद्योग के क्षेत्र में तो वैज्ञानिक आविष्कारों ने क्रान्ति ही उपस्थित कर दी है। सुन्दर-मोहक वस्त्र, तरह-तरह के खाद्य पदार्थ, दैनिक उपभोग की वस्तुएँ आदि बड़ी मात्रा में बड़े-बड़े कारखानों में बन रही है।

यातायात साधनों के विकास ने मानव को सफलतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान पर कम से कम समय में पहुँचाया। साइकिल, मोटरकार, बस, रेलगाड़ी, वायुयान, जलयान आदि वाहनों के बनने के बाद यातायात सरल, सुगम एवं द्रुतगामी हुआ है। पृथ्वी-पुत्र मानव, चन्द्रमा, शुक्र ग्रह एवं मंगल ग्रह तक पहुँचने का दम भरने लगा।

ऊर्जा के क्षेत्र में भी विज्ञान का कम योगदान नहीं है। आणविक ऊर्जा ने मनुष्य को इस धरा पर ही स्वर्ग बनाने का सुअवसर प्रदान किया है। विशेषज्ञों का मत है कि रेगिस्तानी भूमि को भी, आणविक ऊर्जा के उपयोग से, ऊपजाऊ भूमि में बदला जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञान के द्वारा मानव का कार्य सुगम, सरल एवं विशुद्ध हो गया है।

परन्तु आज मनुष्य के सामने एक बहुत बड़ा प्रश्न उपस्थित हो गया है कि विज्ञान के नये आविष्कारों के कारण बदली हुई स्थिति उसके लिये वरदान साबित होगी या अभिशाप। यह प्रश्न इसलिये खड़ा हुआ है कि एक ओर जहाँ मानव विज्ञान का उपयोग मानव हित में कर रहा है वहीं दूसरी ओर भयंकर अस्त्र के द्वारा मानव की सभ्यता, संस्कृति और उसकी अब तक अर्जित समस्त पूँजी को भस्मीकृत कर देने की तैयारी कर रहा है। इसलिये कुछ लोग विज्ञान को मानव के लिये अकल्याणकारी भी मानते हैं। उनका कहना है कि एक ओर जहाँ रेल, वायुयान राकेट इत्यादि ने समय और स्थान की दूरी को कम कर दिया है, और सभ्यता तथा संस्कृति के निर्माण का सुअवसर प्रदान किया है वहीं दूसरी ओर इन्हीं यातायात के साधनों से एक देश से दूसरे देशों को युद्ध सामग्री ले जाकर उनको मटियामेट करने में भी कोई कसर नहीं छोड़ी। एक ओर जहाँ स्वास्थ्य और चिकित्सा के क्षेत्र में विज्ञान ने इतनी आश्चर्यजनक उन्नति की है वहीं दूसरी ओर बम-विस्फोटों से बिखरे रेडियोसक्रिय तत्व वातावरण को दूषित कर रहे हैं।

द्वितीय महायुद्ध में अमेरिका ने जापान के दो बड़े सुन्दर एवं समृद्ध शहरों हिरोशिमा और नागाशाकी पर जो अणुबम गिराये उनके विस्फोटों से उत्पन्न जो रेडियोसक्रिय तत्व वातावरण में बिखरे उनका प्रभाव अभी तक जापान में मनुष्यों की पीढ़ी दर पीढ़ी में विकलांगता के रूप में दिख रहा है।

एक ओर जहाँ मानव ने यांत्रिक एवं घरेलू क्षेत्र को उन्नत किया, वहीं दूसरी ओर इसी यांत्रिक उन्नति ने मानव को आलसी, सुस्त और निकम्मा बना दिया है। यन्त्रों के विकास से बेकारी की समस्या बढ़ रही है। कल-कारखानों और विस्फोटक परीक्षणों से पृथ्वी का वायुमण्डल और जलमण्डल विषैला बनता जा रहा है।

भयंकर अस्त्र-शस्त्र मनुष्य को मिटा देने पर उतारू हैं। लोगों में विनय, श्रद्धा, ममता, त्याग, करूणा, आदि गुणों का अभाव होता जा रहा है। मनुष्य पहले से अधिक कपटी, दम्भी, क्रोधी और राक्षस बन गया है। किन्तु मानव विकास की प्रक्रिया से गुजर रहा है। मानव की उम्र ही क्या है। यदि इस धरती की कुल उम्र को एक वर्ष मान लिया जाये तो आदमी 31 दिसम्बर को रात्रि में 7 बजकर 40 मिनट पर पैदा हुआ। यानि एक वर्ष में मात्र 4 घन्टे 20 मिनट।

अतएव हम कह सकते हैं कि विज्ञान एक शक्ति है जिसके सृजनात्मक और विध्वंसात्मक दो पहलू हैं। यह मानव बुद्धि पर निर्भर है कि वह किस प्रकार के रूप को अपनाये— सृजनात्मक या विध्वंसात्मक। कहीं ऐसा न हो कि, मनुष्य विज्ञान का कुल्हाड़ी से उसी डाल को काट बेठे जिस पर वह बैठा है।

निश्चय ही विज्ञान धरती को स्वर्ग बना सकता है, बस मनुष्य की बुद्धि और नीयत ठीक बनी रहे।

(आकाशवाणी इलाहाबाद से साभार)

■ ■

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय पाठकगण !

"विज्ञान" का सितम्बर-अक्टूबर 1995 संयुक्तांक आपके हाथों में है। पत्रिका को स्तरीय बनाने, इसमें वांछित सुधारों की दिशा में किए जा रहे प्रयास अभी फलीभूत नहीं हो पा रहे हैं । फिर भी हमारा प्रयास जारी है ।

विश्वविद्यालय की परीक्षायें चल रही हैं । परिषद् की गतिविधियाँ भी स्वाभाविक रूप से प्रभावित हैं पर मात्र गति धीमी हुई है । यहाँ सिर्फ दो बातों की चर्चा कर रहा हूँ । एक तो प्रो० चंद्रशेखर का निधन और दूसरा स्वामी जी के जन्म दिन पर उनके सपनों को साकार करने का संकल्प ।

प्रो० चन्द्रशेखर का निधन

19 अक्टूबर 1910 को भारत में जन्में 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त वैज्ञानिक (खगोल-भौतिकीविद्) डॉ० सुब्रमनियम चंद्रशेखर का निधन 21 अगस्त 1995 को शिकागो में हो गया । चंद्रशेखर की शिक्षा प्रेसिडेंसी कॉलेज मद्रास और ट्रिनिटी कॉलेज, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में हुई । 1933-37 तक वे ट्रिनिटी कॉलेज में कार्यरत रहे। सितारों की ओर वे सहज रूप से आकर्षित हुए और आजीवन सितारों से ही संबंधित खोजों में लगे रहे । उन्होंने व्हाइट ड्वार्फ स्टार्स, सुमरनोवा, न्यूट्रान स्टार्स और ब्लैकहोल पर भी महत्वपूर्ण खोजें कीं 'चंद्रशेखर लिमिट' तो भौतिक विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों का अविभाज्य अंग बन गया है ।

उन्होंने 1938 में शिकागो विश्वविद्यालय में ऐस्ट्रोफिजिक्स के सहायक प्रोफेसर का पदभार ग्रहण किया और 1952 में ऐस्ट्रोफिजिक्स के मोर्टनडी फुल डिस्टेंगिस्ट सर्विस प्रोफेसर का पद प्राप्त कर लिया । 1953 में उन्होंने अमेरिकी नागरिकता ग्रहण कर ली ।

1983 में उन्होंने 'द मैथमैटिकल थियरी ऑव ब्लैक होल्स' पर शोधपत्र प्रकाशित किया । 1953 में ही उन्हें 'रायल ऐस्ट्रोनामिकल सोसायटी' का 'गोल्ड मेडल' और 1962 में रायल सोसायटी का 'रायल मेडल' मिला । 1983 में उन्हें 'नोबेल पुरस्कार' देकर सम्मानित किया गया ।

प्रो० चंद्रशेखर की पुस्तकों में 'एन इन्ट्रोडक्शन आव स्टडी आव स्टेलर स्ट्रक्चर' (1939), 'प्रिंसिपल आव स्टेलर डाइनेमिक्स' (1942), 'रेडिएटिव ट्रांसफर, (1950), और हाइड्रोडायनेमिक एण्ड हाइड्रोमैगनेटिक स्टेबिलिटी' (1961) विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं ।

डॉ० चंद्रशेखर ने अपने उच्चस्तरीय शोध कार्यों से भारत का गौरव बढ़ाया है । डॉ० चन्द्रशेखर को विज्ञान परिषद् की भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित है ।

स्व० स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती का जन्मदिन

विज्ञान परिषद् में 24 अगस्त को स्वर्गीय स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती का जन्म दिन मनाया गया । इस सभा की अध्यक्षता प्रो० चंद्रिका प्रसाद ने और संचालन किया प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने । वक्ताओं ने स्वर्गीय स्वामी जी के जीवन के प्रेरक प्रसंगों की चर्चा की और हिन्दी विज्ञान लेखन की श्रीवृद्धि में उनके योगदान पर प्रकाश डाला। स्वामी जी की 'आर्य समाज' के प्रति की गई सेवाओं की भी चर्चा हुई । 'विज्ञान परिषद् प्रयाग' तो स्वामी जी का कीर्ति स्तम्भ ही है । अनेक वक्ताओं ने यह भी कहा कि स्वामी जी के अधूरे सपनों को साकार करने के लिए प्राणपण से जुट जाना है । यह भी निश्चय किया गया कि स्वामी जी के व्यक्तित्व के अनुरूप "विज्ञान" पत्रिका का एक विशेषांक निकाला जाये, भले ही यह विशेषांक कुछ बिलम्ब से निकले । इस अवसर पर बोलने वालों में श्री दर्शनानन्द, डॉ० शिवँ गोपाल मिश्र, श्री हरिमोहन मालवीय, डॉ० मुरारी मोहन वर्मा, डॉ० सुनील दत्त तिवारी, श्री सुनील कुमार पाण्डेय, श्री अरूण कुमार सिंह, श्री देवीदयाल पाण्डेय, श्री हरिओम सिंह, श्री नरेन्द्र कुमार सिंह, श्री धर्मेन्द्र कुमार सिंह, श्री रविशंकर सिंह प्रमुख थे । स्वामी जी के जीवन के कुछ प्रेरक प्रसंगों से संबंधित एक आलेख जोधपुर से डॉ० रामगोपाल जी ने भेजा था । इसे श्री संजीव त्रिपाठी ने पढ़कर सुनाया । शेष फिर ।

आपका
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1995

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।

(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।

(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।

(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।

(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1995 से दिसम्बर 1995 माह के बीच प्रकाशित हो।

(6) लेखक को लेख के साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।

(7) विज्ञान परिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।

(8) वर्ष 1995 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1996 है।

(9) पुरस्कार के लिए पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागियों को इस प्रतियोगिता के लिए उपयुक्त नहीं समझा जायेगा।

लेख निम्न पते पर भेजें—

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कॉलेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जायें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामायिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जावें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी लेखमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पत्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं।

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु० चौथाई पृष्ठ 50.00 आवरण : द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 5000.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०

प्रति अंक : 3 रु० 50 पैसे, यह अंक : 6 रु०

प्रेषक : विज्ञान परिषद्

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

ISSN 0373-1200

नवम्बर-दिसम्बर 1995 अंक
मूल्य : 6 रु०

कौंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च
नई दिल्ली के
आर्थिक अनुदान द्वारा प्रकाशित
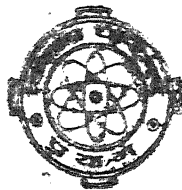
विज्ञान

परिषद् की स्थापना 10 मार्च 1913 : विज्ञान का प्रकाशन अप्रैल 1915
नवम्बर-दिसम्बर 1995 : वर्ष 81 अंक 6-7

मूल्य
आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत
त्रिवार्षिक : 60 रु०, वार्षिक : 25 रु०
एक प्रति : 3 रु० 50 पैसे
यह अंक : 6 रु०

विज्ञान विस्तार

प्रकाशक
डॉ० डी० डी० नौटियाल
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक
प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
सहायक संपादक
डॉ० दिनेश मणि

मुद्रक
अरुण राय
प्रसाद मुद्रणालय
7 ए-बेली एवेन्यू, इलाहाबाद

सम्पर्क
विज्ञान परिषद्
महर्षि दयानन्द मार्ग
इलाहाबाद-211002

मरु प्रदेश की आंचलिक वनस्पतियाँ और बहुउपयोगी केर

डॉ॰ सुशीला राय

विश्व स्तर पर स्वास्थ्य कार्यक्रमों में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने महामारी एवं असाध्य रोगों के प्रति जागरूकता लाने के साथ-साथ अनेक उपचार और रोकथाम के लिए सन् 2000 तक "सबों को स्वास्थ्य" के लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए प्रशंसनीय कार्य किया है। इन स्वास्थ्य कार्यक्रमों से मनुष्य की कुल आयु तो अवश्य बढ़ी है परन्तु अंग्रेजी दवाओं के अत्यधिक उपयोग से नए-नए रोगों जैसे कि एड्स, एलर्जी, वायरल ज्वर, आदि ने भी जन्म लिया है। इन रोगों का उपचार आज के विज्ञान के लिए चुनौती बन गया है। दूसरी ओर इन कृत्रिम औषधियों के सेवन से विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक विकृतियां तथा तनाव उत्पन्न हो रहे हैं। आज का मानव साधारण रोगों में भी स्वतः विभिन्न पेटेन्ट औषधियों का प्रयोग कर अनेक रोगों को आमंत्रण देता है। जहाँ अनेक औषधियां गर्भस्थ शिशु में 46 प्रतिशत विकृतियाँ पैदा कर रही हैं, वहीं दूसरी ओर टेट्रासाइक्लीन (9प्रतिशत), इरिथ्रोमाइसीन (22 प्रतिशत), कोट्राइमेक्सोजोल (15 प्रतिशत) आदि कीटाणुनाशक (एंटीबायोटिक) के शिशुकाल में सेवन से मटमैले और विकृत दांतों का ज्वलन्त उदाहरण हम सभी के समक्ष विचारणीय है। ग्रामीण स्तर पर शुद्ध एवं संतुलित भोजन पर निर्भर प्राकृतिक जीवन जीने वालों बच्चों के दांत सुन्दर व स्वस्थ होते हैं।

आज नीम के औषधीय गुणों के प्रति पूरा विश्व आकर्षित हो रहा है जबकि भारत में यह आदिकालीन वृक्ष प्रसव काल से लेकर मृत्युपर्यन्त तक हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी रहा है। इस संदर्भ में सभी वैज्ञानिकों और चिन्तकों का ध्यान परम्परागत विज्ञान और तकनीकी के प्रति आकर्षित हुआ है। इस लेख के मध्यम से मैं घरेलू उपचार में प्रयोग आने वाली दादी माँ की उन सभी जड़ी बूटियों, खाद्य पदार्थों एवं नुस्खों को भारतीय भाषाओं में प्रचार प्रसार के लिए आह्वान करती हूँ। सरल भाषा और सर्वग्राह्य शैली के आधार पर परम्परागत औषधि विज्ञान साहित्य का सृजन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि वह हनुमान चालीसा, शिव चालीसा, गायत्री मंत्र और अन्य भाषाओं में प्रचलित गुटकों की तरह सुलभ हो एवं सर्वगाह्य बन सकें। हम सभी हल्दी, तुलसी, चंदन, आंवला, हर्र, बहेड़ा, जल नीम, इमली, पीपल, नमक आदि के चमत्कारिक प्राथमिक उपचार के प्रयोग से परिचित हैं। सभी घरों में उपलब्ध इन वस्तुओं का उपयोग मनुष्य अपने स्तर पर औषधियों और प्रसाधन के क्षेत्र में कर ही रहा है (सारणी 1 एवं 2)। इन नुस्खों को और अधिक प्रचलित किए जाने की आवश्यकता है। भोजन संयोजन विज्ञान से स्वस्थ जीवन जीने की कला अपनाने की आवश्यकता है।

लगभग दो दशकों से मैं मरुभूमि की वनस्पतियों के अध्ययन से जुड़ी हुई हूँ। थार मरुस्थल भारत और पाकिस्तान के लगभग 4.46 लाख कि॰ मी॰ भू-भाग में फैला हुआ है। राजस्थान मरुस्थल जो कि इसका एक भाग है, उत्तर में 24 डिग्री और 30 डिग्री अक्षांशों व पूर्व में 69 डिग्री और 78 डिग्री देशान्तरों के मध्य स्थित है। राजस्थान की मरुभूमि का क्षेत्रफल लगभग 1.96 लाख वर्ग कि॰ मी॰ है, जो कि देश की सम्पूर्ण मरुभूमि का 62प्रतिशत

वैज्ञानिक, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर-342011

है। मरुक्षेत्र रेत और रेत के टीलों द्वारा पूर्ण रूप से आच्छादित है। यहाँ प्रचण्ड आंधियाँ चलती हैं, जो रेत के टीलों को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाती हैं।

वर्षा नगण्य है और वार्षिक औसत 300 मि० मी० से सदा कम ही रहती है। सैकड़ों वर्षों के मौसम-चक्र से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि चार वर्ष तक भीषण अकाल रहता है और प्रत्येक चार वर्ष के पश्चात् कुछ क्षेत्रों में अति वृष्टि से बाढ़ की सी स्थिति हो जाती है।

रेगिस्तानी इलाकों में आबादी अत्यन्त क्षीण है और औसतन 30 व्यक्ति प्रति किलोमीटर भूमि पर निवास करते हैं। यहाँ वर्षा के बाद प्रमुखतया बाजरे की खेती की जाती है। प्रमुख उत्पादनों में बाजरा के अतिरिक्त ज्वार, मोठ, रायड़ा, खारची, गेहूँ, मूंग, तिल, प्याज, मिर्च आदि सम्मिलित हैं। पशुपालन से प्राप्त दूध, ऊन और मांस जीविका के स्रोत हैं। राजस्थान मरुस्थल की वनस्पति का संकलन सर्वप्रथम ड्यूथी और किंग ने 1880 और 1890 ईस्वी के मध्य किया था। प्रारम्भिक गणनानुसार यह निर्णय निकाला गया था कि इस मरुभूमि में 507 जातियों के पेड़-पौधे हैं, जिसमें से 116 जातियाँ बाहर से लाई गई हैं। जोधपुर विश्वविद्यालय के हाल के सर्वेक्षणानुसार (1990) 517 पेड़-पौधों की जातियाँ मरुभूमि में पाई जाती हैं, जो कि 319 जातियों और 82 उपजातियों के अन्तर्गत आती हैं।

सम्पूर्ण मरुभूमि में कुछ पेड़-पौधे बहुतायत से पाए जाते हैं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण पौधों के नाम निम्न हैं :

कूमट (Acacia senegal), बबूल या कीकर (Acacia nilotica), केर (Capparis decidua), तुम्बा (Citrullus colocynthis), मतीरा (Citrullus lanatus), फोग Caligonum polygonoides), मदार धतूरा Calatropis procera), भ्रूट (Cenchrus biflarus), डंडा थोर (Euphorbia caducifolia), गूगल (Commiphora mukul), खेजड़ी या सांगरी (Prosopis cineraria), जंगली बबूल या इजरायली बबूल (Prosopis juliflora), जाल (Salvadora oleroides), रोहिड़ा (Tecomella undulata), बोरडी (Zizyphus mauritiana), बेर (Zizyphus numularia) आदि।

मरुस्थल के निवासी भी स्थानीय वनस्पतियों के उपयोग में पूर्ण पारंगत हैं। सुदूर क्षेत्रों में बिखरे झोपड़ियों में स्थित रेगिस्तानी संस्कृति में जीवन यापन करते इन निवासियों के कुछ अचूक नुस्खे तो अत्यन्त कारगर हैं। आयुर्वेद में बहुप्रचलित डंडा थोर, केर, गूगल, आक आदि प्रमुखरूप से यहाँ की सर्वव्यापी वनस्पतियाँ हैं। औषधियों से भरपूर इन वनस्पतियों के प्रचार-प्रसार की आज के युग में महती आवश्यकता है। ग्रामीण स्तर पर कार्यरत वैद्यों, चिकित्सकों, हकीमों और बड़े-बूढ़ों के साथ विचार-विमर्श कर सभी सूचनाओं को एकत्रित करना तथा आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान, रसायन-विज्ञान, शरीर-विज्ञान और आयुर्वेद को जोड़ते हुए वैज्ञानिक तर्क के साथ इस महत्वपूर्ण जानकारी को जन-जन में प्रसार हेतु विभिन्न भाषाओं में संग्रहीत करने का मेरा सुझाव है। इस दिशा में मैं राजस्थान मरुभूमि की प्रमुख वनस्पतियों केर, गूगल, डंडा थोर और आक के औषधीय गुणों और परम्परागत प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए एक प्रतिनिधि औषधियुक्त पादप (झाड़ी) केर का संक्षिप्त प्रारूप प्रस्तुत कर रही हूँ। इसी आधार पर केर तथा अन्य उपयोगी साहित्य का सृजन विभिन्न भाषाओं में किया जा सकता है।

ओषधीय गुणों से भरपूर केर

भूमिका

केर एक पौराणिक और स्वास्थ्य प्रदान करने वाली कंटीली झाड़ी है। पीले नारंगी रंग के फूलों से लदी केर की चित्ताकर्षक झाड़ी मरुक्षेत्र का गुलदस्ता है। इसी केर या करील के कुंजों में वृन्दावन के जमुना तट पर कृष्ण गोपियों के साथ रास रचाते थे। रुक्ष क्षेत्र में केर के फलों का उपयोग सब्जी व अचार बनाने में किया जाता है। इसके फल पौष्टिक तत्वों से भरपूर ही नहीं बल्कि पूरी की पूरी झाड़ी औषधीय गुणों का भंडार है। उच्च रक्तचाप, मधुमेह और पेट के समस्त विकारों में यह रामबाण औषधि के रूप में चिकित्सकों, वैद्यों और ग्रामीणों द्वारा प्रयोग में लायी जाती है। इसकी लकडी दीमक अवरोधी होने के कारण अनेक घरेलू वस्तुएँ तथा कृषि में आने वाले उपयोगी औजारों को बनाने में प्रयोग की जाती है।

वानस्पतिक नाम—केर का वानस्पतिक नाम **कैपरिस डेसीडुआ** है तथा यह कैपरीडेसी कुल का सदस्य है।

विभिन्न भाषाओं में नाम

अंग्रेजी	:	केपर प्लान्ट
हिन्दी	:	केर, करील, किरमा, कदवर
संस्कृत	:	तीक्ष्ण, कंटका, गुढ़ापय, करीर, छायातिनिशः गांडगेस्की
राजस्थानी	:	पिंजू, टीट, केर, डेले
मराठी	:	करीर
गुजराती	:	करील
पंजाबी	:	डेले, टेटी
तमिल	:	सिनेगम, करायसेट्टी
तेलुगू	:	केरारामू, बालुसू
कन्नड़	:	त्रिपुरी निष्पतीज
मलयालम	:	करीमुलु, करीमुली, कंटकारा, सेरूकारा

प्राप्ति स्थान

केर की झाडियाँ देश के सम्पूर्ण उष्ण क्षेत्रों विशेषकर राजस्थान, गुजरात, पंजाब, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश और कर्नाटक में पाई जाती हैं। भारत के अतिरिक्त यह पाकिस्तान के सिन्ध प्रान्त, अफ्रीका, मिश्र, अरेबिया, चीन आदि में भी बहुतायत से मिलती है।

केर का वर्णन

केर बहुवर्षीय, घनी, कंटीली पत्ती विहीन झाड़ी के रूप में होता है। इसकी महीन टहनियाँ ही पत्तियों का काम करती हैं। तना पूरी तरह से एक मोटे मोमीय आवरण से युक्त होता है। काँटें लम्बे सीधे तेज व नारंगी-पीले रंग के होते हैं। फूल 2-4 के समूह में कांटों के जोड़ से निकलते हैं तथा ईंट के रंग की सी ललिमा लिए हुए होते हैं। इनका आगमन बसन्त एवं शीत ऋतु के साथ अर्थात् मार्च-अप्रैल एवं जुलाई-अगस्त में होता है। इन पुष्पों में तीखी सरसों के तेल की गंध होती है जो इनकी प्रमुख विशेषता है।

फल क्रमशः मई-जून एवं अगस्त-सितम्बर के महीनों में पकते हैं। कच्चे फल मटर के दाने के समान अंगूरी रंग के तथा स्वाद में कसैले होते हैं। पकने पर ये चटक लाल रंग लिए स्वाद में मीठे हो जाते हैं। इन्हें राजस्थान की प्रचलित भाषा में पिंजू, टींट, केर, करीर या ड़ेले कहते हैं। फलों से प्राप्त बीज भी आकार में गोल तथा संख्या में 2 से 26 तक होते हैं। प्रायः मई जून में प्राप्त कच्चे फलों का प्रयोग ही सब्जी व अचार के रूप में किया जाता है।

गुण व उपयोग

पके फल शर्करा युक्त व एक विशेष प्रकार की मधुर तीखी गंध वाले होते हैं। इसमें अन्य फलों की तुलना में प्रोटीन की मात्रा (8.62 प्रतिशत) अधिक होती है। प्रोटीन के अलावा बिटामिन-सी तथा कार्बोहाइड्रेट भी अन्य फलों की अपेक्षा अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। सूखे फलों में तेल की मात्रा 20% तक पाई जाती है।

हरे फलों का रासायनिक विश्लेषण सारणी-3 में दर्शाया गया है।

सारणी-3. केर के हरे फलों का रासायनिक विश्लेषण

घटक	मात्रा (प्रतिशत)	
नमी	55.20	
अशुद्ध प्रोटीन	8.62	
शुद्ध प्रोटीन	5.00	
वसा	20.00	
फॉस्फोरस	0.06	
कैल्शियम	0.06	
मैग्नीशियम	0.05	
पोटेशियम	1.03	
शर्करा	1.76	
तथा बिटामिन-सी	7.8	मी॰गा/100 ग्राम गूदे से

ओषधीय उपयोग

केर की सम्पूर्ण झाड़ी ओषधि के रूप में विख्यात है। इस पौधे का आयुर्वेदिक महत्व नवीन शोधों द्वारा प्रकाश में आया है। इसमें उपस्थित गंधक यौगिक, एलक्लॉयड एवं ग्लायकोसायड भी प्रमुख तत्व हैं जो इसकी रोग निरोधक शक्ति के लिए उत्तरदायी है। पौधों के विभिन्न भागों से प्राप्त रासायनिक यौगिक और उनके उपचार संबंधी उपयोग सारणी-4 में प्रदर्शित किए गए हैं।

उत्पादन एवं आय

यह रूक्ष क्षेत्र का एक ऐसा पौधा है जिसने अपने में अनेक परिवर्तन करके प्रतिकूल मौसम में जीवित रह सकने की क्षमता विकसित की है। इसकी झाड़ियाँ 25 से 165 प्रति एकड़ तक पाई गई हैं। परन्तु इस वृक्ष की खेती परम्परागत ढँग से नहीं की जाती है। यह स्वतः उगता है। इसकी वृद्धि 3 से 5 साल तक धीमी होती है, परन्तु बाद में उपयुक्त वातावरण मिलने पर यह पूर्ण विकसित हो 8-15 फिट तक का हो जाता हैं। प्रत्येक पौधे से एक मौसम में 2 से 70 किलो तक फल प्राप्त होते हैं। एक किलो ताजे फल से लगभग 200 ग्राम सूखे फल प्राप्त होते हैं। हरे ताजे फलों का मूल्य 10-15 रुपये प्रति किलो तथा सूखे फलों का मूल्य 40 रुपये से 180 रुपये उनके (फलों के) गुणों एवं आकार पर निर्भर होता है। फल जितने ही छोटे होते हैं उतने ही गुणकारी व मंहगे मिलते हैं। इनका निर्यात राजस्थान से कलकत्ता, बम्बई आदि सुदूर नगरों को किया जाता है तथा अचार बनाने वाली सभी प्रमुख कम्पनियाँ इन फलों का प्रयोग मिश्रित अचार बनाने में करती हैं। केर का फल स्वाद में कसैला होने के कारण बिना उपचारित किए हुए सेवन नहीं किया जाता अतः इसे एक विशिष्ठ विधि से नमक छाछ में रखकर बनाया जाता है।

सारणी—4

केर से प्राप्त रसायन व उनके ओषधीय उपयोग

पौधे के अंग	प्राकृतिक रसायन	उपयोग
जड़ और जड़ की छाल	लंबी शृंखला वाले हाइड्रोकार्बन व व अलकोहॉल, स्टीरायड, अल्कलॉयड ग्लाइकोसायड्स एवं कैरोटीन	पारी बुखार एवं गठिया में Intermittant fever & rheumatism)
तने की छाल	गंधकीय यौगिक व अन्य रसायन	खांसी, गले की सूजन, दमा, कब्ज, स्वेदजनक व कृमि-नाशक
नर्म टहनियाँ	गंधकीय यौगिक व अन्य रसायन	फोड़े-फुंसी, फफोलों व घाव के उपचार में, दांत-दर्द व हृदय रोग दूर करने में
फूल	लंबी शृंखला वाले हाइड्रोकार्बन व अलकोहॉल, निकोटीन, वसा, अम्ल, स्टीरायल, ग्लाइकोसाइड्स, एन्थोसाइनीन एवं अलकलॉयड	कृमिनाशक, सूक्ष्म जीवाणु एवं फफूंदी-नाशक
फल	लंबी शृंखला वाले हाइड्रोकार्बन, अलकोहॉल, स्टीरायड, अलकलायड, वसा, अम्ल व तेल	हृदय-रोग, पित्त संबन्धी रोग व कृमि उपचार में

■ ■

पौधों में विषाणु रोगों का प्रबन्ध

रविन्द्र कुमार सिंह, राजा राम एवं एजाज असगर जैदी

कृषि-उद्यान, बागानी फसलों और वानिकी के क्षेत्रों में पौध विषाणु रोग लगातार महामारी के समान फैल रहे हैं विषाणु संसार में भयंकर आर्थिक क्षति के लिए उत्तरदायी हैं। पौध विषाणुओं द्वारा प्रत्येक वर्ष पूरे विश्व में लगभग 15 बिलियन डॉलर की आर्थिक क्षति हो जाती है। इस क्षति को रोकने के लिए युद्ध-स्तर पर जो प्रभावी कदम उठाये गये हैं उनमें से प्रमुख है --विषाणुओं के पता लगाने की विधि, पहचान, रोगग्रस्त प्रवर्धकों से विषाणुओं को निकालना और विषाणु प्रतिरोध फसलों का विकास।

जिस प्रकार मनुष्यों और जानवरों में विषाणु रोगों का नियन्त्रण नहीं हो पाया है उसी प्रकार पौधों में विषाणु रोग का नियन्त्रण नहीं हो सका है। विषाणु द्वारा संक्रमित पौधे सामान्य तरीके से रोगमुक्त नहीं हो पाते हैं। ऐसे पौधे रसायनिक उपचार या सुई लगाकर सुरक्षित नहीं रखे जा सकते हैं क्योंकि विषाणु गणन क्रिया के विरुद्ध अभी तक प्रयोगिक उपचार विषाणुघाती द्वारा संभव नहीं हो पाया है। विषाणु रोग प्रबन्ध कार्यक्रम के आर्थिक आधार पर विषाणुओं द्वारा फसल-क्षति का मूल्यांकन शोधनीय है। क्षति के प्रकार जैसे वृद्धि में कमी, ओज में कमी, गुणों में कमी अथवा अप्रत्यक्ष क्षति फसल स्वास्थ्य रक्षा की कीमत से संबन्धित है। विभिन्न फसलों में औसत क्षति लगभग 5-20% होती है, जबकि कुछ फसलों में 80-90%तक यह क्षति हो जाती है। विषाणु से संक्रमित विभिन्न भोजन, चारा और ईंधन वाली फसलें जिनमें आर्थिक क्षति तो होती है फिर भी उन्हें उपयोग में लाया जा सकता है परन्तु अधिक व्यावसायिक महत्व आभूषक फसलें जैसे ऑर्किड पूरी तरह नष्ट हो जाती है। अलंकृत फसलों में अन्य लक्षण हैं कलर ब्रेकिंग और बाह्यदल और पालियों का चितकबरापन, जिससे उनका बाजार मूल्य कम हो जाता है।

एक बड़ी समस्या विषाणु संक्रमित पौधों का उन क्षेत्रों में प्रवेश व वितरण का है जहाँ वे नहीं पाये जाते। जनन द्रव्य का सुरक्षित प्रचलन विषाणु पता करने की विश्वसनीय विधि और प्रभावी चिकित्सा विधि पर निर्भर है। इसलिए आनुवंशिक द्रव्य साधन के संरक्षण के लिए अधिक क्षमता की विषाणु निकालने की तकनीकी का प्रयोग करते हैं। वर्षा से विषाणु पता करने की उन्नतशील विधि की आवश्यकता महसूस की जा रही थी। रोग वाहकों के नियन्त्रण के लिए तथा कीटनाशक का प्रयोग कम करने हेतु यह आवश्यक है कि रोग का पता पहले ही कर लिया जाये। इसके लिए रोग निदान सूचक विधियों में अच्छा विकास हुआ है जिसमें सचेत्तक सेरोलॉजिकल तकनीकी (इ० एल० आई० एस० ए०, आई० एस० ई० एम०, डी० आई० बी० ए०, आर० आई० ए०) द्वारा इसकी प्रमाणिका और विषाणु का आगामी परीक्षण, पौध विषाणु तकनीकी में प्रमुख क्रम है। विषाणु पता करने की विश्वसनीय विधि जो हाल ही में उन्नत हुई है उनमें सेरोलोजिकल तकनीकी, न्यूक्लिक अम्ल संकरण तकनीकी और जैव तकनीकी में आणविक जीव शास्त्र अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो रही है।

वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद्, संकुल पालमपुर, हिमाचल प्रदेश, पिन-176061

आनुवंशिकी अभियान्त्रिकी के उपयोग से प्रतिरोधक जीन समावेश करना बहुत ही अच्छा उपाय है किन्तु जीन को सुविधापूर्वक प्राप्त करना अपेक्षाकृत बहुत कठिन है। 1985 में बीची और उनके सहयोगियों ने विषाणु रोग के विकास और विषाणु संक्रमण से छुटकारा पाने की एक अनोखी विधि का प्रयोग किया। उन्होंने टी॰ एम॰ वी॰ के विषाणु आवरण प्रोटीन से ट्रान्सजेनिक पौधे बनाये। इस तरह के प्रवेशन के फलस्वरूप रोग लक्षण कुछ दिन देर से आये। आवरण प्रोटीन के अतिरिक्त अन्य उपायों जैसे-सैटेलाइट, मेडिएडेट प्रतिरोध, एन्टीसेन्स आर॰ एन॰ ए॰ और राइबोजाइम को विभिन्न पौधों और विषाणुओं में विषाणु प्रतिरोध के लिए परीक्षित किया गया है।

वर्तमान दृष्टिकोण में विषाणु नियन्त्रक उपायों, साथ-साथ रोग निदान विधियाँ, विषाणु पता करने की विधियाँ, जिस पर हाल ही में प्रयोग किया गया है, का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है। यह विधियाँ सामान्यतः आठ प्रकार की हैं :—

1. विषाणु रोग का निदान
2. अन्योन्य प्रतिरोध
3. संक्रमण के स्रोत का निराकरण और कृषि क्रियाओं का परिवर्तन
4. विषाणु मुक्त प्रवर्धन का उपयोग
5. रोग वाहक का नियन्त्रण
6. विषाणु प्रतिरोधक जीव का जैव प्रोद्योगिक उपयोग और प्रतिरोध किस्मों का प्रजनन
7. ट्रान्सजेनिक पौधों का विकास
8. संगरोध प्रबन्ध

1. विषाणु रोग का निदान

विषाणु रोगों का प्रबन्ध निवारण द्वारा किया जाता है इसलिए विषाणु पता लगाना बहुत ही महत्वपूर्ण है। विषाणु पता करने की प्रबल विधियाँ जैसे लक्षण देखकर मूल्यांकन करना, जैव जांच, इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी द्वारा सेरोलॉजी अथवा न्युक्लिक अम्ल के आधार पर। जाँच सूचक-पादप का प्रयोग और दृष्टि मूल्यांकन के लिए विषाणु पता करना और निदान दोनों निर्भर करने योग्य नहीं हैं और इसमें अधिक समय और जगह की आवश्यकता होती है। इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी विधि खर्चीली है और नियमित विषाणु सूचकांक विधि के लिए अयोग्य है। मुख्य रूप से इसका उपयोग विषाणु पहचान और विषाणु प्रकृति निर्धारण में होता है। विषाणु सूचकांक वाले सभी पौधे एक दूसरे रूप में सीरम सम्बन्धी परख पर मुख्य रूप से आश्रित हैं। अब पौध विषाणु वैज्ञानिक अधिक मात्रा में एलिजा के माध्यम से विषाणुओं का खेत में परीक्षण कर सकते हैं। विषाणुओं के इस तकनीकी सर्वेक्षण के साथ फसलों, जंगली पौधों में बहुत आवरण से विषाणु प्रतिरोधक क्षमता की बहुत अधिक संभावना हो गई है। यह परीक्षण कम मेहनत और निश्चित और कम समय में हो सकता है। कीट रोग वाहकों और बीजों के विषाणुओं को पता करने में भी एलिजा का प्रयोग सफलतापूर्वक किया गया। इस परीक्षण से उत्पादकों को समझने में भी काफी सुविधा होगी कि इस प्रकार इन क्रियाओं जैसे रसायनों, कृषि संबन्धी आणविक और जैव प्रोद्योगिकी द्वारा रोग प्रबन्ध का उपाय करके स्वस्थ्य फसल का उत्पादन कर सकते हैं।

2. अन्योन्य प्रतिरोध

यह अधिक विषाणु संक्रमण के विरुद्ध एक सुरक्षात्मक उपाय है। पौधों में अधिक संक्रमित करने वाले विषाणुओं से बचने के लिए कम संक्रमित करने वाले विषाणु को पौधों के ऊपर स्थापित कर देते हैं जिससे पौधा अधिक संक्रमण से बच जाता है। इस विधि की बहुत ही कमियाँ हैं। जैसे कभी-कभी कम संक्रमण करने वाला बिषाणु उत्परिवर्तन के कारण संक्रमण करने वाले विषाणु में बदल जाता है।

3. संक्रमण के स्रोत का निराकरण एवं कृषि क्रियाओं में परिवर्तन

साधारणतया यदि फसल को विषाणु मुक्त रखना है तो खेत और उसके आस पास संक्रमण का कोई स्रोत नहीं होना चाहिए। इस प्रकार विषाणु रोग समस्या का निदान हो सकता है। सिद्धान्त रूप से रोग फैलाने वाले स्रोतों को जैसे एकवर्षीय खर-पतवार या बहु-वर्षीय खर-पतवारों और असंबन्धित फसलों को खेत से निकालकर रोगों से फसल की रक्षा करते हैं। मिश्रित फसलों में यह विधि अपेक्षाकृत कठिन है। मिट्टी में पौधों के अवशेषों पर विषाणु निवास करते हैं जो पत्तियों के रगड़ द्वारा फैसलों को हानि पहुँचाते हैं।

फसल चक्र और खेत की देर से जुताई द्वारा नयी फसल में विषाणु संक्रमण को कम किया जा सकता है। संक्रमित पौधों और खर-पतवारों को खड़ी फसल से निकालना विषाणु नियंत्रण की एक प्रभावी विधि है। इसे परीक्षण द्वारा देखा गया कि ग्लेडियोलस की फसल में बी० वाई० एम० वी० पाया जाता है और उस फसल से तिपत्तिया चारा को निकालने के बाद रोग का संक्रमण कम हो गया। इसी प्रकार तम्बाकू, पोदीना, मकोय इत्यादि कुकम्बर मोजेक वाइरस को आश्रय देते हैं और इसे अन्य पौधों पर फैलाते में योगदान देते हैं। ज्वार और मक्का की फसलों का उपयोग भी कुछ कीटों का संकेत के लिए किया गया है। इसमें यह आवश्यक है कि ये कीट इन पर कोई रोग न फैलाते हों।

4. विषाणुमुक्त प्रवर्धन पदार्थों का उपयोग

बिषाणु मुक्त प्रवर्धित पदार्थों जैसे-शल्क कन्द, धनकन्द, अन्तः भँस्तारी और बीजों का प्रयोग करके आगामी बिषाणु संक्रमण को कम करते हैं। ऐसी अवस्था में जहाँ प्रवर्धित पदार्थों का मूल पौधा संक्रमित है, तब उनकी संततियाँ में भी संक्रमण हो जाता है। कायिक प्रबन्धन में ऐसी स्थितियों का पाया जाना एक साभान्य बात है। इस प्रकार से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में बिषाणु का प्रवेश रोग का महत्वपूर्ण कारण होता है। फसल की प्रारम्भिक अवस्था में विषाणु संख्या में बढ़ता है और अन्य पौधों में फैलता है। जैव प्रौद्योगिकी प्रयत्नों में बिषाणु मुक्त पौध पदार्थ प्राप्त करने के विभिन्न स्तर हैं। उत्तक और कोशिका सम्वर्धन में विभज्योतक सिरा सम्बर्धन द्वारा बिषाणु मुक्त पौधे का विकास करते हैं। बिभज्योतक सिरा सम्वर्धन, बिषाणु मुक्त पौधे के उत्पादन की अच्छी बिधि है किन्तु इसे विभिन्न पौधशालाओं और एजेन्सियों को वितरित करने से पहले अच्छी प्रकार सचेतक सेरोलोजिकल विधि जैसे एलिजा, डिबा, आइसेम से परीक्षण कर लेना चाहिए।

5. रोग वाहक का नियन्त्रण

यह वाहकों द्वारा फैलने वाले विषाणुओं के नियन्त्रण की अप्रत्यक्ष बिधि है। एफिड्स, सफेद मक्खी

और माइट्स वायु आश्रित रोग वाहक कहलाते हैं। जबकि सूत्रकृमि और कवक मृदा आश्रित रोगवाहक कहलाते हैं। कीटनाशक, कवकनाशक और सूत्रकृमि नाशक का प्रयोग करके रोग वाहकों की जनसंख्या को कम किया जा सकता है।

नयी कीट नियन्त्रण विधि में, जिसमें कीट नाशक उपचार का कम प्रयोग करते हैं, पॉलीथीन का उपयोग भी है। जैसे कुछ एफिड्स पीले और हरे रंग की ओर आकर्षित होते है विभिन्न विषाणु वाहक एफिड को पीले पॉली-थीन चद्दर, जिस पर चिपचिपा पदार्थ लगा होता है, द्वारा एफिड को फैलाते हैं। अब विषाणु अवरोधक जाल भी उपलब्ध हैं जो विभिन्न प्रकार के छिद्र वाले होते हैं जिसका उपयोग कीट वाहकों के नियंत्रण के लिए किया जाता है। अन्य तरीकों में मृदा छाजन के द्वारा वाहकों का नियन्त्रण किया जाता है। तेल का छिड़काव रोगवाहक नियन्त्रण की एक लाभदायक विधि है। इसे शल्ककन्द आभूषक फसलों में कीट रोग वाहक द्वारा फैलने वाले विषाणुओं के नियन्त्रण के लिए सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया है।

6. विषाणु प्रतिरोधन जीन, जैव प्रौद्योगिकी का उपयोग और प्रतिरोधक किस्मों का प्रजनन

प्रजनन कार्यक्रम का उद्देश्य पौधों में अधिक से अधिक प्रतिरोधकता पैदा करना है। प्रायोगिक दृष्टिकोण से संक्रमण और अधिक सचेतकता का प्रबन्ध फसल में रोगों के प्रतिरोध के लिए करते हैं।

अधिक सचेतकता प्रायः अकेले जीन द्वारा नियन्त्रित होती है, जबकि प्रतिरोधकता एक या अधिक जीन से नियन्त्रित की जा सकती है। सामान्य रूप से ये सब जीन विषाणु के नस्ल के विरुद्ध प्रभावी हैं।

पौध विषाणुओं के प्रतिरोधक जीन, जो प्राकृतिक रूप से पाये जाते हैं, के उपयोग से पादप प्रजनन नयी उन्नतशील किस्मों का विकास करके लाभ उठा सकते हैं। विषाणु रोग के विरुद्ध पादप प्रजनन का सफलतापूर्वक प्रयोग प्रतिरोधक सफल किस्म के विकास पर किया गया प्रोटोप्लास्ट प्रवर्धन भी विषाणु प्रतिरोधक के विकास में सहायता कर सकता है।

7. ट्रान्सजेनिक पौधे का विकास

एक और उपाय है आनुवंशिक अभियांत्रिकी द्वारा विषाणु प्रतिरोधक पौधे का विकास करना। भविष्य में इसका उपयोग प्राकृतिक रूप से पायी जाने वाली पौधजीनों को दो भागों में बाँट सकते हैं—विषाणु प्रतिरोधक जीन और परपोषी रक्षक जीन। पहले प्रकार के जीन द्वारा संक्रमक को समाप्त करते हैं और दूसरे प्रकार के जीन द्वारा पौधे में रोग के प्रति सुग्राह्यता का विकास करते हैं। इस श्रेणी में कुछ पैथोजेनेसिस प्रोटीन्स जीन का उत्पादन हो सकता है।

विषाणु कीट प्रोटीन जीन का उपयोग करके विषाणु प्रतिरोधक पौधा सर्वप्रथम पावेल-एवेल और साथियों (1986) द्वारा उत्पन्न किया गया। टोबेको मोजेक विषाणु के नान-स्ट्रक्चरल कोडिंग क्षेत्र से विषाणु प्रति-रोधक पौधे का विकास किया। सैटेलाइट आर० एन० ए० द्वारा भी विषाणु प्रतिरोधक पौधे उत्पन्न किए गए। विषाणु गुणन के नियन्त्रण के लिए राइबोजाइम लाभकारी हो सकता है। यथाक्रम प्लान्ट न्यूक्लियर जीन्स इनकोडिंग रजिस्टेन्स का उपयोग विषाणु रोग नियन्त्रण के लिए साथ ही आनुवंशिक अभियांत्रिकी की सहायता के लिए हो

सकता है। विषाणु प्रतिरोधक किस्मों के विकास का कार्य अनुवंशिक अभियांत्रिकी तथा पारम्परिक पादप प्रजनन के द्वारा हो रहा है।

8. संगरोध प्रबन्ध

वास्तव में विषाणु संगरोध उन क्षेत्रों में प्रवेश को रोकने में उत्तरदायी है जहाँ पर वे विषाणु नहीं पाये जाते हैं। जनन द्रव्य के अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन की अवस्था में रोग नियंत्रण हर तकनीकी का उपयोग करके किया जा सकता है। कुछ खाद्य फसलें एजेन्सियों द्वारा प्रस्तावित व विस्तारित होती हैं, वे एजेन्सियाँ जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ का कृषि तथा खाद्य संगठन और पादप आनुवंशिक स्रोत के लिए अन्तर्राष्ट्रीय परिषद। केला, नीबू वर्गीय पौधे, अंगूर की बेल, दलहनी फसलें, शकरकन्दी के लिए प्रकाशित मार्ग दर्शन उपलब्ध हैं। उस स्थिति में जहाँ मार्ग दर्शन नहीं हैं, प्रवेश की आज्ञा के लिए उपलब्ध अधिकतम संभावित आँकड़े एकत्र कर लेना चाहिए। इनविट्रो कल्चर में विषाणु प्रशिक्षण का उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन के लिए उपयुक्त जननद्रव्य के चुनने में हो रहा है।

निष्कर्ष

पादप विषाणु रोग फसलों के उत्पादन और गुण दोनों को प्रभावित कर सकता है। परिणामस्वरूप फसल का उत्पादन कम हो जाता है। विषाणु रोगों के नियन्त्रण के लिए विभिन्न पर्यावरणहितैषी उपायों का प्रयोग हो सकता है जैसे विषाणु मुक्त बीज और विषाणु प्रतिरोधक पौधे, रोगवाहक कीटों एवं खर-पतवारों का परित्याग और नियंत्रण है।

नये उपायों में निदान सूचक विधियों में आधुनिकता जैसे-डाट एलिजा, नई एन्टी बॉडीज की तैयारी, इम्यनोब्लॉटिंग और इम्यूनों इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शी, कृत्रिम पेप्पटाइड, एन्टी-बाडी रियेजेन्ट और न्युक्लिक अम्ल संकरण परीक्षण का उत्पादन और प्रयोग है।

संभवत: विषाणु जैव तकनीकी, विषाणु आणविक जीवशास्त्र, सेरोलॉजी और न्यूक्लिक अम्ल संकरण तकनीकी के द्वारा विषाणु निदान और विषाणु प्रतिरोधक पौधों का विकास ही विषाणु रोगों के प्रबंध में अन्ततः लाभदायक सिद्ध होगा।

कृतज्ञता-ज्ञापन

लेखक द्वय प्रोफेसर अक्षय कुमार गुप्ता, निदेशक एवं डॉ० देवाशीष मुखर्जी, पुष्प विज्ञान विभागाध्यक्ष, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद संकुल पालमपुर, के आभारी हैं जिनके सहयोग तथा उत्साहवर्धन के फलस्वरूप यह प्रपत्र तैयार हो सका और आवश्यक सुविधाओं का हम भोग कर सके। डॉ० राकेश देव शरण सिंह के अमूल्य सुझावों के लिए और श्री राज कुमार रकवाल, जिन्होंने इस प्रपत्र को टंकण करने में विशेष रुचि से सहयोग दिया, इन सबके प्रति हम आभार व्यक्त करते हैं।

संदर्भ

1. बीची, आर० एन० पावेल, पी० औलिवर, एम० जे० डी०, बी०, फ्रेले० आर० टी०, रोगर्स एस० जी० तथा हासर्च, आर० बी० (1985) इन बायोटेक्नॉलोजी इन प्लांट साइंस (एम० जैटलिन, पी० डे तथा एहालेन्डेव इडीएस) पृष्ठ संख्या 265-275, अकादमिक प्रेस ऑरलेन्डो, फ्लोरिडा।
2. पावेल-एबेल पी०, नेलसन आर० एस० डी० बी०, हाफमैन एन०, रोगर्स एस० जी०, फ्रले आर० टी० तथा बीची आर० एन० (1986) साइंस 232:738-743। ■■

सूक्ष्ममात्रिक तत्वों का महत्व

डॉ० शिवगोपाल मिश्र[1] तथा डॉ० दिनेश मणि[2]

यह सर्व विदित है कि नाइट्रोजन, फॉस्फोरस तथा पोटेशियम-ये तीन तत्व पौधों की उचित वृद्धि एवं विकास के लिये परमावश्यक हैं किन्तु इन बहुमात्रिक तत्वों के अतिरिक्त कैल्सियम, मैगनीशियम तथा सल्फर को भी सफलों से अच्छी उपज प्राप्त करने हेतु प्रयोग करने की संस्तुति की जाती है। वैसे सल्फर तो अब बहुमात्रिक तत्वों की ही श्रेणी में आ गया है। इन 6 तत्वों के अतिरिक्त 7 तत्व ऐसे हैं जिनकी पौधों को अल्प मात्रा में ही आवश्यकता होती है परन्तु इनके अभाव में पौधे समुचित वृद्धि नहीं कर पाते। इन तत्वों को 'सूक्ष्ममात्रिक तत्व' या 'लेश तत्व', 'सूक्ष्म पोषक तत्व' नामों से जाना जाता है। यह हैं—ताम्र (कॉपर), जस्ता (जिंक), मैगनीज, लौह (आयरन), बोरॉन, मोलिब्डिनम तथा क्लोरीन।

सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की यह संख्या परिवर्तनशील हो सकती है। आर्नन (1951) के अनुसार आवर्त सारणी का प्रत्येक तत्व, विशेषरूप से वह जो पौधों के ऊतकों में पाया जाता है, भविष्य में अनिवार्य सिद्ध हो सकता है। कुछ दलहनी फसलों के लिये कोबाल्ट तथा कुछ विशेष पौधों के लिये सोडियम भी आवश्यक पाये गये है। इसी प्रकार आयोडीन, सेलीनियम, निकेल तथा क्रोमियम किसी न किसी रूप में उद्दीपक हैं। ऐसे तत्व जो अभी तक पौधों तथा पशुओं के लिये अनिवार्य सिद्ध नहीं हो पाये हैं उन्हें अतिरिक्त तत्व (एडीशनल एलीमेन्ट्स) कहा जाता है। भविष्य में ये भी अनिवार्य तत्वों की श्रेणी में आ सकते हैं।

अनिवार्यता सूक्ष्ममात्रिक तत्वों का एक आवश्यक लक्षण है, परन्तु यदि उनसे केवल पौधों की वृद्धि हो तो यह अनिवार्यता का प्रकाण नहीं होगा। अनेक तत्व ऐसे हैं जिनमे पौधों की वृद्धि होती है किन्तु वे अनिवार्य नहीं हैं। इसी प्रकार सजीव प्राणी में किसी तत्व का संग्रह या उपस्थिति भी उसकी अनिवार्यता का सूचक नहीं। यंग (1935) नामक वैज्ञानिक ने 35 तत्वों का लाभदायक प्रभाव पौधों की वृद्धि पर देखा किन्तु इनमें से कुछ ही अनिवार्य थे, शेष नहीं। नीचे सारणी-1 व 2 में सूक्ष्म मात्रिक तत्वों की अनिवार्यता की खोज का विवरण दिया गया है—

सारणी-1

पौधों में सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की अनिवार्यता की खोज

	तत्व	अन्वेषक, वर्ष सहित		जिसमें अनिवार्यता देखी गई
1.	Mn	जी० बर्ट्रेण्ड	1897	लैकेस एंजाइम
			1905	ओट
		कटायामन	1906	जौ
		नजारी	1910	गेहूँ
2.	Zn	माजे	1914	मक्का
		चांडलर तथा होगलैंड	1932	फल वृक्ष

1. अवकाशप्राप्त निदेशक, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-2
2. संयुक्त मंत्री, विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-2

3.	B	नाकामुरा	1903	पालक
		अगुलहन	1910	गेहूँ, ओट, मूली
		माजे	1914	सभी पौधे
		कु० वारिंटन	1923	चौड़ी सेम
4.	Cu	सोमर	1931	सुरजमुखी, फ्लैक्स, टमाटर
5.	Mo	आर्नन तथा स्ट्राउट	1939	टमाटर
6.	Al	स्टाइनवर्ग	1941	लीमा
		माजे	1919	मक्का
		स्टाकलासा	1922	ओट, गेहूँ, जौ
		सोमर	1926	मटर तथा मिलेट
7.	Cl	नाबे तथा सीगर्ट	1962	कुटू
		माजे	1919	मक्का
		लिपमान	1938	कुटू, मक्का
		ब्रोयर	1954	
8.	Si	माजे	1919	मक्का
		सोमर	1926	धान
		लिपमान	1938	सूरजमुखी, जौ

सारणी-2

निम्न कोटिक पादपों अथवा कवक, शैवाल आदि में सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की अनिवार्यता की खोज

तत्व	अन्वेषक, वर्ष सहित		जिसमें अनिवार्यता पाई गई
1. Zn	राउलिन	1869	ऐ० नाइजर
	स्टाइनबर्ग	1919	ऐ० नाइजर
2. Mn	बर्ट्रेण्ड तथा जैविलियर	1911	
	स्टाइनबर्ग	1935	ऐ० नाइजर
	ह्वापकिंस	1930	क्लोरेला, ऐ० नाइजर
3. Cu	बोट्रेण्ड	1927	
	मीगेल	1955	क्लोरेला
	बाकर	1953, 1954	क्लोरेला
4. B	डेविस इत्यादि	1928	डोथायोरला

5. Mo	स्टाइनबर्ग	1937	ऐ० नाइजर
	आर्नन इत्यादि	1955	शैवाल
	बोर्टेल्स	1940	नील हरित शैवाल
		1930	ऐजोटोबैक्टर
6. Ga	स्टाइनबर्ग	1938	ऐ० नाइजर
7. W	लाकवुड	1923	पेनिसीलियम व जैवेनिकम
8. V	आर्नन तथा वेसेल	1953	शैवाल
9 Si	लेविन	1954, 1955	डायटम
10, Co	होल्महैंसेन इत्यादि	1954	नीलहरित शैवाल
11. Na	क्रैंट्ज तथा मायर्स	1954	नीलहरित शैवाल

यह ज्ञात हो जाने पर कि इनकी पूर्ति मिट्टी से होती है और सूक्ष्ममात्रिक तत्वों का एकमात्र स्रोत मिट्टी है, फसलों तथा पशुओं के आहार पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा तथा इस दिशा में अन्य शोधों का विस्तार हुआ। लेकिन यह कैसी आश्चर्यजनक बात है कि किसी भी सूक्ष्ममात्रिक तत्व की खोज मिट्टी के उपचार से सम्भव नहीं हो पायी। अनिवार्यता के सारे प्रमाण कृत्रिम पोषण विलयनों के प्रयोग से प्राप्त किये जा सके। इसीलिये आज भी कृत्रिम संवर्ध प्रविधि का महत्व है।

सारणी-3

मिट्टियों में सूक्ष्ममात्रिक तत्वों का परास
(अंश/दशलक्षांश शुष्क मिट्टी)

तत्व	सामान्य परास	अति परास
Cu	2/100	1-14,000
Zn	10-300	6-30,000
Mn	200-300	1-70,200
Mo	0.2-5.0	0.1-224
B	2-100	0.2-1000
Ni	5-500	0.5-6,200
Co	1-40	0.001-1000
Cr	5.4-1000	0.001-35,800
V	20-500	1-1000
Se	0.1-2.0	0.02-225
I	0.6-8.0	0.-
Pb	2-200	0.1-10,000
As	1-50	0.1-1-1,000

पौधों में सूक्ष्ममात्रिक तत्वों की अनिवार्यता सिद्ध करने के लिये आर्नेन तथा स्टाउट ने 3 मापदण्ड निर्धारित किये। कोई भी तत्व तब तक अनिवार्य नहीं माना जायेगा जब तक—

1—ऐसे तत्व की न्यूनता के करण पौधों को अपना जीवन-चक्र पूरा करना सम्भव नहीं हो पाता ,

2—यह न्यूनता विचाराधीन तत्व को प्रदान करके की जा सकती है, तथा

3—ऐसा तत्व पादप पोषण में प्रत्यक्ष भाग होता है।

सारणी-4

भारतीय मिट्टियों में सूक्ष्मात्रिक तत्व

तत्व	भारतीय मिट्टियाँ		विश्व की मिट्टियाँ
			अंश/दशलक्षांश
Fe	0.46-2.75%		10,000-100,000
Mn	300-6 16 अंश/दशलक्षांश		200-5000
Cu	1-100	,,	10-80
Zn	10-300	,,	10-300
Mo	0.-5.0	,,	0.2-10
B	7-630	,,	7-80

प्रत्येक सूक्ष्ममात्रिक तत्व प्राणियों की इन्जाइम प्रणाली में विशिष्ट कार्य करता है, तभी तो अल्पमात्रा में ग्रहीत होकर भी आश्चर्यजनक परिणाम देता है। अभीष्ट मात्रा में ग्रहण न होने पर पौधे नाना प्रकार के न्यूनता -रोगों के शिकार होने लगते हैं। इन रोगों को दूर करने का एकमात्र उपाय है या तो पौधों की पत्तियों पर उसी सूक्ष्म-तत्व का छिड़काव या फिर मिट्टी में उसका प्रयोग। दोनों ही विधियों के प्रयोग से समान लाभ होता है।

आजकल सघन कृषि पद्धति अपनायी जा रही है और अधिक उपज देने वाली फसलें उगायी जा रही हैं फलस्वरूप मिट्टी में से सामान्य स्तर से अधिक सूक्ष्ममात्रिक तत्वों का दोहन होता है। इससे कुछ ही वर्ष बाद उपजाऊ मिट्टियों की न्यूनता प्रदर्शित करने लगती हैं। और तब एक ही उपाय बचता है सूक्ष्ममात्रिक उर्वरकों का प्रयोग। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दिन-ब-दिन इन उर्वरकों का प्रयोग बढ़ता जायेगा। अतएव इस सच्चाई से इंकार नहीं किया जा सकता कि आज सूक्ष्मात्रिक तत्व व्यापारिक महत्व की सामग्री बन चुके हैं।

■ ■

वनोन्मूलन एवं वन संसाधन संरक्षण

डॉ॰ डी॰ डी॰ ओझा एवं पी॰ एस॰ चौहान

वन किसी भी देश की अमूल्य संपदा एवं पर्यावरण का एक प्रमुख अंग हैं। वनों से न केवल उपयोगी वस्तुएं जैसे इमारती लकड़ी, ईंधन की लकड़ी, रबड़, सेल्यूलोज, कत्था, लाख, गोंद, उपयोगी जड़ी-बूटियाँ आदि प्राप्त होती हैं बरन् इनसे जलवायु संतुलित रहती है, वन्यजीव संरक्षित रहते हैं तथा मृदा का कटाव नहीं होता है। अनुकूल परिस्थितियाँ मिलने पर वन स्वतः पल्लवित होते रहते हैं तथा यदि उनकी सीमित कटाई भी की जाय तो वह हानिकारक नहीं होती। परन्तु जनसंख्या में वृद्धि, लकड़ी की बढ़ती जरूरत तथा व्यावसायिक और व्यापारिक उद्देश्यों से जब वनों की कटाई प्रारम्भ हुई तो वनों का क्षेत्र निरन्तर कम होने लगा। वनोन्मूलन पर्यावरण को असंतुलित करने का प्रमुख कारण है।

एक समय था जब पृथ्वी वनाच्छादित थी। यह आदिम अवस्था की कहानी है जब मानव स्वयं वनों में घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करता था तथा वनों से ही भोजन, आवास एवं तन ढकने की आवश्यकताओं को पूर्ण करता था। उसके पश्चात पशुचारण प्रारम्भ हुआ तथा फिर वह कृषि की ओर अग्रसर हुआ। कृषि के विकास के साथ ही वनोन्मूलन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई, क्योंकि वनों को साफ करके ही कृषि भूमि प्राप्त की गई थी। प्रारम्भ में इसमें साम्यवस्था थी अर्थात् कृषि-विस्तार सीमित था और वन भी पर्याप्त थे। शहरीकरण एवं विकास की अंधी दौड़ से बीसवीं शताब्दी के अंत तक यह ऐसी भयावह स्थिति में पहुँच गई की सम्पूर्ण विश्व आज वनोन्मूलन की समस्या एवं उसके पर्यावरण पर दुष्प्रभाव से त्रस्त हैं। हमारे देश में कुल भू-भाग 3146 मिलियन हेक्टेयर है, जिसमें केवल वन भूमि लगभग 20.4% है। इसमें भी स्वस्थ वन तो मात्र 10 ही हैं। सही प्राकृतिक संतुलन हेतु किसी भी देश में 33% वन होने अनिवार्य हैं। मरुस्थलीय प्रदेश में तो यह स्थिति और भी चिन्ताजनक है। यहाँ केवल 9% भू-भाग वन क्षेत्र है तथा उसमें भी एक तिहाई भाग में ही अच्छे वन हैं। बढ़ती हुई जनसंख्या की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के कारण इन वनों पर दबाव बढ़ता ही जा रहा है।

वनोन्मूलन के कारण

वनोन्मूलन मानव की विकास यात्रा का परिणाम है, यद्यपि यदा-कदा प्राकृतिक कारण या वनाग्नि भी इन्हें नष्ट करती है। किन्तु यह इतनी हानिकारक नहीं, जितना मानव द्वारा विनाश। वनों के विनाश के प्रमुख कारण निम्नांकित हैं।

(अ) कृषि हेतु

निसंदेह विश्व में आज हमें जो कृषि क्षेत्र दृष्टिगत होता है उसमें से अधिकांश वनों को साफ कर प्राप्त किया गया है। यह आवश्यक भी था क्योंकि भोजन मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता है। किन्तु जब जनसंख्या में तीव्रतम

ब्रम्हपुरी, हजारी चबूतरा, जोधपुर, (राजस्थान)

वृद्धि हो रही हैं तो वनोन्मूलन आज एक समस्या बन गया है। हम यह नहीं कह रहे हैं कि कृषि नहीं होनी चाहिए किन्तु इसके लिये वनों को समाप्त किया जायेगा तो कृषि पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। अफ्रीका, एशिया एवं दक्षिणी अमेरिका में आज भी स्थानान्तरित कृषि की जाती है। इस कृषि में एक क्षेत्र के वनों को जलाया जाता है, तत्पश्चात् कृषि भूमि प्राप्त की जाती है तथा कुछ वर्षों तक वहाँ कृषि कर अन्य स्थानों पर पुनः यही क्रिया दोहरायी जाती है। एक अनुमान के अनुसार हमारे देश में कृषि कार्य हेतु वर्ष 1951-52 तथा 1987-88 के मध्य 29.7 लाख हेक्टेयर भूमि से वन उन्मूलित किये गए।

निर्माण कार्यों द्वारा वनोन्मूलन

जनसंख्या वृद्धि, नगरों का फैलाव, आवासीय भूमि की आवश्यकता में वृद्धि, उद्योगों, रेल-लाइनों, सड़कों का विस्तार तथा नदियों पर बड़े बांधों का निर्माण भी वनोन्मूलन का प्रमुख कारण है, क्योंकि अधिक क्षेत्र की आवश्यकता वनों को साफ करके ही पूरी की जा सकती है। हमारे देश में वर्ष 1951-52 से 1985-86 के मध्य नदी घाटी योजनाओं के अंतर्गत 5.84 लाख हेक्टेयर, सड़क निर्माण में 73,000 हेक्टेयर, उद्योगों में 14.6 लाख हेक्टेयर तथा अन्य विविध कार्यों के लिए 98.3 लाख हेक्टेयर भूमि से वनों को काटा गया है। बाद के वर्षों में भी इससे अधिक वनों का विनाश हुआ है।

(इ) काष्ठ, ईंधन एवं अन्य उपयोग हेतु वनोन्मूलन

वनों से प्राप्त लकड़ी के विभिन्न उपयोग करना मानवीय प्रवृत्ति है तथा सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह प्रवृत्ति कम होने के स्थान पर अधिक से अधिकतम होती जा रही है। विकासशील देशों में ईंधन के रूप में लकड़ी का उपयोग आज भी होता है और यह वनोन्मूलन का प्रमुख कारण है। इसी प्रकार लकड़ी का उपयोग भवन निर्माण, फर्नीचर, जहाज, रेल के डिब्बे, रेल के लाइनों के स्लीपर, कागज एवं सेल्यूलोज आदि के निर्माण के लिये किया जाता है। इनके लिये विशाल मात्रा में व्यापारिक वन कटाई होती है। अनेक उद्योगों यथा-दियासलाई, धागे, रबड़, पेन्ट, वार्निश, रेजिन, कत्था, प्लाईवुड, लाख इत्यादि के लिये भी वनों को काटा जाता है। अनुमानतः विश्व में लकड़ी उत्पादों से प्रतिवर्ष 216 अरब रुपयों की आय होती है जो कि वनोन्मूलन की ही देन है।

(ई) खनिज खनन हेतु वनोन्मूलन

खनिजों के लिये भूमि की विस्तृत खुदाई की जाती है जिसके फलस्वरूप उन क्षेत्रों में वनों का समाप्त होना निश्चित हो जाता है। विश्व के अधिकांश देशों में जहाँ व्यापारिक खनन होता है, वनीय क्षेत्र कम हो गये हैं। हमारे देश में उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, बिहार तथा मध्यप्रदेश के खनिज क्षेत्र इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त पशु-चारण द्वारा एवं औद्योगिक कच्चे माल हेतु भी वन विनाश होता है। भू-स्खलन, हिम-स्खलन, वनों में लगने वाली आग भी इनके विनाश का कारण होती है। इसके अतिरिक्त सरकारी नीतियों की उपेक्षा तथा जनसाधारण में वन संरक्षण चेतना का अभाव भी वनोन्मूलन के संभाव्य कारण हैं।

वनोन्मूलन मात्र वृक्षों का समाप्त होना ही नहीं अपितु इसका बहुआयामी प्रभाव होता है। इसका सर्वा-

धिक प्रभाव जलवायु परिवर्तन अर्थात् तापमान में वृद्धि तथा वर्षा में कमी होना है। इसके अतिरिक्त भू-क्षरण में वृद्धि, भूमि की उर्वरता में कमी, बाढ़ के प्रकोप में वृद्धि आदि के साथ-साथ पर्यावरण-प्रदूषण में वृद्धि होती है। हमारे देश में प्रांत वार वन क्षेत्र का प्रतिशत सारणी संख्या—1 में दर्शाया गया है।

सारणी-1

देश में प्रांत वार वन क्षेत्र का प्रतिशत

राज्य	वन क्षेत्र का प्रतिशत	राज्य	वन क्षेत्र का प्रतिशत
आंध्र प्रदेश	33.53	मणिपुर	26.92
असम	36.38	हिमाचल प्रदेश	38.78
बिहार	17.60	जम्मू-काश्मीर	9.47
गुजरात	9.18	कर्नाटक	18 30
हरियाणा	3.30	केरल	32.66
महाराष्ट्र	21.76	मध्यप्रदेश	37.97
मेघालय	31.50	तमिलनाडु	16.99
नागालैण्ड	17.54	उत्तर प्रदेश	16.55
उड़ीसा	43.43	पश्चिम बंगाल	13.47
पंजाब	4.01	अरुणाचल प्रदेश	61.67
		त्रिपुरा	60.11
राजस्थान	9.09	मिजोरम	58.88

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट होता है कि कतिपय राज्यों यथा हरियाणा तथा पंजाब के वनों का प्रतिशत अत्याधिक न्यून है। गुजरात, राजस्थान तथा जम्बू कश्मीर में भी दयनीय स्थिति है। उड़ीसा, हिमाचल प्रदेश, असम, आंध्रप्रदेश, केरल, मध्यप्रदेश, अरुणाचल प्रदेश, त्रिपुरा तथा मिजोरम आदि ऐसे प्रदेश है जहाँ वांछित वनाच्छादन है। वर्तमान में वनोन्मूलन की प्रवृत्ति में निरंतर वृद्धि, देश के पर्यावरण के लिये, अधिक खतरा है। इसकी न केवल सुरक्षा एवं संरक्षण की आवश्यकता है अपितु वनों के क्षेत्र में वृद्धि भी समय की आवश्यकता है।

वन संरक्षण के उपाय

वन संरक्षण आज विश्व की बढ़ती हुई मांग है। इसके लिये नियोजित प्रयास न केवल सरकारी स्तर पर अपितु सामाजिक तथा व्यक्तिगत स्तर पर भी करने होंगे। वन संरक्षण के उपाय निम्नांकित हैं।

1. नियंत्रित एवं उचित विधि से कटाई

वनोन्मूलन का एक प्रमुख कारण विभिन्न उपयोगों हेतु लकड़ी की कटाई है। सम्पूर्ण विश्व में प्रतिवर्ष लगभग 1600 मिलियन घन मीटर लकड़ी का उपयोग विविध कार्यों में किया जाता है। अतः वन संरक्षण हेतु प्राथमिक उपाय नियंत्रित एवं उचित विधि से कटाई करना है, जिससे उनका अनवरत उपयोग संभव हो सके। सामान्यतया लकड़ी की कटाई की तीन विधियों का प्रयोग उचित प्रबंधन हेतु किया जाता है।

1. निर्वृक्षीकरण (Clear cutting)
2. वरणात्मक कटाई (Selective cutting)
3. परिरक्षित कटाई (Shelter wood cutting)

निर्वृक्षीकरण उन क्षेत्रों में किया जाता है जहाँ एक ही प्रकार की लकड़ी का बिस्तृत क्षेत्र में विस्तार होता है। एक समान आयु के वृक्षों को व्यावसायिक दृष्टि से एक खंड विशेष में काट लिया जाता है, तत्पश्चात उन्हें पुनः पुनः अंकुरित होने को छोड़ दिया जाता है। वरणात्मक कटाई में परिपक्व वृक्षों का चयन कर उन्हें क्रमानुसार काटा जाता है अर्थात इन वनों में सदैव वृक्ष रहते है तथा क्रमिक रूप से चयनित वृक्ष समूहों का उपयोग किया जाता है। जबकि परिरक्षित कटाई में निकृष्ट गुणवत्ता वाले वृक्षों को पहले काटा जाता है, जिससे उत्तम काष्ठ प्रदान करने वाले वृक्षों की वृद्धि हो सके। इसके पश्चात द्वितीय श्रेणी के तथा अंत में उत्तम श्रेणी के वृक्षों को काटा जाता है।

नियंत्रित तथा नियोजित कटाई से क्षेत्र वन रहित नहीं होते है तथा आवश्यकतानुरूप उनका उपयोग भी होता रहता है। यह वन संरक्षण का प्रभावी कदम है।

2. आग से वनों का बचाव

वनों में यदा-कदा लगने वाली आग भी कभी-कभी अत्यधिक विनाशकारी रूप ग्रहण कर लेती है, जिससे सैकड़ों वर्ग कि० मी० का क्षेत्र वृक्ष रहित हो जाता है। गर्म, शुष्क एवं हवा युक्त मौसम में अनेक वृक्षों की शाखायें या बांस जैसे वृक्ष आपस में घर्षण से आग का कारण बन जाते हैं। साथ ही मानव की लपरवाही यथा-वन में केम्प फायर के पश्चात जलती लकड़ी छोड़ना, जलती तीली, सिगरेट व बीड़ी को फेंकना भी आग लगने के कारण बन जाते हैं। अतः वन क्षेत्र में जलती हुई वस्तु नहीं छोड़नी चाहिए एवं आग पर नियंत्रण करने वाले दस्तों की व्यवस्था करनी चाहिए। वनों की आग को हैलिकॉप्टर से किये गये छिड़काव की सहायता से ही बुझाया जा सकता है। अतः आग की तुरन्त सूचना देना व बुझाने की अत्यल्प समय में व्यवस्था करना भी वन संरक्षण के लिये आवश्यक है।

कृषि एवं आवास हेतु वन विनाश पर रोक

आज हम ऐसे सोपान पर पहुँच गये हैं कि अब इस प्रवृत्ति पर रोक लगाना आवश्यक है। अनेक बार नये नगरों के विकास से विशाल क्षेत्र में वनों का विनाश हो जाता है। इस प्रक्रिया को रोकना चाहिए तथा प्राकृतिक संपदा का संरक्षण करना चाहिए। स्थानांतरण कृषि को नियंत्रित एवं संभव हो तो समाप्त किया जाना चाहिए।

4. वन रक्षण

वन संरक्षण हेतु वन रक्षण करना भी आवश्यक है क्योंकि अनेक बार पर्यावरणीय कारकों से वनों का विनाश हो जाता है। इसमें बाढ़, चक्रवातीय तीव्र हवा, आँधियां, सूखा आदि से भी वनों को हानि होती है। अनियंत्रित पशुचारण भी वनों का विनाश करता है। राजस्थान में पारिस्थितिकी में असंतुलन का ये भी एक कारण है। अतः पशुचारण का क्षेत्र निर्धारित करना चाहिए तथा समयानुसार इसे बदलना भी चाहिए। इसके अतिरिक्त अनेक पादप रोग भी वृक्षों को हो जाते हैं अतः इनसे रक्षा करनी चाहिए।

5. जलमग्न क्षेत्रों से वनों का बचाव

ऐसा प्रेक्षित किया गया है कि विश्व में जहाँ कहीं भी नदियों पर बांध बनाये जाते हैं, उसके अंतर्गत विशाल क्षेत्र के वन जलमग्न हो जाते हैं। हमारे देश में भी भाखरा नांगल, गांधी सागर, तुंगभद्रा, नागार्जुन सागर, दामोदर, हीराकुंड, तथा रिहंद आदि के हजारों वर्ग कि० मी० वन क्षेत्र जलमग्न हो गया है। टिहरी एवं साइलेन्ट वैली प्रोजेक्ट के विरोध का एक प्रमुख कारण वनों की विनाश भी है। अतः बांध स्थलों का चयन बड़े ही विवेक से किया जाय जिससे कम से कम वन जल मग्नहों।

6. पर्यटन स्थलों के रूप में वन विकास

वन संरक्षण का एक सफल उपाय इनका पर्यटन स्थलों के रूप में विकास करना भी है। वन प्राकृतिक सुरम्यता से युक्त होते हैं जो सहज में ही पर्यटकों को आकर्षित करते हैं। इनसे वन संरक्षण एव विदेशी मुद्रा भी अर्जित की जा सकती है। हमारे देश में अब तक 20 राष्ट्रीय उद्यान एवं राज्य स्तर पर अभयारण्य विकसित किये जा चुके हैं, जिनसे दोहरे लाभ प्राप्त हो रहे हैं।

7. पुनर्वृक्षारोपण (पुनः वन लगाना)

वृक्षारोपण भी वन संरक्षण का प्रभावी कदम है। इसे नियमित किया जाना चाहिए। क्योंकि वनोन्मूलन तथा वृक्षारोपण यदि साथ होंगे तो समस्या नहीं होगी। हमारे देश में वृक्षारोपण को राष्ट्रीय कार्यक्रम के रूप में अपनाया जा रहा है। इसमें जन सहयोग एवं चेतना की बहुत आवश्यकता है।

8. वन संरक्षण में प्रशासनिक भूमिका

सरकारी नियमों तथा स्थानीय प्रशासन द्वारा वन संरक्षण सहज रूप में होता है। आज आवश्यकता है उन स्वार्थी तत्वों का रोकने की जो वन संरक्षण के नियमों का उलंघन करते हैं। राजस्थान में कई स्वयंसेवी संस्थान भी वन संरक्षण का महत्वपूर्ण कार्य कर रही है। सरकार की भी वन विकास की कई परियोजनाएँ चल रही हैं।

9. श्रव्य-दृश्य, कार्यशाला, लेखग आदि कार्यक्रमों का आयोजन

वन संरक्षण की महत्ता को आम जनता को बताने हेतु श्रव्य-दृश्य सुविधाओं द्वारा, नुक्कड़ सभाओं तथा कार्यशीलायें आयोजित करके भी आम जनता को वृक्ष काटने हेतु प्रतिबंधित किया जा सकता है। राष्ट्रीय स्तर पर

वन संरक्षण, वन एवं पारिस्थितिकी विकास आदि विषयों पर प्रतियोगितायें आयोजित कर बच्चों एवं वयस्कों में भी वन संरक्षण के प्रति चेतना जगाई जा सकती हैं तथा इसका अवबोध कराया जा सकता है।

10. सामाजिक एवं स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा वन संरक्षण

जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करेगा कि वन उसके तथा भविष्य की पीढ़ियों के लिए आवश्यक है तो संरक्षण स्वतः ही होने लगेगा। हमारी संस्कृति भी वन संरक्षण की शिक्षा देती है। हमारे देश में बिश्नोई समाज तथा चिपको आंदोलन इसके लिए ज्वलंत उदाहरण हैं। सामाजिक तथा शहरीय वानिकी कार्यक्रम भी कुछ प्रदेशों में सफल हो रहे हैं।

11. वन प्रबंधन

वन संरक्षण हेतु वन प्रबंधन का अत्यधिक महत्व है। आज के युग में प्रत्येक तथ्य का सुनोयोजित उपयोग एवं नियोजन उचित प्रबंधन द्वारा ही संभव है। वन प्रबंधन के अंतर्गत अनेक विचारणीय तथ्य होते हैं। यथा

1. वन सर्वेक्षण
2. वन वर्गीकरण
3. वनों का आर्थिक उपयोग
4. वनों की प्रशासनीक व्यवस्था
5. वन उपयोगिता अवबोध कार्यक्रम
6. वन संरक्षण हेतु नवीन विधियों का विकास
7. वानिकी अनुसंधान
8. भविष्य की वानिकी योजना तैयार करना एवं उनका क्रियान्वयन एवं
9. पर्यटन हेतु वन विकास

अतः यह निर्विवाद सत्य है कि वन संरक्षण वर्तमान युग की प्राथमिक आवश्यकता है, क्योंकि इसका संबंध वर्तमान तथा भविष्य से है। वन संरक्षण पर्यावरण संरक्षण का अभिन्न अंग है। संपूर्ण विश्व वनोन्मूलन की समस्या के प्रति सचेत है तथा अनेक देशों ने इस संबंध में कठोर नियम भी बनाये हैं। अतः जन चेतना से इसे जोड़कर लाभ उठाया जा सकता है। हम सभी का एक ही नारा हो—**"जब पृथ्वी होगी वनमय तो जीवन होगा अमृतमय"**।

■ ■

थामस एल्वा एडिसन

डॉ० रमेश चन्द्र कपूर

यदि यह प्रश्न किया जाय कि किस मानव ने हमारे दैनिक जीवन को सुखद बनाने में सर्वाधिक योगदान दिया है तो बहुतों के मन में थामस एल्वा एडिसन का नाम आएगा। एडिसन का जन्म अमेरिका के ओहायो राज्य स्थित मिलान नगर में 11 फरवरी 1847 को हुआ था। बचपन में उसे सब 'टाम' या 'एल' नामों से ही पुकारते थे। सात वर्ष की आयु में टाम ने स्कूल जाना आरम्भ किया, परन्तु तीन माह के बाद ही उसने स्कूल त्याग दिया। कारण यह था कि शिक्षक उसे बुद्धू समझता था। वस्तुतः प्रारम्भ में टाम की माँ ही उसकी शिक्षक रहीं। उसकी स्मरण शक्ति अति तीव्र थी और उसका मन पुस्तकें पढ़ने में बहुत लगता था। विज्ञान की पुस्तकें पढ़ कर उसने स्वयं वैज्ञानिक प्रयोग करना आरम्भ कर दिये। उसके मन में सदा नये-नये प्रश्न उभरते रहते थे। एक दिन उसने अपने पिता से पूछा—"हवा क्यों चलती है ?,'

पिता का उत्तर था—"मुझे नहीं मालूम"।
टाम ने तुरन्त पूछा—"आप क्यों नहीं जानते ?"
पिता निरुत्तर रह गये।

अनगिनत विषयों में उसकी रुचि रहती थी। एक दिन वह माँ के साथ घर के मुर्गीखाने के सामने खड़ा था। उसने देखा कि मुर्गी अंडों पर बैठी थी।

"माँ, मुर्गी अंडों पर क्यों बैठी है ?,' टाम ने प्रश्न किया।
"उन्हें गरम रखने के लिये।" माँ का उत्तर था।
"वह अंडों को क्यों गरम रखती है ?" टाम ने फिर पूछा।
"अंडे गरम रहेंगे तो उसमें से बच्चे निकलेंगे।" माँ ने कहा।
"अच्छा ! अब समझ में आया।" टाम बोला।

सायंकाल आते ही 'एल' चम्पत हो गया। फिर तो उसको सभी तरफ ढूंढ़ा जाने लगा। बाद में वह अंडों पर बैठा पाया गया।

पिता ने पूछा—"एल, तुम क्या कर रहे हो।"
एल का उत्तर था—"मै अंडों पर बैठा हूँ जिससे उसमें से बच्चे निकलें।"

किन्तु बाद में उसे तब घोर निराशा हुई जब उसके अंडों पर बैठने पर भी अंडों से बच्चे न निकले। उसकी उत्कंठा इतनी तीव्र रहती थी कि एक दिन नदी में तैरते बजरे की निचली बनावट को देखने के लिए वह उसके

4ए, कपूर सदन, 8 रेजिडेंसी रोड, जोधपुर-342011 (राजस्थान)

नीचे तैरने का प्रयत्न करने लगा। सौभाग्यवश वह डूबने से बचा लिया गया। उसने पुस्तक में पढ़ा था कि गुब्बारों में गैस भरने से वे उड़ने लगते हैं। एल के मन में आया कि वह स्वयं क्यों न उड़े। अपने शरीर में गैस भरने के प्रयत्न में उसने बहुत-सा सोडा खा लिया। उसने सोचा कि इससे उसके पेट में गैस भर जायगी और वह उड़ने लगेगा। वह उड़ तो न पाया, परन्तु बहुत समय तक दर्द के कारण पेट पकड़े पड़ा रहा।

बचपन में टाम को 'स्कारलेट ज्वर' (Scarlet fever) का तीव्र आक्रमण होने के कारण उसकी सुनने की शक्ति कम हो गई थी, जो आगे चलकर और क्षीण होती गई और बाद में वह लगभग बहरा हो गया था।

बारह वर्ष की आयु में उसने काम करके पैसा कमाना आरम्भ कर दिया था। उसने रेलगाड़ी पर सामान बेचना शुरू किया, साथ में समाचारपत्र भी बेचने लगा। खाली समय में वैज्ञानिक पुस्तकें पढ़ता था। रेल के एक डिब्बे में उसने अपनी प्रयोगशाला भी बनाई। उसने स्वयं 'द वीकली हेरल्ड' (The Weekly Herald) नामक एक पत्रिका का प्रकाशन किया, जिसमें स्थानीय समाचार, रेल की घटनाएं, खोये या पड़े सामानों की सूचनाएँ आदि के समाचार रहते थे। पत्रिका का प्रकाशन भी वह रेल के एक माल-डिब्बे में करता था, जहाँ उसने छोटा सा छापा-खाना बना रखा था। पत्र का आकार छोटा था, परन्तु वह लगभग 400 प्रतियाँ बेच लेता था। जो छोटा-मोटा लाभ उसे मिलता था उससे वह पुस्तकें तथा प्रयोगों की सामग्री खरीदता। परन्तु विशेषता यह थी कि अपने प्रयोगों का लेखा-जोखा वह बड़ी सावधानी से रखता था। सारा काम वह इतनी सावधानी से करता था कि किसी को उसके प्रयोगों की भनक भी नहीं पड़ती थी।

एक दिन अजीब घटना घटी। रेलगाड़ी धक्के के साथ रुकी और फॉस्फोरस की एक बोतल धमाके से नीचे गिर गई और डब्बे में आग लग गई। रेल के कण्डक्टर की सहायता से गाड़ी की आग पर काबू पा लिया गया, परन्तु अगले स्टेशन पर गाड़ी रुकी तो कण्डक्टर ने एल को गाड़ी के बाहर उतार दिया और सारे सामान को छापेखाने सहित बाहर फेंक दिया। और इसी के साथ एल के रेलगाड़ी पर प्रयोगों और पत्रिका प्रकाशन का अन्त हो गया।

अपने रेल के कार्यकाल में एल ने एक बच्चे के प्राण बचाये थे। बच्चे का पिता तारघर का कर्मचारी था। अपनी कृतज्ञता प्रगट करने के लिये उसने एल को तार द्वारा संदेश भेजने की शिक्षा दी, जिसके बूते पर अगले पाँच वर्षों तक एल कनाडा तथा अमेरिका के विभिन्न नगरों में तार-यांत्रिक रहा। परन्तु उसने अपने वैज्ञानिक प्रयोगों को जारी रखा। आगे चलकर उसने न्यू जरसी के मेनलो पार्क नगर में अपनी उत्तम प्रयोगशाला बनाई जहाँ पर उसने महत्वपूर्ण आविष्कार किये। वह कार्य में इतना तन्मय हो जाता था कि सोने तक की उसको चिंता न रहती थी। एक तखत पर वह शयन करता था और खाने-पीने के प्रति लापरवाह रहता था। परन्तु किसी भी नये प्रयोग को वह सहस्रों बार दोहराता था, फिर कहीं उसे संतोष होता। इसी कठोर परिश्रम के कारण ही वह उच्चकोटि के आविष्कार कर सका। उसकी प्रयोगशाला में तरह-तरह के रासायनिक यौगिक, बैटरियाँ और तरह-तरह के अजीब से संयंत्र बिखरे रहते थे।

एक दिन जब एडिसन तेज वर्षा में एक दुकान से बाहर निकल रहा था तब उसे दो कन्याएँ दिखाई दीं जो द्वार पर वर्षा से बचने के लिये सिकुड़ी खड़ी थीं। उसने दोनों को दुकान के अन्दर बुला लिया। बड़ी बहन

एलिस स्कूल शिक्षिका थी और छोटी बहन सोलहवर्षीय मेरी थी। एडिसन, जो अब 24 वर्ष का हो चुका था, मेरी को मुग्ध होकर देखता रहा। शीघ्र ही दोनों में स्नेह के अंकुर फूट गए, परन्तु इस समय तक एडिसन लगभग बहरा हो चुका था। उसने मेरी से वार्तालाप करने के लिये उसे 'मोर्स कोड' की भाषा सिखाई। हथेली पर कोड के अनुरूप चोट कर वे वार्तालाप करते थे। अंततः उसने मेरी से पूछ ही लिया—"मैं तुम्हें कैसा लगता हूँ, तुम आराम से सोच कर बताना।" अगले दिन मेरी ने उत्तर दिया—"मैं तुम्हारे बारे में ही सोचती रहती हूँ। मुझे तुमसे अनुराग है।" 1871 के 'क्रिसमस दिवस' पर दोनों विवाह बंधन में बंध गए।

एडिसन ने टेलीफोन बनाने के प्रयोग आरम्भ किये। उन्हीं दिनों अमेरिका में ग्राहम बेल भी इसी कार्य पर जुटे थे। एडिसन के बनाए टेलीफोन में एक पतली इस्पात की नोकदार सुई थी। जब एडिसन बोलता तो इस्पात की नोक उसकी उंगली को कोंचती थी। यह सर्वविदित था कि ध्वनि छोटी हिलने वाली वस्तु में तरंग पैदा करती है, परन्तु इस विशेषता का उपयोग नहीं हुआ था। एडिसन ने विचार किया कि यदि ध्वनि सुई को हिला सकती है, तो यह भी संभव है कि सुई किसी परत पर हिलने के चिन्ह बनाये। यदि उन चिन्हों पर दूसरी सुई चले तो उससे मूल ध्वनि निकलनी चाहिये। उसे पूर्ण विश्वास था कि इस प्रक्रम द्वारा बोलने वाली मशीन बनाई जा सकती है। उसके साथियों को धातु की सतह पर सुई द्वारा चिन्ह बनने में संदेह हो रहा था, परन्तु एडिसन को रांगे की परत या मोम (Paraffin paper) पर अच्छी संभावना नजर आई।

आरंभिक प्रयोगों के बाद एडिसन ने अपने सहायक को बताया कि वह एक बेलन पर रांगे की पत्ती लपेटेगा और नली द्वारा बोलेगा। उस समय सहायक बेलन को घुमाये जिससे सुई अपनी नोक से सतह पर चिन्ह की रेखा बना सके। फिर प्रतिश्रवण (Play back) द्वारा ध्वनि सुनाई देगी। साथियों को सुझाव पर विश्वास न हुआ, परन्तु एडिसन अडिग रहा। 12 अगस्त 1877 को यह प्रयोग किया गया और लोगों ने प्रतिश्रवण करने पर एडिसन के शब्द सुने—"मेरी हैड ए लिटिल लैम्ब" (Mary had a little lamb)। कई बार दोहराने के पश्चात् एडिसन ने अमेरिका की वैज्ञानिक पत्रिका 'साइंटिफिक अमेरिकन' (Scientific American) के दफ्तर में जाकर स्वयं प्रयोग का प्रदर्शन किया। इस आविष्कार के बारे में एडिसन का लेख 17 नवम्बर 1887 की पत्रिका के अंक में छपा था जिसने विश्वभर में तहलका मचा दिया। आज एडिसन की मूल मशीन अपरिष्कृत लगती है, परन्तु वह रेकॉर्डिंग तथा प्लेबैक (Play back) दोनों कार्य करती थी, जैसा आजकल के टेप रेकॉर्डर करते हैं। अगले कुछ वर्षों में एडिसन ने ऐसे रेकॉर्ड तैयार किये जिन्हें कहीं भी बजाया जा सकता था। एडिसन का वाक्-यंत्र (Talking maschine) बहुत समय तक लंदन के संग्रहालय में रखी रही। अब वह अमेरिका में है। एडिसन ने दफ्तरों में उपयुक्त 'एडीफोन' (Ediphone) का आविष्कार किया जिसके द्वारा पत्रादि बांच दिये जाते थे, जिन्हें बाद में टांकित भी किया जा सकता था।

एडिसन ने आविष्कारों के एक सहस्त्र से अधिक पेटेंट लिये, जिनमें फोनोग्राफ, सिनेमेटोग्राफ, मेनाफोन, चुम्बक द्वारा अवस्कों का सान्द्रण आदि के अनेक उपकरण थे। परन्तु उनका प्रकाश लैंप का आविष्कार विशेष उल्लेखनीय है। एडिसन की तीव्र इच्छा थी कि विद्युत् द्वारा प्रकाश उत्पन्न किया जाय, जिससे सड़कों घरों में रोशनी की जा सके। उस समय तक बड़े नगरों में भी तेल या मोमबत्ती द्वारा रात्रि में प्रकाश किया जाता था। कहीं-कहीं गैस द्वारा प्रज्वलित प्रकाश दीप भी लगे रहते थे। विद्युत् से प्रकाश उत्पन्न करने में एडिसन को कठिन परिश्रम करना पड़ा और उनके लगभग पचास सहस्त्र डॉलर भी व्यय हो गये। वे ऐसे तन्तु की खोज में थे जो विद्युत् द्वारा तप्त हो

प्रकाश उत्पन्न करे, परन्तु स्वयं द्रवित न हो पाये। प्लेटिनम धातु इसके लिये सबसे उपयुक्त ज्ञात होता था, परन्तु इस प्रयोग में उन्हें सफलता न मिली। यह भी आवश्यक था कि वातावरण में ऑक्सीजन न हो क्योंकि वह उच्च ताप पर पदार्थ से क्रिया कर सकती थी। एडिसन ने काँच के लट्टू को वायु से शून्य रखा और कार्बन का उपयोग किया। अनेक प्रयोगों के पश्चात् उन्होंने रूई के धागे का फन्दा बनाकर उसे निकेल के सांचे में रखा। उपकरण को उच्च ताप की भट्टी में रखने पर वह विशुद्ध कार्बन में परिणित हो गया। उसे वायु रहित काँच के लट्टू में रखकर विद्युत्-प्रवाह करने पर वह 45 घंटे तक तप्त अवस्था में प्रकाश देता रहा। यह प्रयोग 21 अक्टूबर 1879 को किया गया था। एक वर्ष से अधिक काल के अथक परिश्रम के बाद एडिसन को सफलता मिली थी। उत्साहित होकर उनके मुख से यह शब्द निकले—"यदि 45 घन्टे प्रकाश मिल सका है तो शीघ्र ही 100 घंटें तक प्रकाश मिलेगा।"

अब एडिसन की समस्या यह थी कि कोई सस्ता, टिकाऊ कार्बन का स्रोत मिले जो लम्बे काल तक प्रकाश दे सके। बड़ी छान-बीन के पश्चात् जापानी बाँस का रेशा सबसे उपयुक्त निकला। बाद में उससे भी अच्छे पदार्थ निर्मित हुए। एडिसन ने अपनी ऐतिहासिक खोज का समाचार क्रिसमस के त्योहार से चार दिन पूर्व न्यूयार्क के समाचार पत्र "हेराल्ड ट्रिब्यून" में दिया। उसमें मोटे अक्षरों में छपा था 'एडिसन लाइट, इट मेक्स लाइट विदाउट गैस ऑर फ्लेमस' (Edison light, It makes light without gas or flames)। लोगों को सहसा विश्वास न हुआ। परन्तु एडिसन ने रेलवे स्टेशन से उसकी प्रयोगशाला के मार्ग पर लगे वृक्षों पर प्रकाश-लट्टुओं की लड़ी लगाई जो स्विच दबाते ही जल पड़े। लोगों के हर्ष तथा आश्चर्य की सीमा न रही।

अमेरिकन इंस्टीट्यूट ने 1904 में प्रकाश बल्ब के आविष्कार की 'रजत जयंती' मनाई और एडिसन को अमेरिका के उच्चतम तथा सर्वोच्च उपयोगी नागरिक की उपाधि से विभूषित किया। वर्ष गांठ पार्टी में आइसक्रीम भी प्रकाश लट्टुओं के आकार की बनाई गई थी।

उनकी 75वीं वर्ष गांठ पर जब एडिसन से पूछा गया कि उनके जीवन का तत्व ज्ञान क्या था, तो उन्होंने उत्तर दिया—"परिश्रम द्वारा प्रकृति के रहस्य प्रकट होते हैं। मैं उनका मानव के सुख के लिये उपयोग करना चाहता हूँ।" स्कूल या कॉलेज की शिक्षा न मिलने पर भी एडिसन अध्ययन के महत्व को भली प्रकार समझते थे। वह कहा करते थे कि शिक्षा खिलवाड़ नहीं है, इसमें कठोर परिश्रम करना पड़ता है, परन्तु उसे रोचक बनाया जा सकता है। बालक को बचपन से ही सोचने के लिये बढ़ावा देना चाहिये। यदि उसने सोचना न सीखा तो जीवन भर न सीख पायेगा।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक एडिसन कार्यरत रहे। रविवार 18 अक्टूबर 1931 के प्रातःकाल में उनकी मृत्यु हुई। उनकी अन्त्येष्टि के दिन रात्रि को दस बजे समस्त अमेरिका में लोगों ने अपने बिजली के लट्टुओं को दो मिनट के लिये बुझा दिये, और इस महान आविष्कारक के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट की।

■■

जीवों की रंग-बिरंगी दुनिया

योगेन्द्र बहादुर सिंह

जन्तुओं के रंग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दो प्रकार के द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं। एक है मेलैनिन जो रक्त से बनता है तो दूसरा है वसारंजी (लाइपोक्रोम) जो शरीर में संचित पदार्थों से बनता है। मेलैनिन वर्णक कई प्रकार के होते हैं लेकिन इनमें गाढ़े भूरे और काले अधिक प्रत्यक्ष हो पाते हैं। मेलैनिन त्वचा, बाल, पंख, शल्क (Scale) में एकत्र रहता है। वसारंजी पीले और लाल होते हैं। पोरिफाइरिन वर्णक लाल चमक पैदा करता है जबकि ट्यूराको-वर्डिन वर्णक पक्षियों में हरे रंग के लिए उत्तरदायी है। नर और मादा के रंजकों में अन्तर पाया जाता है। पक्षियों में यह अन्तर अधिक स्पष्ट होता है। नर का रंग मादा की अपेक्षा अधिक भड़कीला होता है। 'स्वर्ग के पक्षी' नामक चिड़िया के नर की अप्रतिम खूबसूरती में रंगों का ही हाथ है।

मनुष्य की तरह सभी जीव-जन्तु दुनिया की रंगीनियाँ नहीं देख सकते। स्तनपाइयों में केवल मनुष्य और बन्दर ही रंगों को पहिचान सकते हैं। भेड़ों व कुत्तों को सारी दुनिया धूसर दिखाई देती है। बिल्लियों की आँखें नीली, हरी, पीली और संतरी होती हैं। कुछ ऐसी भी बिल्लियाँ हैं जिनकी दोनों आँखों का रंग अलग-अलग होता है। बावजूद इसके बिल्लियों के पास रंग-बोधक क्षमता नहीं होती। प्रकृति ने आर्थोपोडा वर्ग के प्राणियों को रंग-बोध क्षमता सबसे पहले प्रदान किया। कीड़े विभिन्न रंगों को सफाई से पहचान लेते हैं। एक प्रयोग के मुताबिक तितलियाँ फूलों को उनके रंगों से भी पहिचानती हैं। कीड़े तो परावैंगनी किरणों को भी देख लेते हैं। झींगा और आक्टोपस वर्ग के प्राणी भी रंगों की पहचान कर लेते हैं। कशेरुकी, उभयचर, सरीसृप और पक्षीवर्ग के बहुत से प्राणियों में रंग-बोध क्षमता होती है। गाय, गधे, ऊँट आदि को अधिकांश चीजें खाकी ही दिखाई पड़ती हैं। ये सफेद रंग की पहिचान कर लेते हैं। जबकि गहरे हरे, नीले, लाल बैंगनी व काले रंग में जीव प्रायः नहीं पहिचान कर पाते। इस सम्बन्ध में इनकी आँखों की संवेदना भिन्न होती है। हाथी और घोड़े सभी रंग पहिचान लेते हैं। हमें रंगों की पहिचान रेटिना में मौजूद तीन शंक्वाकार 'कोनो' (लाल, हरा, नीला) के कारण होती है जो खास रंगों की तरंगों से उत्तेजित होकर तदनुसार मस्तिष्क को संदेश भेजते हैं।

जीव-जन्तु रंग कई कारणों से धारण करते हैं। कौन-शेल, सी आनिमोन (Sea anemone) आदि जीवों के रंग आनुवंशिक होते हैं। इनका न तो बाहरी वातावरण से कोई मतलब है और न ही सुरक्षा के लिए जिम्मेवार हैं ये रंग। कुछ जीवों के सुन्दर रंग और आकर्षक डिजाइन धोखे से शिकार फँसाने के लिए भी होते हैं तथा कुछ के उनकी सुरक्षा में सहायक होते हैं। छिपकलियों के रंग उन्हें सुरक्षा प्रदान करते हैं। कुछ रंग शत्रुओं को चेतावनी देते हैं कि अमुक रंग के प्राणी बेस्वाद हैं। दक्षिण अमेरिका में पाये जाने वाले कुछ मेंढक (एरोपायजन फ्रॉग) चटकीले लाल-नीले और पीले रंग के होते हैं, जिनकी त्वचा में घातक जहर होता है। ये रंग चेतावनी देने का काम करते हैं।

प्रवक्ता, के० एन० आई०, सुल्तानपुर-228118 (उत्तर प्रदेश)

साधारणतया खायी जाने वाली स्वादिष्ट जातियाँ अपनी रक्षा के लिए डंक मारने वाली जाति का या बेस्वाद जाति का अनुहरण (Mimicry) करती हैं।

जीवों के रंगों पर वातावरण का प्रभाव पड़ता है। उष्ण-कटिबंधीय बनों में पाये जाने वाले मृग (Axis Deer) का रंग वर्ष भर धब्बेदार बना रहता है, परन्तु साधारण वनों में रहने वाले मृगों का रंग गर्मी में धब्बेदार और शीतकाल में साधारणतः एक रंग का होता है। मोर का पंख सूर्य के प्रकाश के कारण हरा-नीला-ताम्र दिखाई पड़ता है। श्वेत-श्याम (Black-white) के दो रोचक पहलू ये हैं कि सफेद पक्षी प्रायः झुण्ड में ही उड़ते हैं तथा सफेद पक्षी अक्सर काले पक्षियों से बड़े होते हैं। कुछ जीवों के तो नाम ही रंगों पर आधारित हैं। नीले रंग से नाम मिला है—नीलकण्ठ को। गेहुवन साँप गेहुआँ रंग का होता है। अंग्रेजी में दीमक को व्हाइट ऐण्ट, लाल वक्ष वाली एक चिडिया को रेड ब्रीस्ट तथा एक प्रकार की तितली को रेड एडमिरल कहते हैं।

जन्तुओं के रंग-विज्ञान की सबसे रोचक सामग्री है—रंग परिवर्तन। रंग-परिवर्तन सुरक्षा के प्रति अधिक जिम्मेदार है। इसके अलावा मैथुनकाल में भी रंग-परिवर्तन की क्रिया होती है। स्टिकल बैक नामक पक्षी के नर का पेट प्रजनन काल में लाल हो जाता है। जब भी माथ-कैटरपिलर को छेड़ा जाता है, वह अपना लाल मुँह ऊपर उठा लेती है और उसकी पूँछ में दो लाल हण्टर निकल आते हैं। कुछ स्किवड, अष्टपाद और उष्णप्रदेशीय मछलियाँ रंग बदलने में बड़ी प्रवीण होती हैं। भारत की प्रसिद्ध तितली कैलीमा आँख झपकते ही रंग बदल लेती है। रंग बदलने वाली जीवों में वर्णक-कलियाँ त्वचा की बाहरी सतह के नीचे होती है। हर कली, झिल्ली की एक थैली होती है-जिसमें वर्णकों की नन्हीं-नन्हीं बूँदें होती हैं। इन थैलियों पर तंत्रिका तथा अनुसेबी मांसपेशियों का जाल फैला रहता है। मेढक की त्वचा में वर्णक कलियों का विकास इस प्रकार होता है कि उत्पन्न रंग के मेढक आसपास के वातावरण जैसा ही दिखाई दे ताकि शिकारी उसे देख न सके। रंग बदलने के लिए मशहूर गिरगिट की त्वाचा में उपस्थित रंजक कोशाणुओं को 'मेलनफोर्स' कहते हैं। इनके सिकुड़ने और फैलने से ही रंग-परिवर्तन होता है। मेलनफोर्स इंटरमेडिन, एसिटाइल कोलिन व ऐड्रोनीलिन हार्मोनों द्वारा स्नायुतंत्र से उत्तेजना प्राप्त करते हैं। ऐड्रोनीलिन से वे सिकुड़ते हैं तथा शेष दो हार्मोनों से वे फैलते हैं। साधारणतया उत्तेजना ताप के घटने और बढने से अथवा यौन-संवेदनाओं से होती है। इसी वर्ग की एक छिपकली (जो सऊदी अरब में पायी जाती है) उत्तेजित होने पर हरे रंग से गहरे नीले रंग में बदल जाती है।

रोशनी उत्सर्जित करने वाले कुछ कीट भी रंग-बिरंगी रोशनी पैदा करते हैं। 'फ्रिजाथरिक्स' कीट के सिर के दोनों तरफ स्थित एक जोड़ी प्रकाश केन्द्रों से लाल रोशनी निकलती है। इस कीट के शरीर में ग्यारह जोड़ी अन्य प्रकाश-केन्द्र भी होते जिनसे हरी रोशनी निकलती है। 'आटोमोवाइल बग' नामक कीट के सिर के दोनों ओर स्थित एक जोड़ी प्रकाश केन्द्रों से हरे रंग की रोशनी निकलती है। प्रकाश-उत्सर्जन की यह क्रिया 'बायोलुमिनीसेंस' के कारण होती है जो ऑक्सीजन के बिना संभव नहीं।

कुछ जीवों से रंग भी प्राप्त होता है। लाख के कीड़ों से लाल रंग प्राप्त किया जाता है। समुद्री घोंघे से 'टायरिब वायलेट' बनता है। मैक्सिको से प्राप्त 'पेरू' नामक एक कीड़े से 'कीर्मीनरेड' प्राप्त किया जाता है।

■ ■

सफल फसल-उत्पादन में फाँस्फेटिक उर्वरकों की भूमिका

प्रेमनाथ पान्डेय[1] एवं डॉ० एम० एम० वर्मा[2]

पादप पोषण में नाइट्रोजन के बाद फॉस्फोरस महत्वपूर्ण तत्व माना गया है। पौधों को, कुछ सीमा तक, प्राकृतिक स्रोतों जैसे वायुमण्डल, वर्षाजल, जैविक नाइट्रोजन स्थिरीकरण आदि से नाइट्रोजन का प्रदाय होता रहता है, लेकिन फॉस्फोरस प्राप्त करने का कोई पर्याप्त प्राकृतिक साधन नहीं है। फसलों के सघन खेती (Intensive cropping) से फॉस्फोरस मृदा में बहुत तेजी से कम हो रहा है। भूमि का बहुत-सा फॉस्फेट अविलेय रूप(Insoluble form) में होने के कारण पौधे नहीं ले पाते हैं। अतः पौधों को फॉस्फोरस देने के लिए फॉस्फेटिक उर्वरकों का इस्तेमाल बहुत आवश्यक हो गया है। मृदा में दिये जाथे वाला फॉस्फेटिक उर्वरकों का पूर्णतया उपयोग नहीं हो पाता है, क्योंकि इसका काफी भाग प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण मृदा में स्थिर हो जाता है। उत्तर प्रदेश की अधिकांश मृदाओं में कुल फॉस्फोरस 0.04%-0.08% है।

वे उर्वरक, जिनमें फॉस्फोरस प्रधान तत्व के रूप में पाये जाते हैं, उन्हें फॉस्फेटिक उर्वरक कहते हैं। जैसे सिंगल सुपरफॉस्फेट, डाइआमोनियम फॉस्फेट, यूरिया फ़ॉस्फेट, रॉक फॉस्फेट इत्यादि। फॉस्फोरस प्रदान करने वाले उर्वरकों का प्रयोग मुख्यतः फसल बुवाई के समान ही किया जाता है, लेकिन नये प्रायोगिक अनुसंधान के अनुसार इसका प्रयोग खड़ी फसल में छिड़काव द्वारा भी किया जा सकता है। फॉस्फेटिक उर्वरकों में फॉस्फोरस साइट्रिक अम्ल विलेय रूप (HPO_4) में होता है। अम्लीय मृदाओं में यह हाइड्रोजन आयन (H^+) से संयुक्त होकर जल विलेय मोनो-हाइड्रोजन फॉस्फेट ($H_2PO_4^-$) के रूप में परिवर्तन होकर पौधों को शीघ्रता से प्राप्य हो जाता है। फॉस्फोरस मृदा में पी-एच० 6.5 से 7.5 तक उपलब्ध अवस्था में बना रहता है। लेकिन इससे कम व अधिक पी-एच० होने पर पौधों को अनुपलब्ध (unavailable) हो जाता है अर्थात् इसका मृदा में स्थिरीकरण (fixation) हो जाता है। आलू, तम्बाकू, गन्ना, प्याज आदि फसलों तथा फल वृक्षों में फॉस्फेटिक उर्वरकों के प्रयोग से अच्छी पैदावार मिलती है।

पौधों में फॉस्फोरस की कमी के लक्षण

1. फॉस्फोरस की कमी से पौधों का रंग प्रायः गहरा हरा ही रहता है, पर निचली पत्तियाँ पीली होकर सूख जाती हैं। पौधों की बढ़वार रुक जाती है और उनकी पत्तियाँ छोटी रह जाती हैं।
2. फसल देर से पककर तैयार होती है।
3. इसकी कमी से दानों, फलों तथा बीजों की पैदावार में काफी कमी हो जाती है।
4. इनकी अधिक कमी होने पर पत्ती तथा तने का रंग बैंगनी अथवा लाल हो जाता है।
5. पौधों के तने छोटे एवं घुण्डीनुमा हो जाते हैं तथा कल्ले कम निकलते हैं।

---

1 शोध छात्र, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद-211002

2 रीडर, शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002, उ० प्र०

6. पौधों की जड़ें उथली एवं छितरी हो जाती हैं।

7. विलेय नाइट्रोजन व स्टार्च का पौधों में अधिक संचय हो जाता है। इस प्रकार प्रोटीन की मात्रा कम एवं शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है।

पौधों के वृद्धि व विकास में फॉस्फोरस की महत्ता

1. फॉस्फोरस फॉ टीन, फॉस्फोलीपाइडस, न्यूक्लीइक अम्ल, फॉस्फोप्रोटीन व हैक्सोज फॉस्फेट का अवयव है, अतः फॉस्फोरस इन यौगिकों का पौधों में निर्माण करता है।

2. ऊर्जा के स्थानान्तरण में फॉस्फोरस महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है तथा वसा एवं प्रोटीन उपापचय में सहायता करता है।

3. यह नाइट्रोजन के हानिकारक प्रभावों को कम या उदासीन करता है।

4. यह ऊतकों के श्वसन में सहायक है तथा ऑक्सीडेस एन्जाइम की क्रियाशीलता को प्रोत्साहित करता है।

5. पौधों में कीट एवं व्याधि प्रकोप के प्रति प्रतिरोधक बढ़ता है।

6. फसलों के शीघ्र पकने में सहायक होता है।

7. पौधों द्वारा पोटैशियम के अवशोषण में सहायक होता है।

8. फलीदार (Legume) पौधों द्वारा नाइट्रोजन स्थिरीकरण में योगदान देता है।

9. पौधों की जड़ों के विकास में सहायक है।

10. फल, फूल व बीजों के उत्पादन में वृद्धि करता है।

11. यह फसलों में दृढ़ता (Rigidness) प्रदान कर गिरने से बचाता है।

फॉस्फोरस के स्रोत

फॉस्फोरस के मुख्य स्रोत निम्नलिखित हैं—

1. फार्म की खाद,
2. पौधों की अवशेष एवं हरी खाद,
3. मृदा में पाये जाने वाले कार्बनिक एवं अकार्बनिक प्राकृतिक यौगिक,
4. जैव उर्वरक जैसे-फॉस्फोरस उपलब्ध कराने वाले जीवाणुओं एवं कवकों का प्रयोग और
5. रसायनिक उर्वरक।

सिंगल सुपर फॉस्फेट

यह फॉस्फोरस देनेवाली उर्वरकों में प्रमुख है तथा सबसे अधिक प्रयोग इसी का होता है। मोनो कैल्शियम फॉस्फेट ($Ca(H_2PO_4)_2H_2O$) इस खाद का प्रमुख अवयवी पदार्थ है जो जल से विलेय होने से पौधों को प्राप्त हो जाता है। इसका प्रयोग सभी प्रकार की मिट्टियों में किया जा सकता है, परन्तु उदासीन मिट्टियों में इसकी उपयोग क्षमता सर्वाधिक होती है, क्योंकि अम्लीय, चूनेदार और क्षारीय मृदाओं में इसका कुछ भाग यौगिकों के रूप में परिवर्तित होकर पौधों को प्राप्त नहीं हो पाता है।

सिंगल सुपर फॉस्फेट एक टू-इन-वन उर्वरक है क्योंकि इसके द्वारा फॉस्फेट के साथ 12% सल्फर भी उपलब्ध कराया जाता है, जबकि ट्रिपल सुपर फॉस्फेट में गंधक नहीं पाया जाता है। सुपर फॉस्फेट का गेहूँ, जौ, जई, चना, मटर, तिलहन, आलू, दालें, मूँगफली, सोयाबीन आदि पर अधिक प्रभाव होता है। अम्लीय मृदाओं में उपयोग करने पर सुपर फॉस्फेट में उपस्थित कैल्शियम लाभकारी होता है, क्योंकि अम्लीय मृदा में प्रायः कैल्शियम की कमी पायी जाती है। इसे जैविक खादों, कम्पोस्ट, गोबर की खाद तथा अन्य उर्वरकों के साथ मिश्रित रूप में प्रयोग किया जा सकता है। सुपर फॉस्फेट की 200-400 कि० ग्रा० प्रति हेक्टेयर अधिकांश फसलों में दी जाती है।

कुछ प्रमुख फॉस्फेटिक उर्वरक

सारणी-1 में कुछ प्रमुख फॉस्फेटिक उर्वरकों को दर्शाया गया है—

सारणी-1

उर्वरकों के नाम	कुल फॉस्फेट
सिंगल सुपरफॉस्फेट	16-18%
डबल सुपर फॉस्फेट	32%
ट्रिपल सुपर फॉस्फेट	46-48%
मोनो अमोनियम फॉस्फेट	48%
डाइ अमोनियम फॉस्फेट	46%
बेसिक स्लैग (थोमस फॉस्फेट)	2.5-7.5%
मसूरी रॉक फॉस्फेट	19.6%
हड्डी का चूरा (बोनमील)	20-25%
यूरिया अमोनियम फॉस्फेट	28%
पोटैशियम मेटाफॉस्फेट	60%

मसूरी रॉक फॉस्फेट

यह एक प्राकृतिक खनिज है जो सभी फॉस्फेटिक उर्वरकों के निर्माण में कच्चे पदार्थ के रूप में प्रयोग किया जाता है। मसूरी रॉक फॉस्फेट देहरादून एवं टेहरी-गढवाल क्षेत्र में काफी मात्रा में पाया जाता है। इसे इसी रूप में अम्लीय से उदासीन मृदा में फॉस्फेट के स्रोत के रूप में भी प्रयोग किया जाता है। हमारे (पाण्डेय एवं वर्मा 1992 के) अनुसंधानों के अनुसार मसूरी रॉक फॉस्फेट को पायराइट के साथ तिल की फसल में क्रमशः 120 एवं 30 कि० ग्रा० प्रति हेक्टेयर मात्रा डाली गयी तो उपज में 10 प्रतिशत की वृद्धि पायी गयी तथा साथ ही साथ तेल प्रतिशत भी बढ गया। चूँकि मसूरी रॉक फॉस्फेट में फॉस्फोरस डाइ कैल्शियम फॉस्फेट के रूप में पाया जाता है, जो पौधों को अनुपलब्ध होता है अतः इसका प्रयोग उदासीन से क्षारीय मृदा में किसी अम्ल उत्पादक पदार्थ जैसे पायराइट, कमपोस्ट, एफ० वाई० एम० (FYM) हरी खाद तथा फॉस्फोरस विलयीकरण वाले सूक्ष्मजीव जैसे जीवाणु कवक के साथ करना चाहिए। इन सभी पदार्थों से अम्ल उत्पन्न होता है जो मसूरी रॉक फॉस्फेट के ट्राई कैल्सियम फॉस्फेट को डाइ एवं मोनो हाइड्रोजन फॉस्फेट में बदलकर पौधों को उपलब्ध करता है। इनमें कैल्शियम पाया जाता है जिससे यह मृदा अम्लता को भी कम करता है। इसे प्रतिवर्ष देने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि यह मृदा से नष्ट नहीं होता है। इसका अवशिष्ट प्रभाव (Residual effect) अन्य फॉस्फेटिक उर्वरकों से सर्वाधिक होता है, जिससे यह पौधों को धीरे-धीरे उपलब्ध होता रहता है। समान्यतः गेहूँ, जौ, धान, चना, मसूर, मूंग, गन्ना, आलू, तिल आदि फसलों के

लिए एक प्रभावकारी उर्वरक सिद्ध हुआ है। इसका प्रयोग बुवाई या रोपाई के 1-2 सप्ताह पूर्व महीन चूर्ण बनाकर 10-15 सेमी० निचली सतह में करनी चाहिए।

हड्डियों का चूरा (बोनमील)

फॉस्फेटिक उर्वरकों के रूप में हडिडयों का प्रयोग प्राचीन काल से होता आ रहा है हमारे देश में विशाल पशु-संख्या है जिनकी मृत्यु से प्रतिवर्ष पर्याप्त मात्रा में हड्डी प्राप्त होती है, जिसे चूर्ण रूप में तैयार कर अम्लीय मृदाओं तथा दीर्घ अवधि वाले फसलों में प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके विपरीत क्षारीय तथा चूने युक्त मृदाओं में इसकी उपयोगिता बहुत कम है। सामान्यतः अनाज की फसलों में 100-200 कि० ग्रा० प्रति हेक्टेयर तक तथा फल-वृक्षों में 500-1000 ग्राम प्रति वृक्ष दिया जाता है।

बेसिक स्लैग

इसे सर्वप्रथम वैज्ञानिक थॉमस ने कृषि में उर्वरक के रूप में प्रयोग किया अतः इसे 'थॉमस फॉस्फेट' भी कहते हैं। यह लोहे तथा इस्पात के कारखानों से उपजात के रूप में प्राप्त होता है। इसे महीन पीसकर बुवाई या रोपाई से पूर्व खेत में समान रूप से देशी हल या कल्टीवेटर द्वारा मिला दिया जाता है। इसमें भी पर्याप्त मात्रा में चूना होता है जो अम्लता कम करने में सहायक होता है। यह विभिन्न फसलों में 400 कि० ग्रा० प्रति हेक्टेयर की मात्रा के हिसाब से प्रयोग की जाती है।

इसके अतिरिक्त कृषक भाई फॉस्फेट स्रोत के रूप में अन्य उर्वरकों जैसे-नाइट्रोफॉस्फेट, इफको द्वारा निर्मित एन० पी० के० मिश्रण यूरिया अमोनियम फॉस्फेट, डाइ अमोनियम फॉस्फेट या सिकेटेड डी० ए० पी० का प्रयोग कर सकते हैं।

फॉस्फेटिक उर्वरकों की उपयोग क्षमता

फॉस्फेटिक उर्वरकों के प्रयोग में सबसे बड़ी बाधा उनका स्थिरीकरण है, जिसे निम्नलिखित तकनीक अपनाकर आंशिक रूप से कम कर उपयोग क्षमता बढाई जा सकती है—

1. मृदा परीक्षण कराकर मृदा पी-एच० पता कर लेना चाहिए। अगर पी-एच० 6.5 से 7.5 तक हो तो सुपर फॉस्फेट का प्रयोग करना चाहिए अन्यथा पी-एच० विस्तार में अत्यधिक उतार-चढ़ाव से फॉस्फेट का स्थिरीकरण होने लगता है। अगर मृदा पी-एच० ज्यादा अम्लीय हो तो चूने के प्रयोग द्वारा तथा क्षारीय या लवणीय हो तो पायराइट एवं जिप्सम के द्वारा सुधार के उपरान्त फॉस्फेटिक उर्वरकों का प्रयोग किया जाना चाहिए।
2. सुपर फॉस्फेट की सम्पूर्ण मात्रा बुवाई के समय मृदा में उचित स्थान (10-15 सेमी० सतह के नीचे) संस्थापित करनी चाहिए।
3. मसूरी रॉक फॉस्फेट, बोन मील तथा बेसिक स्लैग का महीन चूर्ण तैयार कर थोड़ी अम्लीय पी-एच० वाली मृदा में बुवाई के 1-2 सप्ताह पूर्व प्रयोग करना चाहिए।
4. गेहूँ, धान, ज्वार, बाजरा, गोभी, दालों की फसलें, हरे चारे की फसलें, तिलहन आदि में इसको ड्रिल करना चाहिए।
5. दीर्घावधि की फसलों जैसे गन्ना आदि में इसका साइड ड्रेसिंग कर गुड़ाई कर देनी चाहिए।
6. सुपर फॉस्फेट का प्रयोग अत्यधिक अम्लीय या क्षारीय भूमि में नहीं करना चाहिए।
7. सुपर फॉस्फेट को क्षारीय मृदा में कार्बनिक खादों के साथ प्रयोग किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त बातों का ध्यान रखकर हम अच्छी पैदावार ले सकते हैं। ■■

प्रदेश के कृषि अनुसंधान को नई दिशा चाहिये

आर० बी० चौधरी

लखनऊ 8 मई, 1995

हमें आज नई खेती के लिए ज़मीन बचाऊ और उन्नत पशु पालन के लिए अन्न बचाऊ तकनीकों की परम आवश्यकता है। हमें आवश्यकता है ऐसे तकनीकों की जो कम खर्चीले, सुरक्षित और अधिक उत्पादन देने वाले हों। ऐसी जानकारियाँ समय-समय पर समुचित ढंग से किसानों तक पहुँचे, इस बात पर हमें काफी जोर देना है। यह उद्‌गार है उ० प्र० कृषि अनुसंधान परिषद् के नव नियुक्त महानिदेशक डाँ० डी० एम० मौर्य के।

'पशुपोषण अनुसंधान दर्शन' (त्रैमासिक) से हुई एक अन्तरंग भेंट वार्ता में डॉ० मौर्य ने यह बताया कि उ० प्र० में कृषि अनुसंधान को आगामी वर्षों में भारी चुनौतियों का सामना करना है। इस दिशा में उ० प्र० कृषि अनुसंधान परिषद् प्रदेश के कृषि विश्वविद्यालयों, तत्ससम्बन्धी संस्थानों, संस्थाओं और महाविद्यालयों में समुचित कार्यक्रम चलाये जाने के लिए किसानों और प्रदेश सरकार के बीच एक पुल जैसा कार्य करता है। इसलिए हमें कृषि अनुसंधान विकास और शिक्षा की रणनीतियों को काफी गम्भीरता से लेना है। 'जिस सपने को लेकर मैने यह कार्यभार ग्रहण किया है, उसकी सफलता के लिए मेरा प्रतिफल न्योछावर है।'

उन्होंने अपने वार्तालाप में यह बताया कि पर्यावरण सुरक्षित रखने वाली खेती की नवीन विधियों के साथ आधुनिक पशुपालन को जोड़ना आज नितान्त आवश्यक है जिससे सभी के लिए भरपेट स्वस्थ और पौष्टिक भोजन जुटाने में हम पूर्णतया समर्थ हों। उन्होंने उक्त वैज्ञानिक पत्रिका के साथ हुई बातचीत में यह भी बताया कि आज नई खोजों की रफ्तार तेज है। खोजें आती हैं और लोगों तक समय से न पहुँचकर थोड़े दिनों में बासी हो जाती हैं या छने-छनाये जब आधी-अधूरी किसानों के पास पहुँचती हैं तो किसान उसका भरपूर लाभ नहीं उठा पाते। हमें इस पहलु पर भी विशेष ध्यान देना है ताकि हमारे किसान नई खोजों से पूर्णतया लाभान्वित हों। विश्वविद्यालय की ओर इंगित करते हुए उन्होंने यह कहा कि आज स्नातक और स्नाकोत्तर स्तर पर बदलते हुए परिवेश और अभिरुचि के अनुसार पाठ्यक्रमों में नयापन लाना भी आवश्यक हो गया है जिससे निकलने वाले विद्यार्थी वर्तमान कृषि चुनौतियों का दृढ़ता से मुकाबला कर सकें।

उल्लेखनीय है कि परिषद् के महानिदेशक डॉ० डी० एम० मौर्य धान प्रजननकर्ता के रूप में जाने-पहचाने एक विशिष्ट वैज्ञानिक हैं जो कृषि बिश्वविद्यालय, फैजाबाद में डीन (एग्रीकल्चर) के पद पर अभी तक कार्यरत थे। डॉ० मौर्य ने अब तक, खास कर प्रदेश के किसानों के लिए, 14 नई धान की प्रजातियों की खोज की है। उनके द्वारा खोजी धान की प्रजातियों में बाढ़ प्रभावी क्षेत्रों के लिए जल-मग्न और मैदानी क्षेत्रों के लिए लरजू-52 प्रदेश ही नहीं बल्कि बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा और बंगाल के किसान के किसानों के लिए वरदान साबित हो चुकी हैं। महत्वपूर्ण

प्रधान संपादक, पशुपोषण अनुसंधान दर्शन, 4/227, विकास नगर, लखनऊ-226020 (उ० प्र०)

खोजों के लिए देश-विदेश के कई सम्मान/पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। प्रदेश सरकार उन्हें कुछ समय पूर्व धान अनुसंधान सलाहकार के रूप में भी सम्मानित कर चुकी है। सरल, संवेदनशील, मृदुभाषी एवं दुबले-पतले काया वाले डॉ० मौर्य एक बेहद उत्साही, वैज्ञानिकों के प्रतिनिधि ही नहीं बल्कि कुशल प्रशासक भी हैं। उनकी पैनी एवं तीक्ष्ण दृष्टि को देखकर ऐसा लगता है कि प्रदेश में कृषि-विकास को नया क्षितिज मिलेगा।

■■

शुष्क क्षेत्र से जलेगा दूसरी हरित क्रान्ति का दीपक

सुशील कुमार राय

'राष्ट्रीय कृषि आयोग' के अनुसार इस शताब्दी के अन्त तक देश की आबादी एक अरब की सीमा लाँघ जाएगी, जिसके भरण-पोषण के लिए प्रति वर्ष लगभग 24 टन खाद्यान्न की आवश्यकता होगी, जबकि हमारा वर्तमान खाद्यान्न-उत्पादन 13 करोड़ टन है। अतः अगले 5-6 वर्षों में खाद्यान्न में 6 करोड़ टन की बढ़ोत्तरी करनी होगी। पिछले तीन दशकों में हरित क्रान्ति ने फसलों की पैदावार तो जरूर बढ़ी, किन्तु यह सिंचित क्षेत्रों में ही गेहूँ क्रान्ति और धान क्रान्ति तक सिमटकर रह गयी। देश के कुल खेती योग्य भूमि, 136 मिलियन हेक्टेयर का 68 प्रतिशत अर्थात् 93 मिलियन हेक्टेयर शुष्क क्षेत्र इस क्रान्ति से अछूता रह गया।

ऐसे क्षेत्र जहाँ वार्षिक वर्षा से प्राप्त जल वहाँ के वाष्पोत्स्वेदन (इवैपोट्रान्सपिरेशन) से कम होता है, शुष्क क्षेत्र कहलाते हैं। इन क्षेत्रों में सबसे बड़ी समस्या है—बादलों का अवारापन। कहावत है कि "भारतीय कृषि मानसून का जुआ है। अतः हमें फसलों की सिंचाई के लिए हमेशा बादलों की ओर ताकना पड़ता है। वर्षा धोखा दे गयी तो फसलें क्रान्तिक अवस्थाओं पर प्यासी ही रह जाती हैं। कृषि योग्य भूमि तेज़ हवाओं के थपेड़ों का शिकार होकर मृदा कटाव से ऊबड़-खबड़ हो ही जाती हैं और मिट्टी की ऊपरी उपजाऊ परत बेहद पतली रह जाती है, जिसमें पोषक तत्वों को सँजोए रखना और फसल-उत्पादन असम्भव सा हो जाता है।

शुष्क क्षेत्र की ढेर सारी समस्याओं के बावजूद देश के कुल खाद्यान्न-उत्पादन का 45 प्रतिशत दलहन और 75 प्रतिशत तिलहन इन्हीं क्षेत्रों से पैदा किया जाता है। इन क्षेत्रों की उत्पादकता 4-7 कुन्टल प्रति हेक्टेयर होती है। इस प्रकार हमारे देश की कृषि अर्थव्यवस्था में शुष्क क्षेत्र का अद्भुत बड़ा योगदान है। साथ ही इसमें प्रति इकाई क्षेत्र उत्पादकता बढ़ाने की असीम सम्भावनाएँ भी हैं। शुष्क क्षेत्रों के लिए उन्नत वैज्ञानिक कृषि तकनीक निम्नलिखित है, जिसे कार्यान्वित कर उत्पादन के लक्ष्य को प्राप्त करके "पत्थर पर दूब जमाना" वाली कहावत चरितार्थ कर सकते हैं।

सस्य विज्ञान विभाग, श्री दुर्गाजी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, चण्डेश्वर, आजमगढ़, (उ० प्र०)
निवास : देवड़ा दमोदरपुर, गौरीनारायणपुर, आजमगढ़-276133 (उत्तर प्रदेश)

भूमि एवं जल-प्रबन्ध

शुष्क क्षेत्र के सन्दर्भ में "बिन पाली सब सून" वाली कहावत चरितार्थ है अर्थात् बिना पानी के मिट्टी तथा बिना मिट्टी के पानी बेकार है। भूमि एवं नमी संरक्षण तथा उसका समुचित प्रबन्ध शुष्क क्षेत्र कृषि का मूल आधार है। कम वर्षा वाले क्षेत्रों में वर्षा जल का संरक्षण खेत में ही और अत्यधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में वर्षा जल खेत से निकाल कर तालाब में एकत्र करना होता है, जिससे फ़सलों की जीवन-रक्षक सिंचाई की जा सके। भूमि संरक्षण में खेत का समतलीकरण मेड़बन्दी, गहरी जुताई, समोच्च कृषि, फलीदार फ़सलें व घास लगाना सहायक है।

उपयुक्त फसल एवं प्रजातियाँ

इन क्षेत्रों में अधिक पैदावार लेने के लिए गहरी जड़ें वाली, कम समय में पकने वाली, प्रकाश की अवधि से कम संवेदनशील तथा सूखे की स्थिति सहन करने की क्षमता वाली फ़सलों एवं उनकी बौनी प्रजातियों का चुनाव करना चाहिए। इसके लिए अरहर, मूंग, मूँगफली, तिल, ज्वार, बाजरा, कपास, चना, मसूर अलसी, जौ और सरसों उपयुक्त फ़सलें हैं।

प्रभावकारी फसल-चक्र

फ़सल-चक्र में ऐसी फ़सलों का समावेश होना चाहिए, जिन्हें जल की कम आवश्यकता होती है और जो भूमि की उर्वराशक्ति तथा जल संरक्षण की क्षमता को बढ़ाती है। अतः फ़सल-चक्र में दलहनी एवं तिलहन फसलों को अपनाना चाहिए।

बीज एवं बुवाई

फसलों की भरपूर उपज लेने के लिए आवश्यक है कि भूमि में उपलब्ध नमी के अनुरूप प्रति इकाई क्षेत्र में अधिकतम पौधों की संख्या हो। नमी की मात्रा कम होने की दशा में पौधों की संख्या भी अपेक्षाकृत कम होनी चाहिए। इन क्षेत्रों में पंक्ति से पंक्ति की दूरी अधिक और पौधे से पौधे की दूरी कम रखना वांछित होता है, ताकि भू-सतह की नमी का बेहतर उपयोग हो सके। सामान्यतया बुवाई वर्षा के तुरन्त बाद कर देनी चाहिए। बीज को पानी में भिगोकर छाया में सुखाने के बाद बुबाई करने पर अंकुरण अधिक होता है। बुवाई कतारों में उत्तर-दक्षिण की दिशा में और सामान्य से कुछ अधिक गहराई पर करनी चाहिए।

उर्वरक प्रबन्ध

शुष्क भूमि न केवल प्यासी बल्कि भूखी भी है। फसलों की अच्छी पैदावार लेने के लिए भू-सतह में उपलब्ध नमी की मात्रा के अनुरूप संतुलित खाद एवं उर्वरकों का प्रयोग करना चाहिए। इससे पौधों की जड़ों का पर्याप्त विकास होता है, जिससे पौधे अधिक गहराई से और परिधि में दूर तक की नमी का उपयोग करते हैं। इससे पौधों को पर्याप्त पोषण मिलता है, जिससे सूखा एवं विपरीत परिस्थितियों से लड़ने की क्षमता बढ़ती है। सामान्यतः सिंचित क्षेत्रों के लिए संस्तुत उर्वरकों की आधी मात्रा का प्रयोग इन क्षेत्रों में किया जाता है। इन क्षेत्रो में कार्बनिक खादों का विशेष महत्व है। इनको बुबाई के 15 दिन पूर्व खेत में अच्छी तरह मिला देना चाहिए। खरीफ की सभी

फसलों एवं रबी की दलहनी फसलों में उर्वरकों की पूरी मात्रा पंक्ति में से पाँच सेमी. नीचे प्रयोग करना चाहिए।

खरपतवार प्रबन्ध

खरपतवारों का प्रभावकारी प्रबन्ध इन क्षेत्रों में अत्यन्त महत्वपूर्ण साबित हुआ है। खरपतवार फसल को 30-50 प्रतिशत उर्वरकों और 20-40 प्रतिशत नमी की क्षति पहुँचाते हैं। अतः खरपतवार नियंत्रण उस समय अनिवार्य है, जबकि फसल और खरपतवारों के बीच प्रतियोगिता जारी हो। यह क्रान्ति अवस्था बुवाई के 15-30 दिन के बीच होती है। इसके लिए समय-समय पर निराई-गुड़ाई या खरपतवार रसायनों की संस्तुत मात्रा का प्रयोग करना चाहिए।

भूमि का वैकल्पिक उपयोग

शुष्क भूमि का सभी क्षेत्र कृषि योग्य नहीं होने के कारण कृषकों की घरेलू जरूरत, भूमि की क्षमता और पर्यावरण को ध्यान में रखकर कुछ वैकल्पिक प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें कृषि-वानिकी, वन-चरागाह और कृषि बागवानी प्रमुख हैं। इन प्रणालियों के उपयोग से निम्न एवं मध्यम कोटि की भूमि की उत्पादकता बढ़ायी जा सकती है। कृषि-वानिकी में झाड़ियाँ (जैसे सूबबूल इत्यादि) पंक्तियों में और उनके बीच में फसलें उगायी जाती हैं। इन झाड़ियों से भूमि की उर्वराशक्ति में वृद्धि, हरा चारा एवं ईंधन के लिए लकड़ी प्राप्त होती है। कृषि-बागवानी प्रणाली में पंक्तियों में फलदार वृक्ष (जैसे अमरूद, बेर, शरीफा और फालसा इत्यादि) तथा इनके बीच में फसलें उगाई जाती हैं। इससे प्रति इकाई क्षेत्र से अधिक आय प्राप्त होती है। कम वर्षा वाले क्षेत्रों में निम्नस्तरीय भूमि का उपयोग करने के लिये वन्य चरागाह प्रणाली सबसे उपयुक्त साबित हुई है।

अतः यदि पारिस्थितिकी सन्तुलन को बिगाड़े बिना और सीमित संसाधनों के बीच बढ़ती हुई आबादी का पेट भरने के लिए भोजन, पशुओं के लिए चन्यारे और वस्त्र की आवश्यकता के लक्ष्य को पूरा करना है तो शुष्क क्षेत्रों में "समन्वित कार्य योजना" के तहत बहुमूल्य संसाधनों भूमि और वर्षा जल की एक-एक बूंद को संरक्षित कर उसका न्यायोचित इस्तेमाल करके कृषि उत्पादन में बढ़ोत्तरी कर देश में दूसरी 'हरित क्रान्ति' लानी होगी।

■ ■

प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी का 78वां जन्मदिन मनाया गया

डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव

4 अप्रैल 1995 को स्थानीय सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज में 'पंचाल शोध संस्थान', कानपुर और सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज के प्राचीन इतिहास विभाग के संयुक्त तत्वावधान में देश के शीर्षस्थ पुरातत्ववेत्ता इतिहासकार एवं कला-समीक्षक स्वर्गीय प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी का 78वां जन्मदिन मनाया गया। इस अवसर पर 'प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' विषय पर एक संगोष्ठी का भी आयोजन किया गया जिसमें सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज के प्राध्यापकों के अतिरिक्त इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग, यूइंग क्रिश्चियन कॉलेज, इलाहाबाद संग्रहालय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, विज्ञान परिषद् तथा शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान से पधारे विभिन्न विद्वानों ने प्रो० बाजपेयी के विभिन्न मानवीय गुणों, आत्मीय व्यवहारों और प्राच्य विद्या तथा संस्कृति के क्षेत्र में किए गए उनके शोधकार्यों की चर्चा के माध्यम से उनकी पावन स्मृति को भावभरी श्रद्धांजलि समर्पित की।

माथुरी तथा गंधारी मूर्तियों से सुसज्जित कक्ष में डॉ० आनन्द कुमार श्रीवास्तव के द्वारा वैदिक मंगलाचरण तथा अतिथियों के द्वारा डॉ० बाजपेयी के चित्र पर माल्यार्पण के साथ संगोष्ठी का शुभारम्भ हुआ। संगोष्ठी के आयोजक पंचाल शोध संस्थान के सचिव डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव ने आयोजन के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा कि महान पुरुषों का स्मरण सदैव प्रेरणा देता है।

संगोष्ठी के मुख्य अतिथि नगर के वयोवृद्ध साहित्यकार, कवि, चिन्तक, चित्रकार एवं कला-समीक्षक डॉ० जगदीश गुप्त थे और अध्यक्ष थे शीलाधर मृदा विज्ञान शोध संस्थान के पूर्व निदेशक डॉ० शिवगोपाल मिश्र। संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए 'गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ' के प्राचार्य डॉ० गयाचरण त्रिपाठी ने अपनी सुमधुर बाणी में श्रीकृष्ण के व्याज से प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी की स्मृति का स्तवन किया। उन्होंने प्रो० बाजपेयी के गुरु-गंभीर गुणों का तथा स्नेहसिक्त सारल्य का विस्तार से वर्णन करते हुए कहा कि बाजपेयी जी का व्यक्तित्व बहुआयामी था, महनीय था। कम लोग जानते होंगे कि प्रो० बाजपेयी ब्रजभाषा के मस्त मौला रसज्ञ कवि थे। डॉ० त्रिपाठी के अनुसार, प्रो० बाजपेयी ने अपने शोधकार्यों के माध्य से पिछले पचास वर्षों तक देश में इतिहास के अध्ययन को प्रभा-किया। इस युग के मूल्यांकन में प्रो० बाजपेयी के अवदान के महत्व को नकार पाना किसी के लिए संभव न होगा, चाहे वह उनकी विचारधारा से सहमत रहा हो अथवा असहमत। देश के कोने-कोने में फैले उनके शिष्यों तथा अनुयाइयों की विशाल संख्या के आधार पर डॉ० त्रिपाठी ने प्रो० बाजपेयी को सही अर्थों में 'कुलपति' ठहराया।

मुख्य अतिथि डॉ० जगदीश गुप्त बाजपेयी जी के जिस गुण से विशेष रूप से प्रभावित हुए थे वह था उनका अपनी प्राचीन परम्परा और राष्ट्रीय भाषा हिन्दी से लगाव। वे हिन्दी में बोलने और लिखने के पक्षधर थे और इस

रीडर, प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद-211002

दृष्टि में प्रो० बाजपेयी की गणना राय कृष्ण दास, मोतीचन्द्र, वासुदेव शरण अग्रवाल तथा अमर चन्द नाहटा जैसी विभूतियों की कोटि में की जानी चाहिए। अध्ययक्ष डॉ० शिवगोपाल मिश्र ने अपने और बाजपेयी जी के विगत चालीस वर्षों के सम्पर्क का उल्लेख करते हुए बताया कि बाजपेयी जी जिससे भी मिलते उसे अपना आत्मीय बना लेते थे। फतेहपुर के पुरास्थलों के भ्रमण में वे बाजपेयी जी के साथ रहे। डॉ० मिश्र ने बतलाया कि 'मृगावती' और 'चन्दायन' ग्रंथों के सम्पादन में उन्हें प्रो० बाजपेयी से प्रेरणा और सहायता दोनों भरपूर मिले।

नगर के वरिष्ठ साहित्य समीक्षक श्री हरिमोहन मालवीय ने प्रो0 बाजपेयी के एक पत्र के हवाले से बताया कि स्व0 बाजपेयी जी का किसी भी योजना पर कार्य करने का ढंग अत्यन्त गंभीर रहता था। मालवीय जी ने बतलाया कि प्रो0 बाजपेयी ने आंचलिक इतिहास को उजागर करने के लिए कई प्रकाशन योजनाएँ बनाई तथा कई शोध संस्थानों की स्थापना करवाई थी। पंचाल शोध संस्थान की स्थापना भी इसी उद्देश्य के लिए की गई थी।

प्रो० बाजपेयी निरन्तर यात्राएँ किया करते थे। वे थकते नहीं थे और लोगों को अपने व्यक्तिगत संपर्क से आत्मीय बना लेते थे, यह विचार थे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के डॉ0 उदय शंकर दुबे के।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के डॉ० हरिनारायण दुबे ने प्रो० बाजपेयी को हम सब का मानस गुरु बताते हुए कहा कि उनका प्रभा मण्डल बड़ा प्रखर था, परन्तु उसमें चाँदनी जैसी शीतलता थी। यूइंग क्रिश्चियन कॉलेज के डॉ0 विमलचन्द्र शुक्ल ने कहा कि जनसामान्य और ग्रामवासियों से घुलमिलकर प्रो0 बाजपेयी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त कर लेते थे। सी० एम०पी० डिग्री कॉलेज के श्रीकृष्णचन्द्र श्रीवास्तव ने प्रो० बाजपेयी द्वारा एरण से राम गुप्त के सिक्कों की खोज का महत्व बतलाते हुए कहा कि इन सिक्कों से रामगुप्त की ऐतिहासिकता को प्रमाणित किया जा सका।

संगोष्ठी का संचालन करते हुए डॉ० ए०एल० श्रीवास्तव ने प्रो० बाजपेयी की कतिपय महत्वपूर्ण ऐतिहासिक खोजों को रेखांकित किया जिनमें कन्नोज के यशस्वी शासक हर्षवर्द्धन का स्वर्ण सिक्का और मध्यप्रदेश में छत्तीसगढ़ क्षेत्र के मल्हार नामक स्थान से शुंगकालीन चतुर्भुजी बिष्णु की प्राचीनतम प्रतिमा उल्लेखनीय है।

प्रो० बाजपेयी को अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करने वालों में विज्ञान परिषद् में 'विज्ञान' के सम्पादक श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव, इलाहाबाद संग्रहालय के श्री श्रीरंजन शुक्ल एवं श्री प्रभाकर पाण्डेय और सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज के डॉ० सत्येन्द्र नाथ, डॉ० ओ० पी० सिनहा, डॉ० मंजु भटनागर, डॉ० राकेश कुमार, डॉ० एस० पी० सिनहा, डॉ० अनुपम आनन्द, श्रीमती अर्चना श्रीवास्तव, डॉ० नीता सिनहा, डॉ० दीप्ति प्रभा, श्री बालकृष्ण मिश्र, श्री अमर सिंह, श्री सन्तोष कुमार सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं।

अन्त में सी० एम०पी० डिग्री कॉलेज में प्राचीन इतिहास विभाग के अध्यक्ष डॉ० राजछत्र मिश्र ने प्रो० बाजपेयी की धवल कीर्ति का स्मरण करते हुए सभी अभ्यागत अतिथियों, सहयोगियों, सहकर्मियों तथा छात्रों को धन्यवाद दिया।

■ ■

थार रेगिस्तान का जैवभूगोल

डॉ० सतीश कुमार शर्मा

संसार के अधिकांश गर्म रेगिस्तान मकर रेखा एवं कर्क रेखा के आस-पास स्थित हैं। संसार का सबसे बड़ा गर्म रेगिस्तान सहारा रेगिस्तान है जो सऊदी अरब, सीरिया, जोर्डन, इराक, ईरान, अफगानिस्तान तथा पाकिस्तान तक फैला हुआ है। भारत का थार रेगिस्तान सहारा रेगिस्तान का ध्रुव पूर्वी सीमान्त बनाता है। भारतीय रेगिस्तान राजस्थान, गुजरात, पंजाब तथा हरियाणा के पश्चिमी भागों में फैला हुआ है। थार रेगिस्तान का 68.8 प्रतिशत भाग राजस्थान में, 21.7 प्रतिशत भाग गुजरात में, 5.0% भाग पंजाब में तथा 4.8% भाग हरियाणा में फैला हुआ है।

थार रेगिस्तान कहने को गर्म रेगिस्तान जरूर है लेकिन सहारा रेगिस्तान जैसा निर्जीव नहीं है। भारतीय रेगिस्तान वानस्पतिक एवं प्राणी विविधता में अपना सानी नहीं रखता। यहाँ मानवीय एवं पशु आबादी भी बहुत ज्यादा हैं। प्रस्तुत लेख में थार रेगिस्तान के जैव भूगोल का राजस्थान के विशेष संदर्भ में संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

राजस्थान में वनस्पतियों का आव्रजन दो दिशाओं से हुआ है—पश्चिमी तथा पूर्व से। पश्चिम दिशा से आव्रजन होने वाली वनस्पतियां थार रेगिस्तान में फैल गई तथा पूर्व की तरह से आव्रजित होने वाली वनस्पतियाँ अरावली पर्वतमाला के पूर्व में फैली। दोनों तरफ के आव्रजित तत्वों के फैलाव की सीमा अरावली पर्वतमाला ने बनाई। मोटेतौर पर अरावली पर्वतमाला पश्चिमी दिशा के आव्रजकों की पूर्वी सीमा एवं पूर्व दिशा के आव्रजकों की पश्चिमी सीमा बनाती है। दोनों तरफ के आव्रजकों के मिलन क्षेत्र को ड्रयूड रेखा (Drude's line) के नाम से जाना जाता है। पश्चिम से प्रवेशित होने वाली वनस्पतियों का मुख्य फैलाव ड्रयूड रेखा के पश्चिम में माना गया है। दोनों दिशाओं से ड्रयूड रेखा के आर-पार भी सीमित आव्रजन हुआ है।

थार के रेगिस्तान में स्थापित होने वाली वनस्पतियों का प्रवेश विभिन्न भू-भागों से हुआ। वर्तमान में राजस्थान में 87 कुलों की 682 जातियाँ ज्ञात हैं। नीचे दी गई तालिका से आव्रजकों के उद्‌भव स्थल का ज्ञान होता है।

राजस्थान एवं वर्तमान में पाकिस्तान स्थित सिंध प्रान्त में फैले थार रेगिस्तान में 9.4% वनस्पतियाँ इन्डेमिक हैं। बहुत अच्छे किस्म के प्राकृतिक अवरोध न होने के कारण अपेक्षाकृत अपर्याप्त पृथक्करण (Isolation) मिलने के कारण एन्डेमिक जातियों की संख्या कम रही है।

क्षेत्रीय वन अधिकारी, अरावली वृक्षारोपण परियोजना, झाडोल (फ०), जिला उदयपुर, पिन 313 702

सारणी—1. राजस्थान के रेगिस्तान में आव्रजित वनस्पतियों के उद्‌भव स्थल

क्रमांक	उद्‌भव क्षेत्र		आव्रजित जातियों का प्रतिशत
1.	कोस्मोपोलीटन (विश्वजनीन)		10·3
2.	ट्रॉपिकल		14.0
3.	अफ्रीकन :		37.0
	1. मेडीटेरो-ट्रापिकल	14.2	
	2. अफ्रो-राजस्थानी	18.0	
	3. अफ्रो-ओरियण्टल	39.7	
	4. अफ्रो-मलायन	4.6	
	5. अफ्रो-आस्ट्रेलियन	12.5	
	6. सहारो-राजस्थानी	8.1	
	7. सहारो-ओरियण्टल	2.5	
4.	इरानियन :		5.5
	1. इरानो-राजस्थानी	65.7	
	2. इरानो-ओरियण्टल	34.3	
5,	सिन्डो-राजस्थानी (थारीयन)		9.4
6.	ओरियण्टल		20.6
	1. ओरियण्टल	77.0	
	2. इण्डो-मलायन	13.7	
	3. इण्डो-चायनीज	27	
7.	आस्ट्रेलियन		9.7

(फ्लोरा आफ इण्डियन डेजर्ट—भण्डारी—से साभार)

प्राणियों की विविधा में थार रेगिस्तान आश्चर्यजनक है। अनेकानेक तरह के पक्षी, सरीसृप, स्तनधारी एवं कीट-पतंगे, मकड़ियों आदि से थार रेगिस्तान जीवन्त है। तरह-तरह के सैण्ड ग्राऊज, मांसाहरी रेप्टर वर्ग में पक्षी, डेमोजल क्रेन, रेगिस्तानी कर्सर, सिंध क्रेट सांप, सेण्डफिश, टोड हेड एगमा, वेरेनस ग्रेजियस, जर्डन स्नेक आई, तरह-तरह के कुदन्तक आदि यहाँ के विशिष्ट प्राणी वर्ग के सदस्य हैं। इम्पीरियल सैण्ड ग्राऊज तथा डेमोजल क्रेन यहाँ प्रतिवर्ष देशान्तर गमन कर आते हैं तथा वापस अपने मूल आवासों में लौटते रहते हैं।

थार रेगिस्तान में भी प्राणियों का मुख्य आगमन पश्चिम से हुआ है। यहाँ उच्च ताप, तेज हवायें, लू व आंधी, कम आद्रता एवं वर्षा, दैनिक भारी तापांतर, शुष्क भोजन की उपलब्धता, रेतीला आवास आदि विशेष परि-स्थितियां विद्यमान होने के कारण स्थापित होने वाले प्राणियों में अनेक तरह के अनुकूलन पाये जाते हैं जिससे ये प्राणी यहां जीने में सफल हुए हैं। थार के प्राणी समूहों का पश्चिम दिशा से आव्रजन रेखांकित करने के लिये उदा-हरणार्थ स्तनधारियों के उद्गम स्थल को सारणी-2 में दर्शाया गया है।

सारणी-2 : थार रेगिस्तान में मिलने वाले स्तनधारियों का उद्गम स्थल

क्रमांक	उद्गम क्षेत्र	आव्रजित किस्मों की संख्या जाति स्तर पर	उपजाति स्तर पर
1.	पैलियोट्रापिकल	26	1
2.	अफ्रीकन		
	1. सहारो-राजस्थानी	1	3
	2. सहारो-ओरियण्टल	2	2
3.	इरानियन		
	1. इरानो-राजस्थानी	2	7
	2. इरानो-ओरियण्टल	1	4
4.	सिन्डो-राजस्थानी (थारियन)	3	24
.6	ओरियण्टल		
	1. ओरियण्टल	30	20
	2. डक्कनो-राजस्थानी	—	1

(ईकोलोजी एण्ड जूजियोग्राफी। गुप्ता व प्रकाश—से साभार)

वितरण में पुरातात्विक अध्ययन (पेलियो-जू-जियोग्राफी) से यह भी सुस्पष्ठ हो चुका है कि राजस्थान में भारतीय गैण्डा (राइनोसिरोस यूनीकोर्निस) 3500-400 वर्ष ईसा पूर्व तक विद्यमान था। 1965 में गंगानगर जिले में कालीबंगा स्थल पर खुदाई के दौरान मिली अस्थियों के चार टुकड़े अध्ययन के उपरान्त गैण्डे के पाये गये। गैण्डा मोहन जोवड़ो तक फैला था लेकिन उत्तरी भारत में निरन्तर शुष्कन से आवासीय उपयुक्तता में निरन्तर गिरावट आती रही तथा गैण्डा क्रमशः पूर्व की तरह सिमटने लगा। आज गैण्डा पूर्वी भारत में ही बचा है।

आव्रजन के जो कारक प्राचीन समय में सक्रिय थे, वे अब भी सक्रिय हैं, लेकिन अब आव्रजन का सब से नवीन मानव निर्मित रास्ता भी खुला है-वह है इन्दिरा गाँधी नहर। इस रास्ते से उत्तर भारत के हिमालय क्षेत्र तथा गंगा के मैदान की अनेक वनस्पति एवं प्राणी जातियाँ पानी के रास्ते आव्रजित हो कर थार क्षेत्र में पहुँच रही हैं एवं पहुँचती रहेंगी। आने वाले वर्षों में हम इन नये आव्रजकों को भी उतनी ही स्पष्टता से देख सकेंगे जितनी स्पष्टता से पश्चिम से आये जैविक तत्वों को देख रहे हैं। साथ ही यह भी निश्चित है कि सिंचाई सुविधाओं के विस्तार से मूल आवासीय परिवर्तन एवं आवास विनाश से कई स्थापित प्राणियों एवं वनस्पतियों को अपना अस्तित्व खोना पड़ेगा। थार के जैव भूगोल का तब सब से नवीनतम अध्याय लिखा जायेगा।

■ ■

विज्ञान वक्तव्य

प्रिय सुहृद !

पिछले दिनों भारतीय विज्ञान को काफी चोट आई। मन उदास है, खिन्न है, दुखी है। समझ में नहीं आ रहा है कि आप से कुछ कहूँ भी या नहीं। किन्तु बिना कुछ कहे रहा भी नहीं जा रहा है।

अचानक खबर फैल गई कि देव मूर्तियाँ दूध पी रही हैं। भारत जैसे धर्मभीरु देश में इस तरह की खबर अस्वभाविक नहीं कही जा सकती। लगभग सारा उत्तर भारत प्रभावित रहा। फिर अपना शहर तीर्थराज प्रयाग भी इससे अछूता क्यों रहता ?

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उन्हीं दिनों बी० एस-सी० की प्रयोगात्मक परीक्षायें चल रही थीं। हम लोग प्रात: 7 बजे से उसी में व्यस्त थे, पर उड़ते-उड़ते खबर पहुँच ही गई कि दिल्ली से किसी मन्दिर की भगवान गणेश की मूर्ति दूध पीती जा रही है। फिर तो दिल्ली क्या, उत्तर भारत के अनेक नगरों की देवमूर्तियाँ दूध पीने लगीं। देखते-देखते सारे मन्दिरों के सामने भीड़ जुटने लगी और देवमूर्तियों को दूध पिलाने की होड़ सी लग गई।

- "शिवलिंग से एक हाथ निकला और मेरे हाथ से दूध की कटोरी लेकर भगवान शिव सारा दूध पी गये।"
- "मैंने भगवान गणेश को चम्मच से दूध पिलाया।"
- "हनुमान जी ने दूसरों का दूध तो छुआ तक नहीं, पर मेरे हाथ से गटागट पी गये।"

ऐसी ही अनेक बातें सुनने में आयीं।

एक चौंकाने वाली खबर। इलाहाबाद में सिविल लाइन्स के हनुमान मन्दिर के पुजारी जी ने लोगों को हनुमान जी की मूर्ति को दूध पिलाने से मना कर दिया, तो उन्हें "पैरालिसिस" हो गई और अस्पताल में भर्ती हैं। और तो और लन्दन में भी हिन्दू मन्दिरों की देव मूर्तियां दूध पी रही थीं।

इस घटना से मेरे सामने अनेक प्रश्न उछल कर आ गये, जिनका उत्तर आप प्रबुद्ध पाठकों को देना है।

1. क्या इससे पूर्व, आपने देवी-देवताओं की मूर्तियों को चम्मच से दूध पिलाने की बात सुनी थी ?
2. क्या सारे देवी-देवताओं की प्रतिमाओं को दूध पिलाने की प्रथा है ?
3. सरकार और स्वयंसेवी संस्थाओं का कितना धन और मानव श्रम विज्ञान के प्रचार-प्रसार में खर्च हो रहा है, उन लोगों तक विज्ञान की रोशनी ले जाने में जो अशिक्षित हैं, निर्धन हैं, झुग्गी-झोपड़ियों और मलिन बस्तियों अथवा आदिवासी क्षेत्रों में रहते हैं, किन्तु मन्दिरों के सामने पढ़े-लिखे, धनवान लोगों की भीड़ देख कर विचार करना पड़ेगा कि वास्तव में विज्ञान की रोशनी की आवश्यकता किसे है ?

किन्तु आपके विचार मुझ तक पहुँचने में थोड़ा समय लगेगा, और उनके 'विज्ञान' पत्रिका में प्रकाशित होने में कुछ और भी समय लग जायेगा। इस बीच में अपनी बात क्यों न कह दूँ जो मात्र निवेदन है—

- संचार माध्यम कृपा कर अफवाहों को न फैलायें।
- सरकारी तौर पर सी एस आई आर के वैज्ञानिकों द्वारा दूरदर्शन के माध्यम से उपर्युक्त खबर के खण्डन की कोई आवश्यकता नहीं थी। अफवाह के फैलने में वैज्ञानिकों के खण्डन ने 'आग में घी' का काम किया है।
- वैज्ञानिक चेतना की दृष्टि से हममें कितना पिछड़ापन है, यह साफ दिख जाने के बाद हमें जनमानस में विज्ञान के प्रचार-प्रसार के प्रयत्नों को न केवल बल देना होगा वरन् इसे सही दिशा भी देनी होगी।

आइये मिल बैठकर सोचें, शायद ज्ञान की कोई नई खिड़की खुल जाये।

इस आशा और विश्वास के साथ कि इस सम्बन्ध में आप के पत्र हमें अवश्य मिलेंगे।

नया वर्ष 1996 शुभ हो, मंगलमय हो और खुशियों के साथ-साथ लाये विज्ञान की नई रोशनी।

आपका

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

विज्ञान परिषद् प्रयाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय
विज्ञान लेख प्रतियोगिता 1995

व्हिटेकर पुरस्कार

दो सर्वश्रेष्ठ लेखों को पाँच-पाँच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

शर्तें

(1) लेख विज्ञान के इतिहास से सम्बन्धित या किसी वैज्ञानिक की जीवनी पर होना चाहिए।
(2) केवल प्रकाशित लेखों पर ही विचार किया जायेगा।
(3) लेख किसी भी हिन्दी पत्रिका में छपा हो सकता है।
(4) प्रकाशन की अवधि वर्ष के जनवरी और दिसम्बर माह के बीच कभी भी हो सकती है।
(5) इस वर्ष पुरस्कार के लिए लेख जनवरी 1995 से दिसम्बर 1995 माह के बीच प्रकाशित हो।
(6) लेखक को लेख के साथ में इस आशय का आश्वासन देना होगा कि लेख मौलिक है।
(7) विज्ञान परिषद् से सम्बन्धित अधिकारी इस प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते।
(8) वर्ष 1995 के पुरस्कार के लिए लेख भेजने की अंतिम तिथि 15 मार्च 1996 है।
(9) पुरस्कार के लिए पक्ष प्रचार करने वाले प्रतिभागियों को इस प्रतियोगिता के लिए उपयुक्त नहीं समझा जायेगा।

लेख निम्न पते पर भेजें—

संपादक 'विज्ञान', विज्ञान परिषद्, महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002

उत्तरप्रदेश, बम्बई, मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्र प्रदेश के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, कालेजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

निवेदन

लेखकों एवं पाठकों से

1. रचनायें टंकित रूप में अथवा सुलेख रूप में केवल कागज के एक ओर लिखी हुई भेजी जावें।
2. रचनायें मौलिक तथा अप्रकाशित हों, वे सामयिक हों, साथ ही साथ सूचनाप्रद व रुचिकर हों।
3. अस्वीकृत रचनाओं को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं है। यदि आप अपनी रचना वापस चाहते हैं तो पता लिखा समुचित डाक टिकट लगा लिफाफा अवश्य भेजें।
4. रचना के साथ भेजे गये चित्र यदि किसी चित्रकार द्वारा बनवाकर भेजे जावें तो हमें सुविधा होगी।
5. नवलेखन को प्रोत्साहन देने के लिये नये लेखकों की रचनाओं पर विशेष ध्यान दिया जायेगा। उपयोगी चित्रमालाओं को छापने पर भी विचार किया जा सकता है।
6. हमें चिंतनपरक विचारोत्तेजक लेखों की तलाश है। कृपया छोटे निम्न-स्तरीय लेख हमें न भेजें।
7. पत्रिका को अधिकाधिक रुचिकर एवं उपयोगी बनाने के लिए पाठकों के सुझावों का स्वागत है।

प्रकाशकों से

पत्रिका में वैज्ञानिक पुस्तकों की समीक्षा हेतु पुस्तक अथवा पत्रिका की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए। समीक्षा अधिकारी विद्वानों से कराई जायेगी।

विज्ञापनदाताओं से

पत्रिका में विज्ञापन छापने की व्यवस्था है। विज्ञापन की दरें निम्नवत् हैं।

भीतरी पूरा पृष्ठ 200.00 रु०, आधा पृष्ठ 100.00 रु० चौथाई पृष्ठ 50.00

आवरण : द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ 500.00 रु०।

मूल्य

आजीवन : 200 रु० व्यक्तिगत : 500 रु० संस्थागत

त्रिवार्षिक : 60 रु० : वार्षिक 25 रु०

प्रति अंक : 3 रु० 50 पैसे, बड़ा अंक : 6 रु०

प्रेषक : विज्ञान परिषद्

महर्षि दयानन्द मार्ग, इलाहाबाद-211002